योग की विधि और सिद्धि

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
आबू पर्वत (राज.)

योग की विधि और सिद्धि

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व विद्यालय
पाण्डव भवन, माउंट आबू (राज.)

प्रकाशक :

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्व-विद्यालय
पाण्डव भवन, माऊंट आबू

स्वयं परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा जो ज्ञान दिया और दे रहे हैं, मुख्यत: उसी के आधार पर यह पुस्तक लिखी गयी है।

मुद्रक : ओमशान्ति प्रेस, ज्ञानामृत भवन, शान्तिवन, आबू रोड़ (राज.)

विषय-सूची

स्थायी एवं सम्पूर्ण सुख-शान्ति की प्राप्ति का एक मात्र उपाय – राजयोग

हरेक मनुष्य अपने जीवन में स्थायी सुख और शान्ति चाहता है। मनुष्य के सारे पुरुषार्थ, सारे यत्न इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिये ही मालूम होते हैं। परन्तु इस ध्येय की प्राप्ति का साधन क्या है?

क्या मनुष्य संसार के विषयों एवं पदार्थों को प्राप्त कर लेने से सम्पूर्ण सुख एवं शान्ति की प्राप्ति कर सकता है? ऐसा तो है नहीं, क्योंकि हम देखते हैं कि सुख पदार्थों में नहीं है, वह तो मन की एकाग्रता द्वारा स्वरूप-स्थिति में है। क्या हम नहीं देखते कि यदि किसी मनुष्य के सामने समस्त रसों से युक्त पदार्थ रखे हों परन्तु यदि उसका मन किसी कारण से अशान्त हो जाय तो उस समय वे पदार्थ भी उसे नहीं भाते। पुनश्च, पदार्थों को भोगते-भोगते तो मनुष्य स्वयं भी भोगा जाता है और अन्त में भोगने के साधन रूप इन्द्रियाँ भी शिथिल हो जाती हैं, तन निर्बल हो जाता है, ऐन्द्रिय शक्तियाँ क्षीण हो जाती हैं और मनुष्य शारीरिक जर्जरा भी मोल ले लेता है। फिर, एक मनुष्य को एक पदार्थ प्रिय है, तो दूसरे को वह सुहाता ही नहीं; इस से भी विदित होता है कि सुख विषयों में नहीं समाया है, वह तो मनुष्य के अपने ही मन पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त हम यह देखते हैं कि संसार के पदार्थ तो परिवर्तनशील हैं, उनमें अवस्थान्तर होता रहता है। तो जो स्वयं ही क्षण-भंगुर हो, हर क्षण में बदलता रहता हो, उससे हमें भी तो स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं हो पायेगी। अन्यश्च, विषयों को प्राप्त करने तथा उनका संग्रह करने में, उन्हें सेवन-योग्य बनाने और फिर उन्हें भोगने में ही मनुष्य का जीवन खप जाता है और इस पर भी यदि पूर्व कर्मों के परिणामस्वरूप वह विषय मनुष्य से छिन जाये तो मनुष्य के लिये वह विषय एक और दु:सह दु:ख का कारण बन जाता है।

उपरोक्त विश्लेषण से हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम पदार्थों का संग्रह एवं भोग छोड़ दें। जब तक आत्मा शरीर में है तब तक शरीर के लिए भोजन, वस्त्र, स्थान इत्यादि तो मनुष्य को चाहिये ही होते हैं। यदि ये प्राप्त न हों तो भी मनुष्य को हिलाने वाला एक प्रबल कारण मन के सामने उपस्थित हो जाता है। फिर, अकर्मण्यता भी तो

एक दोष है; आलस्य तो एक विकार ही है। अतः हमारे कथन का अभिप्राय तो केवल यह हे कि मनुष्य को इन्द्रियों के विषयों की उपलब्धि को ही सर्वांगीण, सम्पूर्ण एवं स्थायी सुख नहीं मानना चाहिये और कि सुख केवल धन एवं पदार्थों की प्राप्ति ही का नाम नहीं है बल्कि उसके लिये तो स्वास्थ्य भी आवश्यक है, मन की शान्ति भी ज़रूरी है और मित्र-सम्बन्धियों, पड़ौसियों इत्यादि से उसे सुख मिले, उसके स्नेह-युक्त एवं सहयोग-युक्त सम्बन्ध हों — यह भी ज़रूरी है।

कर्मों को श्रेष्ठ, विकर्मों को दग्ध तथा संस्कारों को शुद्ध करने का उपाय : योग

विचार करने पर हम इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि चारों प्रकार के सुख तो हमारे कर्मों पर ही निर्भर हैं। संसार के सभी लोग मानते हैं कि जैसा कर्म वैसा ही मनुष्य को फल मिलता है। कर्म-सिद्धान्त तो नास्तिकों को भी मानना चाहिये क्योंकि क्रिया और प्रतिक्रिया के वैज्ञानिक सिद्धान्त को तो वे भी मानते हैं और 'कर्म और फल' उसी नियम का आध्यात्मिक पक्ष ही तो है। कर्म अविनाशी है; मनुष्य को अपना किया अवश्य भुगतना पड़ता है — यह अटल नियम है। साधु हो या महात्मा — कर्म-फल किसी को भी नहीं छोड़ता। मनुष्य को चर्म-चक्षुओं से दिखाई दे या न दे, परन्तु हरेक के साथ न्याय होता है; हाँ, देर हो सकती है परन्तु नियमानुकूल चलने वाले इस जगत् में अन्धेर नहीं है। दुःख देने वाला व्यक्ति तत्काल भी दुःख पाता है और यदि तत्क्षण वह बच जाय तो अन्त में दुःखी होकर मरता है और यदि इस जीवन में नहीं तो अगले जीवन में दुःख पाता जरूर है। उदाहरण के तौर पर क्या हम नहीं देखते कि जब कोई मनुष्य क्रोध करता है तो तत्क्षण भी उसका मन एक दाह अनुभव करता है, उसका संस्कार बिगड़ जाने के बाद में भी वह बार-बार उसके वशीभूत होकर मानसिक तनाव और क्षोभ से पीड़ा भोगता है, सम्बन्धों के बिगड़ जाने का दुष्परिणाम भी उसके सामने आता है, पश्चाताप की अग्नि में भी वह जलता रहता है और स्थिति के अधिकाधिक बिगड़ते जाने से उलझनों एवं कुटिलता के भंवर में भी वह फँसता है, क्रोध के परिणामस्वरूप शरीर में विभिन्न ग्रंथियों से विषैले तत्व के रक्त में समावेश का नतीजा भी वह भोगता है और दूसरे को दुःखी करने के दण्ड रूप में वह बाद में भी दुःख पाता है। ऐसी ही हालत अन्य विकारों (काम, लोभ, मोह, अहंकार, आलस्य, भय) इत्यादि से युक्त कर्म अर्थात् विकर्म करने से होती है। अतः विकार एवं विकर्म तथा संस्कार एवं संचित कर्म ही दुःखों का मूल है और इनका मूल उगता तथा पलता है मनुष्य के मन में।

मन को निर्मल एवं निर्विकार करने तथा विकारों को निर्बीज बनाने के उपाय का नाम ही योग है। योग ही एक ऐसी सूक्ष्मतम अग्नि है जिस से मनुष्य के विकर्म दग्ध होते हैं। यदि उनको दग्ध न किया जाय तो दुःखों के बीज तो रह ही जायेंगे। पुनश्च, योग ही संस्कारों के परिवर्तन का भी एकमात्र तरीका है, क्योंकि एक तो पुरानी आदतों को छोड़ने के लिये योग रूप साधन से ही सर्वशक्तिमान् परमात्मा से आध्यात्मिक शक्ति मिलती है और मनोबल मिलता है और दूसरे, परमात्मा द्वारा शान्ति एवं आनन्द का ऐसा फव्वारा-सा मनुष्य के मन पर पड़ता है कि जो उसका सारा मैल धो डालता है, शीतल कर देता है अथवा चाँद की चाँदनी की तरह उसमें रस भर देता है।

हम कह चुके हैं कि 'आनन्द' नाम वाला गुण जड़ पदार्थों में तो है नहीं। इसके अतिरिक्त, मनुष्य तो सुख, शान्ति तथा आनन्द के लिये स्वयं ही पुरुषार्थ कर रहे हैं। उनका तो क्षण-क्षण में मनोभाव भी बदलता रहता है तथा मानसिक अवस्था भी बदलती रहती है। अतः जो स्वयं ही स्थिर नहीं है तथा पूर्ण शान्त भी नहीं है, उससे हम स्थायी एवं सम्पूर्ण आनन्द की कामना कैसे कर सकते हैं? विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमात्मा, जिसको 'आनन्द का सागर' एवं सर्व सुखों का दाता माना गया है, उस एक से नाता जोड़ने से तथा उसका संग लेने से ही मनुष्य को सम्पूर्ण आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उस एक परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने का नाम 'योग' है। परन्तु यह सम्बन्ध उसके परिचय के बिना नहीं जुट सकता और उसका सच्चा परिचय भी वह स्वयं देता है। वर्तमान समय में, जबकि मनुष्य विकारों की ज्वाला में जल रहा है, विकर्मों के कुचक्र में फंसा हुआ है, तमोगुणी संस्कारों के भंवर में पड़ा है और दुःख तथा अशान्ति से कराह रहा है, तब कल्याणकारी परमपिता शिव ने अपना जो परिचय दिया है तथा योग की जो सहज विधि सिखाई है, उसी सहज राजयोग का ही इस पुस्तक में उल्लेख है। आशा है कि इस को पढ़ने से जन-मन को आनन्द की प्राप्ति होगी।

- सम्पादक

मन की शान्ति एवं समाज के कल्याण का सर्वश्रेष्ठ उपाय – योग

आज समाज के सामने अनेकानेक समस्यायें हैं परन्तु देखा जाय तो उनमें से प्राय: सभी समस्याओं का मूल कारण मानव के मन में तनाव (Mental Tension) अथवा उसके व्यवहार में भावावेश (Emotional Disturbance) ही है। समय-समय पर होने वाले युद्ध, जिन पर करोड़ों डालर खर्च होते हैं और जिनसे अनगिनत नर-बलि होती है तथा अशान्ति की, पीड़ितों, विधवाओं एवं शरणार्थियों की तथा वस्तु-अभाव की अनेक विकट समस्याएं पैदा होती हैं, पर ही विचार कीजिये। निष्कर्ष यह निकलेगा कि सहिष्णुता की कमी और लेन-देन में उग्रता एवं उत्तेजना का समावेश अर्थात् पारस्परिक सम्पर्क में मानसिक तनाव का अस्तित्व ही इसका मूल कारण होता है; तभी तो कहा गया है कि लड़ाई मानव के मन में पैदा होती है (Wars are born in the mind of man)। इसी प्रकार, मिल-मालिकों और मज़दूरों में, पुलिस और विद्यार्थियों में, प्रशासन और जनता में भी जब तनाव की स्थिति पैदा होती है तभी तोड़-फोड़, हड़तालें, अग्नि-काण्ड, पथराव आदि-आदि की नौबत आती है।

समाज के विभिन्न अंगों में अथवा एक देश और दूसरे देश के बीच ही नहीं बल्कि घर के घेरे में भी जब तनाव पैदा होता है तभी तलाक, आत्म-हत्या, अनेक प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग और बेचैनी तथा अनिद्रा (Sleeplessness) की-सी स्थिति पैदा होती है।

कहाँ तक गिनायें — कत्ल, मुकद्मे, दुर्घटनाएं, बहुत-से अपराध मानसिक तनाव ही के कारण होते हैं। तनाव से न केवल ये सब समस्याएं पैदा होती हैं बल्कि इससे एक विशेष हानि यह भी है कि तनाव की स्थिति में मनुष्य अपना मानसिक सन्तुलन, भावात्मक शान्ति और एकरस स्थिति खोये हुए होने के कारण अपनी समस्याओं को यथा-तथ्य समझ ही नहीं पाता और उनके निवारण के लिये किसी सही निष्कर्ष पर भी नहीं पहुँच पाता, बल्कि उत्तेजित होकर और उलझनों में पड़कर, मनोबल को खोकर स्थिति को अधिक पेचीदा बना बैठता है और नित्य नई समस्याओं को जन्म देता है।

मानव-मन को शान्ति एवं सन्तुलन देना ही सबसे बड़ी सेवा

इस प्रकार विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि आज समाज की सबसे बड़ी सेवा मानव-मन को सन्तुलन देना, उसे अपने भावात्मक पक्ष (Emotion) पर नियन्त्रण स्वभाव (Instincts) के बल पर कर्म करते हैं और दानव भावावेश में परन्तु मानव एक मननशील प्राणी है, उसमें दूरदर्शिता एवं धैर्य आदि गुणों का तथा बुद्धि का प्राबल्य हो सकता है। अत: मानव को विधि-विधान के अनुकूल एवं अनुशासन-प्रिय बनाना, चिन्तनशील बनाना तथा दूसरों का सहयोगी बनने का भाव उसमें उत्पन्न करना ही सच्ची समाज-सेवा है, वर्ना तो समाज एक समाज (Society) न रहकर एक जमघट (Mob) ही बन जायेगा। मानव मन को शान्त, शुद्ध एवं सन्तुलित बनाने की सेवा एक उच्च कार्य है। इसके फलस्वरूप एक ऐसे समाज का निर्माण होता है जिसमें पारस्परिक व्यवहारों में मूल स्थान प्रेम, शान्ति, धैर्य, सन्तोष, दया और त्याग का होता है। इससे स्वत: ही बहुत-सी समस्यायें निर्मूल हो जाती हैं – वह सभी समस्यायें जिन्हें आज के समाज-सेवक आर्थिक, राजनीतिक अथवा सामाजिक उपायों से हल करने का असफल प्रयास कर रहे हैं।

मन में तनाव क्यों पैदा होता है ?

अब ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्राय: तनाव वहाँ पैदा होता है जहाँ मनुष्य के सम्बन्धों में विषमता आ जाती है। मनुष्य के सम्बन्ध केवल कौटुम्बिक या पारिवारिक (Family Relation) ही नहीं होते, अर्थात् उसके सम्बन्ध केवल पिता-पुत्र, भाई-बहन या मामा-भांजा के तौर पर ही नहीं होते बल्कि अन्य अनेक तरह से भी होते हैं। चूँकि मनुष्य को जीवन-निर्वाहार्थ कोई धन्धा करना ही पड़ता है, इसलिए उसके व्यावसायिक सम्बन्ध (Professional Relations) भी होते हैं। मनुष्य या तो किसी दफ्तर में जाया करता है या कोई दुकान चलाता है या भागीदारी (Partnership) करता है। दफ्तर में अधिकारी (Boss) के साथ या सहकारियों के साथ उसके क्या सम्बन्ध हैं या उसका साझीदार कैसे व्यवहार एवं स्वभाव का है, उस पर उसकी मानसिक स्थिति निर्भर करती है। कई लोग अपने अधिकारी के अन्यायपूर्ण अथवा कठोर व्यवहार से तंग आकर 'आत्म-हत्या' तक कर डालते हैं, कई अन्य अपने साझीदार के अटपटे व्यवहार से सदा चिढ़े रहते हैं और परिणामस्वरूप घर में आने पर वे अपने बाल-बच्चों तथा पत्नी के साथ भी उदासीनता या तनावपूर्ण आचरण करते हैं। मज़दूरों

और मिल-मालिकों में सम्बन्ध (Industrial Relations) में भी जब तनाव आ जाता है तो एक ओर कारखानादारों को हृदय-पीड़ा (Heart Attack), अनिद्रा आदि रोग हो जाते हैं और दूसरी ओर मज़दूरों का स्वभाव उग्र बना रहता है।

इसी प्रकार, चूँकि मनुष्य अपने लेन-देन में धन का प्रयोग करता है, इसलिये अनेक व्यक्तियों के साथ उसके आर्थिक सम्बन्ध (Economic Relations) भी होते हैं। दुकानदारों के आपस में उधार पर लेन-देन होते रहते हैं और कई बार जब दूसरा व्यक्ति उधार चुकाता नहीं है तो तनाव पैदा होता है। बच्चा बड़ा होने पर पिता को आर्थिक मदद नहीं देता तो पिता जी उससे रुष्ट हुए रहते हैं। अत: आर्थिक सम्बन्ध संसार में बहुत ही महत्वपूर्ण सम्बन्ध हैं, यहाँ तक कि अर्थशास्त्र तो कहते हैं कि आर्थिक सम्बन्धों का ठीक न होना ही संसार की सभी समस्याओं का मूल है।

ऐसे ही, एक भोक्ता होने के कारण मनुष्य के उपभोक्ता-उत्पादक सम्बन्ध (Consumer-Producer Relations) भी होते हैं। मकान-मालिक और किरायेदार के सम्बन्ध, मिल-मालिक और ग्राहक के सम्बन्ध या ज़मींदार और किसान के सम्बन्ध, या डेरी-मालिक अथवा दूध-विक्रेता एवं खरीदार के सम्बन्ध इसी प्रकार के सम्बन्ध हैं। दूध में पानी की मिलावट हो तो उपभोक्ता (क्रय-कर्ता) और विक्रेता में झगड़ा हो जाता है।

मनुष्य घर बनाकर रहने वाला तथा देश-विदेश में आने-जाने वाला जीव है, इसलिए उसके पड़ोसियों से अथवा विदेशियों से सम्बन्ध (Neighbour Relations and Foreign Relations) भी अपने प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। इनमें यदि प्रेम या शान्ति न हो तो भी उसके मन में तनाव बना रहता है।

मानव अन्य जीव-प्राणियों की तुलना में एक धर्मजीवी, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक प्राणी है। इसलिए दूसरों के साथ उसके धार्मिक सम्बन्ध (Religious Relations), सांस्कृतिक सम्बन्ध(Cultural Relations) एवं राजनैतिक सम्बन्ध (Political Relations) भी होते हैं और भाषा, जाति आदि की ओर भी उसका लगाव होता है, इसलिये दूसरों के साथ उसके जातीय (Racial Relations) एवं भाषाई सम्बन्ध (Linguistic Relations) भी कैसे हैं, उन पर भी उसका व्यवहार एवं उसकी मानसिक स्थिति निर्भर करती है।

विशेष बात यह है कि कर्मेन्द्रियों के द्वारा जगत् के विषयों के सम्पर्क में आने वाला होने के कारण उसके पुरुष-प्रकृति सम्बन्ध कैसे हैं, यह बात भी उसकी मानसिक

स्थिति पर काफ़ी प्रभाव डालने वाली होती है। क्या वह विषयों में आसक्त है या अनासक्त, उसका मन गुलाम है या भोक्ता होते हुए भी विरक्त, इससे उसकी मनोस्थिति में काफी अन्तर पड़ता है।

परन्तु इन सभी सम्बन्धों का उल्लेख करने के पीछे भाव यह है कि इस प्रकार के किसी-न-किसी सम्बन्ध में विषमता, अनियमितता अथवा अनुपयुक्तता आने के कारण ही उसके मन में तनाव पैदा होता है – ये सम्बन्ध एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच भी हो सकते हैं, एक जाति (Community) और दूसरी जाति के बीच में भी और एक तथा दूसरे देश के बीच में भी।

सम्बन्धों को बनाये रखने के नियम

यदि मनुष्य अपने जीवन में चार बातों को विशेष रूप से अपनाये तो उसके सम्बन्धों में सरसता भरी रह सकती है। ये चार धारणायें निम्नलिखित हैं - (१) गुण-चिन्तन, (२) धैर्य, (३) मैत्रीभाव और (४) सन्तोष।

दोष दर्शन नहीं बल्कि गुण-दर्शन

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से बिगाड़ प्राय: तभी पैदा होता है जब उसकी दृष्टि दूसरों के अवगुणों पर जाती है। उसमें दोष-दर्शन करके वह उत्तेजित हो उठता है और घृणा से अभिभूत हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप, उसके मन की प्रसन्नता नष्ट हो जाती है और भावनायें उद्विग्न हो जाती हैं। क्षुब्ध मन्सा वाले ऐसे मनुष्य की बोलचाल कटु, तीक्ष्ण एवं वैर-पूर्ण और व्यवहार स्नेह-रिक्त होता है। अत: सम्बन्धों को दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि हम एक-दूसरे के गुणों को देखें और परस्पर गुणों ही का वर्णन करें।

इस विषय में मनुष्य को यह समझना चाहिए कि वर्तमान समय सभी की तमोप्रधान अवस्था तो है ही, अत: दोष तो सभी में भरे पड़े हैं – किसी में एक दोष है तो अन्य किसी में दूसरा। निर्दोष देवता तो कोई है ही नहीं। अत: जबकि हम यह जानते ही हैं कि आज का हरेक मानव अवगुणों का पुतला है तो बार-बार उनके अवगुणों का चिन्तन एवं बखान का क्या प्रयोजन? सिद्धान्त यह है कि मनुष्य जैसा चिन्तन करता है वैसा ही वह स्वयं बन जाता है; तो क्या हमें भी पर-दोषों का चिन्तन करके स्वयं भी तद्रूप बनना है? क्या स्वयं हम में पहले से ही अवगुण कम हैं? दो दिन का जीवन है, क्या इसमें भी स्नेह देने और लेने के बजाय हम घृणा ही का लेन-देन करते हुए प्राण छोड़ना चाहते हैं?

दूसरों के अवगुणों रूप अग्नि से अपने मन को जलाना तो अपनी ही बुद्धिहीनता है। महानता तो इसमें है कि हम दूसरे से भी प्रेम-पूर्ण व्यवहार द्वारा उनके अवगुणों को निकालें!

दूसरी ओर हमें यह समझना चाहिए कि संसार में ऐसा तो कोई एक भी मनुष्य नहीं है जिसमें कोई भी गुण न हो। अत: हमें हरेक व्यक्ति के गुणों की ओर ही दृष्टि डालनी चाहिए क्योंकि गुण-दर्शन से ही मनुष्य के मन में गुण-युक्त संस्कार बनते हैं और प्रसन्नता का उद्रेक होता है तथा जीवन में उल्लास भी बना रहता है।

धैर्य

इसके अतिरिक्त आप देखेंगे कि बहुत बार धैर्य खो बैठने से भी मनुष्य अपने सम्बन्ध बिगाड़ बैठता है। धैर्य के अभाव में वह ऊट-पटाँग बोल देता है और गलत-सलत कदम ले लेता है कि बाद में पछताने पर भी सुधार होना मुश्किल हो जाता है। यदि मनुष्य धैर्य को बनाये रखे तो वह कभी भी भावावेश में दूसरे की मान-हानि या तन-हानि करने पर उतारू नहीं होगा। अत: धैर्य एक बहुत ही उच्च मानवीय गुण है जो मानसिक सन्तुलन के लिए अनमोल औषधि है।

मैत्री-भाव

मनुष्य दूसरों का गुण-चिन्तन तभी करता है और उनके प्रति धैर्य-पूर्ण व्यवहार से तभी बरतता है जब उनके प्रति उसका मैत्री-भाव बना रहता है। अत: मूल बात तो यह है कि मनुष्य को चाहिए कि दूसरों को अपना भाई मानकर, सभी को एक परमपिता परमात्मा की सन्तान मानकर, उनसे प्रेम एवं सद्भावना से व्यवहार करे। किसी मनुष्य का यदि कोई भाई बीमार हो, यहाँ तक कि पागल भी हो, तो भी वह उसकी ऊट-पटाँग बातों को बर्दाश्त करता है, उसके अवगुणों को देखते हुए भी उसकी चिकित्सा, सेवा तथा सहायता करता है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य अन्य मनुष्यों को भ्रातृवत समझे तो निश्चय ही वह उनसे मैत्री-भाव से व्यवहार करेगा, उनके प्रति सहिष्णुता एवं गुणदृष्टि को भी अपनायेगा।

सन्तोष

प्रकृति के जो पदार्थ हैं, उनके प्रति मनुष्य का यह दृष्टिकोण होना चाहिए कि वह उनके उपार्जन के लिए कोशिश तो पूरी करे परन्तु जो-कुछ भी प्राप्त हो, उससे सन्तुष्ट

रहे तथा उसे अपने कर्मों का फल मानकर उन्हीं से गुज़ारा चलाये। तृष्णा सदा मनुष्य के मन में विषमता लाती है, अतः तृष्णा नहीं होनी चाहिए। न्यायोचित, आवश्यकतानुसार एवं सामर्थ्यानुसार पुरुषार्थ ही होना चाहिए। अशान्ति दूर करने के लिए सन्तोष ही सबसे अधिक उपयोगी औषधि है।

एकज भूल

ऊपर, हमने मनुष्य के सम्बन्धों में विषमता का जो उल्लेख किया है, वास्तव में उसका मूल कारण सबसे पहले परमात्मा से मानव-मन का सम्बन्ध-विच्छेद है। जब से आत्मा का सम्बन्ध उस परमपिता परमात्मा से टूटा है, तब से ही मनुष्य के अन्य मानवी सम्बन्धों में प्रेम, मैत्री आदि का अभाव हुआ है। अतः मनुष्य में मैत्री-भाव अथवा भ्रातृत्व-भाव तथा उससे पैदा होने वाले सद्‌गुण - धैर्य, सन्तोष, गुण-चिन्तन आदि स्वतःही आ जायेंगे यदि वह प्रभु का गुण-चिन्तन करे, उससे नाता फिर से जोड़े।

योग ही समाज-कल्याण का एक मात्र उपाय

अतः योग ही मानसिक तनाव को दूर कर मानव-मन को शान्ति प्रदान करने का, समाज की समस्याओं को दूर करने का पारस्परिक सम्बन्धों में स्नेह, सहयोग, त्याग और सहिष्णुता लाने का एक मात्र तरीका है जिसे सभी को अपनाना चाहिए क्योंकि 'योग' का अर्थ ही है – मानव का प्रभु से सम्बन्ध जोड़ना तथा मानव का मानव से सहयोग।

ज्ञान और योग ही स्थायी सुख-शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के साधन

संसार में हरेक मनुष्य दुःख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न कर रहा है। परन्तु हम देखते हैं कि भरसक यत्न करने के बाद भी मनुष्य को स्थायी एवं सर्व सुखों की प्राप्ति नहीं होती। परमपिता परमात्मा शिव ने सभी प्रकार के दुःखों के मूल रूप से चार कारण बताये हैं। वे चार कारण ये हैं — अज्ञान, अपवित्र संस्कार, पुरुषार्थ में विघ्न और पूर्व जन्मों में किए हुए ऐसे विकर्म जिनका फल हमने अभी नहीं भोगा है। इन चारों का जब तक हम अन्त न करें तब तक हमारे दुःखों का भी अन्त नहीं हो सकता।

संस्कारों को तथा कर्म-बीज को मानना जरूरी

वास्तव में देखा जाय तो प्रायः सभी आध्यात्मवादी लोग दुःख के इन चार कारणों को मानते हैं। हाँ, मुसलमान तथा ईसाई इत्यादि धर्म-सम्प्रदाय जो पुनर्जन्म को नहीं मानते, वे पूर्व काल के विकर्म-संचय को तथा उन द्वारा बने संस्कारों को नहीं मानते। परन्तु इन्हें माने बिना, मनुष्य के जीवन में जन्मकाल से ही जो दुःख होते हैं, उनका अन्य कोई कारण नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार, इस जन्म में रहे हुए विकर्मों का अगले जन्म में फल भोगना पड़ेगा — ऐसा माने बिना भी बात नहीं बनती क्योंकि ऐसा न मानने से तो संसार में अनाचार ही फैलेगा और मनुष्य का पतन भी होगा। अतः संस्कारों तथा कर्म-संचय, अर्थात् पूर्व-जन्म के कर्मों को मानना भी आवश्यक है।

अज्ञान तथा मिथ्या ज्ञान

अब हमें पहले यह देखना है कि 'अज्ञान' से हमारा क्या अभिप्राय है ? यों तो आज संसार में ज्ञान-विज्ञान का बहुत विकास हुआ है और आज मनुष्य पहले की अपेक्षा अधिक शिक्षित तथा बुद्धिवादी हैं। परन्तु फिर भी दुःख तो संसार में बढ़ा ही है। अतः कौनसा ज्ञान मनुष्य में नहीं है जिसके परिणामस्वरूप वह विभिन्न प्रकार के दुःखों का शिकार बना हुआ है ?

1. हम देखते हैं कि मनुष्य में चार प्रकार का अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान है। एक तो यह कि वह स्वयं को 'देह' मानता है। हम वास्तव में तो चेतन आत्मायें हैं परन्तु हम कार्य-व्यवहार करते समय स्वयं को देह मानकर चलते हैं। इस देह-अभिमान से ही अनेक प्रकार के विकर्म होते हैं और क्लेश उत्पन्न होते हैं। गीता के भगवान् ने अथवा परमपिता परमात्मा शिव ने इसे अज्ञान का तथा सब पापों का मूल माना है परन्तु पतंजलि ने अज्ञान के रूपान्तर गिनाते समय इसे चौथा स्थान दिया है – यद्यपि इसी से सभी मनोविकार और उनसे दु:ख उत्पन्न होते हैं।

2. अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान का दूसरा रूप है – विनाशी को अविनाशी मानना। मनुष्य यह बात भूल जाता है कि यह देह विनाशी है, इसे एक दिन मिट्टी में मिल जाना है और ऐसा होने पर सभी धन-पदार्थ, मित्र-सम्बन्धी मुझसे छूट अथवा बिछुड़ जायेंगे। इस संसार की कोई भी वस्तु शाश्वत अथवा अविनाशी नहीं है। यहाँ का सभी-कुछ परिणामी और परिवर्तनशील है। सब-कुछ कालाधीन है। केवल आत्मा और परमात्मा ही नित्य हैं, अत: उनमें ही मन को स्थिर करने से शाश्वत सुख की प्राप्ति हो सकती है। हाँ, ब्रह्मलोक नित्य है और स्वर्ग अथवा वैकुण्ठ के सुख इस मृत्युलोक की अपेक्षा चिरस्थायी हैं। इस सत्यता से विमुख होकर मनुष्य इस मृत्युलोक के क्षण-भंगुर पदार्थों के पीछे तो ऐसे पड़ा रहता है जैसे कि वे नित्य हों। उनको भोगने में वह सुख मानता है और जब वे उसे उपलब्ध नहीं होते तब वह दु:खी होता है। यदि वह पहले से ही मन में इस सत्यता को ग्रहण किये रहे कि यहाँ का सब-कुछ विनाशी है तो वह इन्द्रिय-लोलुप, विषय-भोगी और स्वरूप-विस्मृत नहीं होगा और दु:ख भी नहीं होगा।

3. अज्ञान का तीसरा रूप है पाप को कर्त्तव्य अथवा पुण्य मानना और पवित्र कर्म को अनावश्यक या कल्पना मानना अथवा तुच्छ वस्तु को मूल्यवान और मूल्यवान को तुच्छ मानना। जो तमोगुणी, भ्रष्ट,विकृत अथवा त्याज्य है, उसे ग्राह्य मानना अथवा पतित को पावन और पावन को पतित मानना – यह ऐसा अज्ञान है जो मनुष्य से बहुत ही विकर्म कराता है। आज लोग समझ रहे हैं कि संसार बहुत आगे बढ़ गया है, मनुष्य ने बहुत उन्नति की है, यह संसार बहुत सुखदायी बन गया है। परन्तु हम देखते हैं कि वास्तव में इस कलिकाल में सब-कुछ तमोगुणी, निस्सार और विकृत हो गया है। अत: इसके प्रति मिथ्या दृष्टिकोण अपनाकर स्वर्ग तथा दिव्य-लोक के सुखों से विमुख होने वाले लोग अज्ञानी हैं। जो लोग काम, क्रोधादि को गृहस्थ एवं कार्य-व्यवहार में सफलता के लिए आवश्यक कर्त्तव्य अथवा उपादेय मानते हैं, वे भी

अज्ञानी हैं। जो लोग नर अथवा नारी के मल-मूत्र-रक्त-मद्या-माँस-अस्थिमय शरीर के पीछे आकर्षित होते हैं वे मोह-ममता में फँसने वाले अज्ञानी हैं। जो पवित्रता-जीवी देवी-देवताओं में भी विकारों का होना मानते हैं और आजकल के साधुओं को पूर्णत: पवित्र मानते हैं, वे भी अज्ञानी हैं। अत: पवित्र क्या है, अपवित्र क्या है, प्राप्य क्या है, त्याज्य क्या है, कर्त्तव्य क्या है, अकर्त्तव्य क्या है — यह जानना भी ज्ञान में शामिल है।

4. अज्ञान अथवा मिथ्या-ज्ञान का चौथा रूप है — दु:ख को सुख मानना। उदाहरण के तौर पर 'काम' विकार आदि-मध्य-अन्त दु:ख देने वाला है। इससे तत्क्षण भी शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है, मानसिक पतन भी होता है और बाद में भी दु:ख होता है। परन्तु संसार के प्राय: लोग वासना-भोग या सहवास को सुख मानते हैं। संसार के विषयों तथा पदार्थों में आसक्त होना दु:ख का उत्पादक है, परन्तु लोग फिर भी उसे सुखमय मानते हैं!

मृत्यु का भय

अज्ञान के उपर्युक्त किसी-न-किसी रूपान्तर के कारण ही मनुष्य में मोह अथवा राग उत्पन्न होता है। सांसारिक पदार्थों से सुख की चेष्टा करके मनुष्य उनमें आसक्त होता है और उन पदार्थो तथा व्यक्तियों में उसका राग हो जाता है। मोह और ममत्व वाली वस्तुओं के भोग में या उसको प्राप्त करने के पुरुषार्थ में यदि कोई बाधा डालता है तो उससे मनुष्य को द्वेष उत्पन्न होता है। इन अज्ञान-जनित उल्टे कर्मों को करने के कारण तथा साँसारिक पदार्थों एवं व्यक्तियों में मोह एवं ममत्व के कारण मनुष्य को भय — जैसे कि मृत्यु का भय....होता है। इस प्रकार मनुष्य इन दूषित वृत्तियों तथा उनके आधार पर हुए बुरे कर्मों से पीड़ित होता रहता है।

सभी का मूल – देह-अभिमान

इस प्रकार, अज्ञान (Nescience) अथवा माया (Temptress) इत्यादि के ये रूप सभी ने माने हैं। परन्तु उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इन सभी का मूल कारण देह-अभिमान (Body consciousness) है। परमपिता परमात्मा शिव ने हमें बताया है कि देह-अभिमान ही पांच विकारों का, ममत्व तथा भय इत्यादि का भी मूल है। अत: चित्त की सभी वृत्तियों के निरोध के लिए उन्होंने इस देह-अभिमान को त्यागने और आत्माभिमानी बनने की बारम्बार शिक्षा दी है। उन्होंने तो पहला पाठ ही स्वयं को 'देही'

अथवा 'आत्मा' निश्चय का दिया है। जब तक मनुष्य की देह-बुद्धि रहती है, तब तक ही उसकी वृत्तियाँ चंचल, अनियंत्रित या तमोगुण एवं रजोगुण की ओर झुकी हुई रहती हैं। यदि हम 'आत्मा' के निश्चय में, ज्ञान में अथवा स्मृति में स्थित हो जायें तब तो हमारी सभी वृत्तियाँ निरूद्ध (Control) हो जायेंगी। परन्तु पतंजलि ने इसके विपरीत ही कहा है। पतंजलि ने लिखा है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध होने के बाद आत्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है। एक दृष्टिकोण से यह ठीक भी है किन्तु वास्तविकता यह भी है कि जब तक पुरुषार्थी 'आत्मा-निश्चय' अथवा 'आत्मिक स्मृति' में स्थित न हो तब तक उसकी सभी वृत्तियों का निरोध भी नहीं हो सकता। पंतजलि ने इस बात पर कहीं भी ज़ोर नहीं दिया है। उसने इस बात की ओर तो संकेत भी नहीं किया है।

परमात्मा को जानने से योगाभ्यासी को पाँच लाभ

दूसरी बात यह है कि अज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान का बहुत ही बड़ा और हानिकारक रूप है — परमात्मा को न जानना। यदि मनुष्य परमपिता को यथार्थ रूप में जानता हो तो उसे पाँच लाभ होंगे। (१) उसे अपने मन को एकाग्र करने के लिए, चित्त की वृत्तियों को एक स्थान पर बाँधने के लिये एक बिन्दु मिल जायेगा। अतः जब वृत्तियों को समाहित करने के लिये सर्वश्रेष्ठ-केन्द्र अथवा आश्रय उसे मिल गया तब तो उसे समाधि-लाभ होगा और यह समाधि ही तो मुक्ति और जीवन्मुक्ति का अथवा 'कैवल्य' की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। दूसरे, परमात्मा के साथ (पिता-पुत्र का) यथार्थ सम्बन्ध का ज्ञान होने से मनुष्य को अन्य मानवों से भ्रातृ-भाव से व्यवहार करने का सही आधार मिल जायेगा और चित्त की इस भूमिका में उसके मन में द्वेष आदि अज्ञान-जनित संकल्प उत्पन्न नहीं होंगे और योगी को मैत्री, करुणा इत्यादि जिन वृत्तियों को धारण करना चाहिये वे सहज ही धारण हो सकेंगी। तीसरे, पिछले जन्मों में किये गये विकर्मों का खाता अथवा कर्म-बीज, जो कि दुःख का कारण है, वे विकर्म भी ईश्वरीय स्मृति रूप योगाग्नि से ही दग्ध हो सकेंगे। तभी तो भगवान् के महावाक्य हैं कि — 'हे वत्स! तू मेरी शरण में आ, मैं तेरे सभी पापों को दग्ध कर दूंगा।'' चौथी बात यह है कि मनुष्य के पुरुषार्थ में जो विघ्न आते हैं, उन विघ्नों को पार करने के लिये मार्ग-प्रदर्शन तथा शक्ति भी मनुष्य को उस परमात्मा ही से मिल सकती है क्योंकि वास्तव में वह ही सद्गुरु है, ज्ञान का सागर भी है तथा सर्वशक्तिमान् भी। स्वयं पतंजलि ने भी कहा है कि — परमात्मा ब्रह्मा आदि का भी गुरु है *1 और उसमें पूर्ण ज्ञान है।2* उस प्रभु का हाथ पकड़े बिना भला मनुष्य योग-

*1 स एवं पूर्वैंषामपि गुरु *2 तत्र निरतिषयं सवज्ञ बीजम।

मार्ग में क्षण-क्षण में आने वाले विघ्नों को पार ही कैसे कर सकेगा और अखण्ड समाधि में कैसे स्थित हो सकेगा? पाँचवी बात यह है कि योग में पूर्ण स्थिति और आनन्दानुभूति भी तभी होगी जब मनुष्य मन को आनन्द के सागर परमपिता परमात्मा में समाहित करेगा।

तीन बातों को जानो

अत: संक्षेप में परमपिता परमात्मा ने ज्ञान के तीन मुख्य रूपों पर बल दिया है। उन्होंने कहा है – ''अपने आपको जानो, अपने बाप (परमात्मा) को जानो तथा सृष्टि-चक्र के आदि-मध्य-अन्त को जानो। बस,यह जान लेने से कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता।''

यदि हम अपने आपको जान जायें, अर्थात् आत्मा के स्वरूप को जान जायें तो 'नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य', 'पवित्र को अपवित्र' या 'आत्म को अनात्म' आदि मानना रूपी जो अज्ञान बताया गया है, उस सबकी एक-साथ निवृत्ति हो जाती है। आत्मा इस संसार में कहाँ से आयी, कब आयी, कैसे उसका पतन हुआ – इसका ज्ञान सृष्टि-चक्र को जानने से हो जाता है। सतयुग से लेकर कलियुग के अन्त तक यह सृष्टि-चक्र कैसे चलता है और पतंजलि ने जिसे 'पुरुष-विशेष' तथा 'ईश्वर' कहा है और ब्रह्मादि का भी गुरु माना है, वह कैसे इस सृष्टि-मंच पर अवतरित होकर ज्ञान एवं योग की शिक्षा देता है – इस रहस्य को समझने से मनुष्य क्लेश के कारण को तथा अन्य सब जो-कुछ भी जानना आवश्यक है – जान लेता है। हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं और कब आये हैं, कहाँ हमको जाना है, परमात्मा से हमारा क्या सम्बन्ध है,उस द्वारा हमें मुक्ति और जीवनमुक्ति की प्राप्ति कैसे हो सकती है, उस परमपिता का अवतरण कब होता है – इन विषयों की तो पतंजलि ने चर्चा ही नहीं की। वास्तव में ये तथ्य जानना ही तो 'ज्ञान' है। परमपिता इस सृष्टि में अवतरित हों और हम उन्हें पहचानते ही न हों, वे ज्ञान एवं योग की शिक्षा दे रहे हों और हम उन्हें छोड़कर कर्म-विपाक के अधीन हुए मनुष्यों से योग की शिक्षा माँगते फिरते हों; कलियुग का अन्त होकर सतयुग आने वाला हो और हमारे सामने एक अत्यन्त विकराल विप्लव तथा महाविनाश होने वाला हो और हम इससे अनभिज्ञ हों – यह तो अज्ञान की पराकाष्ठा है! वास्तव में परमपिता परमात्मा, जो इसी धरा पर अवतरित होकर मनुष्यात्मा को आगम-निगम के भेद बताते हैं, ज्ञान-मुरली द्वारा मानव-चित्त को अतीन्द्रिय सुख की अनुभूति देते हैं, वह समय तथा वह सुख ही अत्युत्तम है। उससे तो चित्त की सारी कालिमा धुल जाती है।

तो देखिये, परमात्मा शिव ने जो ज्ञान-योग समझाया है अथवा अज्ञान का भी जो

ज्ञान दिया है वह कितना सत्य, अद्भुत तथा कल्याणकारी है! ऐसा ज्ञान कोई भी मनुष्य तो कदापि दे नहीं सकता क्योंकि मनुष्य तो जन्म-मरण में आने वाला है तथा कर्म-भोगी है। उसे सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का अथवा तीनों कालों का ज्ञान कहाँ? स्वयं पतंजलि ने ईश्वर ही को ऐसा माना है (अर्थात् 'जिसके ज्ञान को काल कभी भी परिच्छिन्न नहीं करता) तथा उसे 'दु:ख से न्यारा' तथा कर्मातीत भी माना है। अत: वही तो मनुष्य को सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का, कर्मों की गुह्य गति का तथा अपने स्वरूप का भी परिचय दे सकता है। पिता ही पुत्र को अपनी जीवन-कहानी बता सकता है। अत: ज्ञान-सागर परमात्मा ही वास्तव में यथार्थ सम्पूर्ण एवं सर्वांगीण ज्ञान देकर मनुष्य के अज्ञान को नष्ट कर सकता है तथा अज्ञान से उत्पन्न हुई वृत्तियों को निरुद्ध करने तथा अपने स्वरूप की स्मृति में स्थित होने का सही मार्ग बता सकता है। भगवान्, जोकि कैवल्य स्वरूप हैं, सदामुक्त हैं, मुक्ति के दाता होने के कारण, 'मुक्तेश्वर' अथवा 'पापकटेश्वर' कहाते हैं —मुक्ति का और उसे प्राप्त करने का भी यथार्थ परिचय दे सकते हैं। तभी तो मनुष्य का पुरुषार्थ भी ठीक तरीके से चल सकता है।

वर्तमान समय परमपिता परमात्मा शिव पुन: अपना, आत्मा के स्वरूप का तथा सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का सत्य ज्ञान दे रहे हैं और योग की सहज-विधि भी बता रहे हैं। उससे मनुष्य-आत्मा को ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो जाता है, उसकी दृष्टि-वृत्ति, स्मृति-कृत्ति — सब सतोप्रधान बन जाती है और वह प्राणायाम तथा आसनादि के बिना ही मन को परमपिता परमात्मा की स्मृति में समाहित करने में सफल होकर आनन्द की प्राप्ति का भागी बनता है। यही ज्ञान और योग अविनाशी सुख का साधन है क्योंकि यह अज्ञानावरण को निवृत्त करने वाला तथा विकर्मों को दग्ध करने वाला है।

प्राचीन एवं वास्तविक योग

भारत देश अपने प्राचीन योग के कारण बहुत प्रसिद्ध है। बहुत से विदेशी भी यहाँ योग सीखने के लिये आते हैं क्योंकि उन्होंने सुन रखा है कि योग द्वारा मनुष्य का मानसिक तनाव दूर होता है, मन को शान्ति मिलती है और मस्तिष्क को तथा शरीर को भी आराम मिलता है। परन्तु जब वे भारत में योग सीखने के लिये 'योगाश्रमों' में जाते हैं अथवा अपने देश में ही भारत से आये 'योगियों' द्वारा योग सीखने जाते हैं तो वहाँ वे 'आसनों' तथा प्राणायाम की ही मुख्य रूप से शिक्षा-दीक्षा देखते हैं। अत: आज प्राय: विदेशी लोग इस भ्रान्ति में हैं कि आसनों तथा प्राणायाम ही का नाम 'योग' है। दूसरे कई योग-केन्द्रों पर 'मेडीटेशन' (Meditation) के अभ्यास के लिए जब कई योग-अभिलाषी जाते हैं तो वहाँ वे मोमबत्ती की लौ पर मन टिकाने की क्रिया का अभ्यास या किसी पुष्प इत्यादि के मानसिक चित्र पर मन की एकाग्रता का अभ्यास होते देखते हैं। इनके अतिरिक्त, आज इस विराट सृष्टि में अन्य अनेकानेक प्रकार के योग भी प्रचलित हैं। इन अनेक प्रकार के योगों की चर्चा सुन कर प्राय: लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि इन सभी योगों में से वास्तविक योग कौनसा है? वे जानना चाहते हैं कि जिस योग द्वारा मनुष्य को मन की शान्ति मिलती है, वह प्रभु से मिलन मनाता है तथा अतुल आनन्द प्राप्त करता है और जिस योग द्वारा उसकी अवस्था अव्यक्त और स्थिति एकरस होती है, भला वह योग कौनसा है? वे पूछते हैं कि जिस योग से विकर्म दग्ध होते हैं और मनुष्य भविष्य में मुक्ति और जीवनमुक्ति (देव-पद) प्राप्त कर सकता है और वर्तमान काल में भी कमल पुष्प के समान जीवन व्यतीत कर सकता है तथा पवित्रता, दिव्यता और आत्मिक सुख की अथाह प्राप्ति कर सकता है, उस योग की क्या पहचान है? इन सभी प्रश्नों का एक सही उत्तर प्राप्त करने के लिए पहले 'योग' शब्द का सही अर्थ जानना जरूरी है।

'योग' शब्द का वास्तविक अर्थ

'योग' का अर्थ है — 'जोड़ना' (Connection) अथवा 'मिलाप' (Union)। आध्यात्मिक चर्चा में ''योग'' शब्द का भावार्थ 'आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ना'

अथवा 'परमात्मा से मिलन मनाना' है। कई ग्रंथकार कहते कि 'योग' का अर्थ है — 'चित्त की वृत्तियों का निरोध।' वास्तव में चित्त को एकाग्र (Concentrate) करना योग का एक जरूरी अंग तो है किन्तु केवल वृत्ति-निरोध ही को 'योग' मानना ठीक नहीं है। वृत्तियों को रोक कर 'परमात्मा में' एकाग्र करना ज़रूरी है, तभी उसे 'योग' कहा जायेगा। यदि प्रभु से मिलन नहीं, उस से सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया तो उसे 'योग' नहीं कहा जा सकता। एकाग्रता का अभ्यास तो वैज्ञानिकों तथा शोध कार्य (Research) करने वालों को भी होता है परन्तु उन्हें 'योगी' नहीं कह सकते। योग तो प्रभु में तल्लीनता अथवा तन्मयता का नाम है। यह तो ईश्वर की लग्न में मग्न होने का वाचक है। यह तो आत्मा और परमात्मा के मिलाप का परिचायक है।

अब यह तो प्राय: सभी प्रभु-प्रेमी लोग मानते हैं कि परमात्मा सभी आत्माओं का परमपिता है और ' त्वमेव माताश्च पिता त्वमेव' आदि शब्दों द्वारा मनुष्य इस पारलौकिक सम्बन्ध का गायन भी करते हैं। अत: प्रश्न उठता है कि जबकि आत्मा और परमात्मा के बीच पिता-पुत्र नाम का सम्बन्ध है ही है तो फिर इसे 'जोड़ने' का क्या अर्थ है ?

आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध अथवा मिलन

इसका उत्तर यह है कि आत्मा और परमात्मा के बीच का सम्बन्ध आज केवल कथन मात्र ही है, वह प्रेक्टीकल (Practical) जीवन में बिल्कुल नहीं है। वरना, परमात्मा के साथ आत्मा के माता-पिता, सखा-स्वामी इत्यादि जिन सम्बन्धों का गायन है, वह तो बहुत ही गहरे, उच्च और नज़दीकी सम्बन्ध हैं और उनका तो हमारे जीवन में बहुत गहरा अनुभव होना चाहिये। उनका तो हमारे ऊपर काफी प्रभाव भी होना चाहिए तथा उनके द्वारा हमें कोई उच्च प्राप्ति भी होनी चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि आज मनुष्य के जीवन पर उन सम्बन्धों का कोई प्रभाव नहीं है और उन द्वारा होने वाली प्राप्ति अर्थात् पूर्ण सुख-शान्ति भी नहीं है। इसलिए हम कहते हैं कि परमात्मा के साथ मनुष्यात्मा का पिता-पुत्र का सम्बन्ध तो है परन्तु आज वह जुटा हुआ नहीं है। बल्कि आज मनुष्य-जीवन में जो अपवित्रता, दु:ख और अशान्ति है, उससे तो यह सिद्ध होता है कि यह सम्बन्ध टूट चुका है, अर्थात् वर्तमान जीवन योग-भ्रष्ट जीवन है।

संसार में हम यह देखते हैं कि जहाँ पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, सखा-सखी आदि जैसे घनिष्ट सम्बन्ध जुटे होते हैं, वहाँ वे एक-दूसरे के प्रति प्रेक्टिकल रूप से इन सम्बन्धों में बरतते तथा व्यवहार करते हैं। उनका सम्बन्ध केवल कहने मात्र तक

नहीं होता बल्कि उनका जीवन ही उन सम्बन्धों में ढला होता है और उन गहरे सम्बन्धों के अनुसार ही चलता है। हम सांसारिक सम्बन्धों में यह भी स्पष्ट रूप से देखते हैं कि यदि वह सम्बन्ध केवल कहने मात्र तक रह गये हों और उन सम्बन्धों वाले व्यक्ति परस्पर उस स्नेह और नाते से बरतते न हों तो उन सम्बन्धों में भी कोई रस नहीं आता, कोई अनुभव नहीं होता और उसका कोई फल अथवा लाभ भी नहीं होता। अत: स्पष्ट है कि यद्यपि परमात्मा और आत्मा का पिता-पुत्र आदि-आदि जैसा बहुत ही निकट और उच्च सम्बन्ध है तथापि वह सम्बन्ध आज प्रेक्टीकल जीवन में अर्थात् व्यवहार में नहीं है, इसलिए ही आज आत्मा को आनन्द और सुख की प्राप्ति नहीं है। बल्कि वह सम्बन्ध आज वैसा ही कहने मात्र तक रह गया है जैसा कि उस पुत्र का सम्बन्ध रह जाता है जोकि अपने पिता से अलग होकर दूसरे देश में चला जाता है और वहाँ वह न अपने पिता को कभी स्नेह से याद करता है, न उससे वह पत्र-व्यवहार करता है, न उसकी दी हुई आज्ञाओं के अनुकूल चलता है, और न उसके कुल की मानमर्यादा के अनुसार बरतता है परन्तु जब वलदियत (पिता का नामादि) बताने को कोई अवसर आता है तो वो केवल तभी अपने माता-पिता के नाम का उच्चारण अथवा उल्लेख मात्र कर देता है।

अत: ' योग' का अर्थ स्पष्ट जानने के लिए पहले यह जानना ज़रूरी है कि परमात्मा के साथ 'सम्बन्ध' जोड़ने का क्या अर्थ है और उसके लिए हमें क्या करना है? इस रहस्य को समझने के लिए हम लौकिक सम्बन्धों का सर्वेक्षण कर के देखते हैं कि प्रेक्टीकल जीवन में सम्बन्ध जुटे होने का क्या-क्या भाव होता है ?

प्रभु का परिचय प्राप्त कर, 'ईश्वरीय स्मृति' में स्थिति ही योग है

जब हम साँसारिक सम्बन्धों पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि सम्बन्ध जुटाने का पहला साधन है — परिचय, पहचान अथा ज्ञान। जब कोई बच्चा पैदा होता है तो किसी मनुष्य के साथ उसका पिता-पुत्र का सम्बन्ध तो जन्म-काल ही से हो जाता है परन्तु उस सम्बन्ध को जुटाने के लिए बच्चे को यह पहचान दी जाती है कि अमुक-व्यक्ति उसका पिता है और अमुक नारी उसकी माता है। यह ज्ञान अथवा पहचान प्राप्त किये बिना बच्चे का अपने माता-पिता के साथ सम्बन्ध जुट ही नहीं सकता।

बचपन में तो केवल माता-पिता के नाम-रूप ही का परिचय मिलता है। उसमें निश्चय करने से ही उस बालक का सम्बन्ध अपने माता-पिता से जुटता है। परन्तु वह बच्चा इस सम्बन्ध को बहुत स्पष्ट रूप से अथवा गहराई से नहीं जानता न ही यह सम्बन्ध उसके जीवन और व्यवहार में अभी गहरा उतरा ही होता है, तो भी वह बच्चा

जब-कभी अपने पिता के सन्मुख जाता है अथवा जब भी उसे अपने पिता की स्मृति आती है तो वह स्वयं को पुत्र अनुभव करता है। फिर, जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता है, उसे अपने पिता के नाम और रूप के अतिरिक्त यह भी ज्ञान होता जाता है कि उसके पिता कौनसा धन्धा करते हैं और किस देश अथवा नगर के निवासी हैं। समयान्तर में उसे यह भी परिचय मिल ही जाता है कि उसके पिता की क्या पूंजी, सम्पत्ति अथवा आर्थिक और सामाजिक स्थिति है, उसमें क्या गुण हैं, उसका कौनसा कुल या धर्म है, आदि आदि। अत: उस समस्त परिचय और निश्चय के आधार पर, उसकी बुद्धि में अपने पिता की स्मृति (Consciousness) रहती है, तभी तो वह यह कोशिश करता है कि वह उतना ही खर्च करे जितना कि पिता की आर्थिक स्थिति से सम्भव है, वह वैसे कर्म करे जैसे कि उसके कुल और धर्म के अनुकूल हों, वह ऐसे रीति-रिवाज़ अपनाये जो उसके देश और वंश आदि के अनुसार हों। इस प्रकार, उसके पिता का विस्तृत परिचय, उसकी स्मृति को तथा उसके जीवन के समस्त कर्मों और व्यवहार को मर्यादित करता है, उसे एक विशेष दिशा में मोड़ता है। पुनश्च, वह जब-कभी अपने पिता के साथ उसका लेन-देन व कार्य-व्यवहार होता है, तो वह पुत्र की न्याई ही होता है।

अत: जैसे सांसारिक दृष्टिकोण से पिता-पुत्रादि का सम्बन्ध जुटने का पहला साधन परिचय (ज्ञान) में निश्चय (Faith) और निश्चय के आधार पर स्मृति (Consciousness) है, ठीक उसी प्रकार योग के लिये अथवा परमपिता परमात्मा से सम्बन्ध जुटाने लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले तो मनुष्य को परमात्मा के गुणवाचक नाम ज्योतिर्मय रूप, परमधाम, ईश्वरीय गुण, दैवी सम्पत्ति आदि का यथार्थ परिचय हो, तब वह उसमें निश्चय (Faith) करे और उसके आधार पर वह परमात्मा की स्मृति (Consciousness) में रहे। उसी स्मृति में एकाग्रता की स्थिति ही योग है।

प्रभु के प्यार में एकाग्रता अथवा लग्न में मग्न होना ही योग है

पिता-पुत्र, पति-पत्नि, सखा-सखा, प्रेमी-प्रेमिका आदि के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि उनका जितना घनिष्ठ और निकट का नाता होता है, उतना ही उनका एक-दूसरे के प्रति अगाध प्यार और स्नेह होता है। एक-दूसरे की याद उनके मन में ऐसी तो बस जाती है कि भुलाये नहीं भूलती। वे एक दूसरे की लग्न में लगे रहते हैं। कोई व्यक्ति दफ्तर में काम करता है तो भी उसके मन में यह भान समाया रहता है कि – "मैं बाल-बच्चों वाला मनुष्य हूँ, उन बच्चों के लिए तथा पत्नी के लिये मुझे यह धन्धा करके कुछ-न-कुछ तो कमाना ही है।" शाम को वह घर लौटता है तब भी यही सोचता है कि –

"बच्चों के लिए अथवा पत्नी के लिए अमुक-अमुक वस्तु मुझे ले जानी है।" इसी प्रकार, कोई प्रेमी व्यक्ति सोचता है कि मैं दफ्तर से छुट्टी पाऊं तो जाकर प्रेमिका से मिलूं। स्कूल में पढ़ने वाले बच्चें सोचते हैं कि छुट्टी हो तो हम अपने माता-पिता, भाई-बहनों अथवा सखा-सखियों से मिलें।

इसी प्रकार जिसका जिस-किसी से निकट का तथा घनिष्ठता का नाता होता है, उसकी ओर ही उसका मन लगा रहता है। उसके प्रेम में उसका मन लगा रहता है अथवा तन्मय हुआ रहता है। वास्तव में एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध जुटे होने का मुख्य चिन्ह ही एक की मन-बुद्धि का दूसरे के प्रेम में विभोर होना, स्नेह में स्थित होना और लग्न में मग्न होना है। ठीक इसी प्रकार, परमपिता परमात्मा से सम्बन्ध जुटाने अथवा उनसे योग-युक्त होने का अर्थ भी मन को उनकी लग्न में मग्न करना अथवा बुद्धि को उनकी स्मृति में स्थित करना है। मनुष्य किसी की लग्न में जितना मग्न होता है, उतना ही उसे और सब-कुछ फीका लगता है और अन्य सब तरफ से उसका मन उपराम होता है। अत: बुद्धि द्वारा परमपिता परमात्मा की स्मृति का रस पान करने में लगी हुई आत्मा ही वास्तव में योग-युक्त है, उस ही का सम्बन्ध मानो परमात्मा से जुटा हुआ है।

परमात्मा के प्रति अर्पणमयता और तन्मयता ही योग है

हम संसार में यह भी देखते हैं कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका आदि के सम्बन्ध में एक दूसरे के प्रति इतना तो अर्पणमय होता है कि वह सारा दिन-भर उनके लिए धन्धा करता है, उनके दु:ख-सुख के लिए रात-भर जाग भी लेता है, अपना समय, धन और शक्ति भी लगाता है, मानो वह उन्हीं का होकर रहता है। उसके व्यवहार में ऐसा लगता है कि उसका सारा जीवन ही शायद पत्नी और बच्चों इत्यादि के लिए है। इसी तरह, एक पत्नी सारा दिन अपने पति के लिए तथा बच्चों के लिए कार्य-व्यवहार, देखभाल तथा प्रबन्ध-व्यवस्था करने में लगी रहती है। बच्चे भी अपने माता-पिता ही की शरण में होकर रहते हैं और उन्हीं की छत्र-छाया में पलते तथा चलते हैं। इसी प्रकार, परमात्मा से सम्बन्ध जुटाने का भी भाव परमात्मा के अर्पणमय होकर रहना है। सभी कर्म करते समय भी स्वयं को परमात्मा ही के कार्य में निमित्त मानना और अपने तन-मन-धन को परमपिता परमात्मा का ही मानने से मनुष्य की ममता और आसक्ति मिटती है और वह उन्हें किसी मायावी कार्य में नहीं लगाता बल्कि वह घर-गृहस्थ में बरतते हुए भी कमल-पुष्प के समान न्यारा और प्यारा होकर रहता है। यही वह योग है जिससे कि मनुष्य को विदेही अथवा अव्यक्त अवस्था प्राप्त होती है और उसकी सब चिन्ताएं मिट जाती

हैं और चित्त गद्-गद् हो जाता है।

मन, वचन तथा कर्म को ईश्वरीय सम्बन्ध के अनुकूल बनाना ही योग है

साँसारिक सम्बन्धों में हम स्पष्ट देखते हैं कि जब किसी का पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि का नाता जुटा होता है तो उसका वैसा ही अनुभव और वैसा ही मानसिक (आत्मिक) तथा शारीरिक व्यवहार होता है। उदाहरण के तौर पर जब कोई व्यक्ति अपने पिता के सामने जाता है तो उसके मन में न केवल यह पहचान ही होती है कि यह व्यक्ति मेरा पिता है बल्कि वह बालकपन के उस सम्बन्ध के अनुभव में स्थित भी होता है और मन्सा, वाचा, कर्मणा वह उसी अनुभव के आधार पर ही बरतता है। वह पिता के प्रति वैसे ही शब्द प्रयोग करता है जो कि उसके योग्य हों। वह पिता को वैसे ही स्नेह तथा आदर से अभिवादन करता है जैसा कि एक पुत्र का पिता के प्रति होना चाहिए। पुनश्च, अपनी सारी दिनचर्या में भी उसका मानसिक, वाचिक और शारीरिक कर्म अपने पिता ही के धर्म, कुल, सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार ही होता है।

ठीक इसी प्रकार, परमपिता परमात्मा के साथ सम्बन्ध जुटे होने का अर्थ यह है कि मनुष्य के मन,वचन और कर्म पर ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम के सागर, पतित-पावन, कल्याणकारी परमपिता परमात्मा के परिचय का प्रभाव हो। अर्थात्, उसके मन, वाणी तथा कर्म भी ज्ञानोचित, दूसरों को पावन करने वाले, उनके कल्याणार्थ तथा उन्हें सुख-शान्ति देने वाले होने चाहिएं। उसे परमपिता परमात्मा ही के सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल बरतना चाहिए और वैसे ही सदा आनन्द-निमग्न, साक्षी-द्रष्टा, ज्ञान-निष्ठ, अव्यक्त तथा मान-अपमान आदि द्वन्दों से न्यारा होकर बरतना चाहिए। उसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह सृष्टि मेरे परमपिता की ही है और इसे पावन तथा सुखी रखने की मुझ पर भी कुछ ज़िम्मेदारी है। उसे यह स्मृति में रखना चाहिए कि परमपिता परमात्मा तो धर्म, पवित्रता तथा दैवी सम्पत्ति की ही स्थापना का दिव्य कर्म करते हैं, अतः मुझे कोई भी ऐसा संकल्प, वाद अथवा कर्म नहीं करना चाहिए जो कि अधर्म, अनाचार, आसुरी व्यवहार अथवा किसी विकार का प्रसार या प्रचार करने वाला हो।

इस प्रकार परमपिता परमात्मा की सूक्ष्म-स्मृति रूपी हैण्डल अथवा ब्रेक से अपने जीवन रूपी गाड़ी को ईश्वरीय नियम की पटरी पर रख कर चलाने वाला व्यक्ति ही 'योगी' है। ऐसे ही व्यक्ति के बारे में हम कह सकते हैं कि उसका सम्बन्ध परमपिता

परमात्मा से जुटा हुआ है। वर्ना, जिस व्यक्ति के संकल्प, वचन अथवा कर्म परमपिता के गुण, कर्म तथा स्वभाव के विरुद्ध अथवा विपरीत हैं, वह भले ही परमात्मा की भक्ति या पूजा करता हो, उसके बारे में हम यह नहीं कह सकते कि उसका सम्बन्ध जुटा हुआ है बल्कि उसे तो 'ईश्वर-द्रोही' अथवा 'विपरीत-बुद्धि' वाला ही मानेंगे। जिस मनुष्यात्मा का सम्बन्ध परमात्मा से जुटा हुआ है, वह तो परमात्मा से प्रीत-बुद्धि वाला ही होगा और प्रीत-बुद्धि वाला व्यक्ति कभी भी ईश्वर के गुणों तथा कर्मों के विरुद्ध कर्म नहीं कर सकता।

परमपिता परमात्मा की श्रेष्ठ मत पर चलना ही योग है

हर-एक मनुष्य का यह लौकिक अनुभव है कि जिस बालक का सम्बन्ध अपने पिता से जुटा होता है, वह अपने पिता की मत पर चलता है। मत न लेकर मन-मानी करना तो यह सिद्ध करता है कि बालक को पिता का, सेवक को स्वामी का, शिक्षार्थी को शिक्षक का, पुरुषार्थी को मार्ग-दर्शक का जो सम्मान होना चाहिए तथा उसके प्रति जो स्नेह होना चाहिए, वह नहीं है। अर्थात् उसका शारीरिक सम्बन्ध भले ही हो, 'हार्दिक' अथवा मानसिक सम्बन्ध नहीं है। अत: परमप्रिय परमपिता परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने का भी भाव यह है कि हम उसकी श्रेष्ठ मत पर चलें। यही कारण है कि परमपिता परमात्मा न केवल 'मन्मनाभव'... 'मामेव बुद्धि निवेश्य'... 'मामेकं शरणं व्रज' (अर्थात् मेरी स्मृति में स्थित होवो और मेरे प्रति अर्पणमय होवो) आदि का आदेश देते हैं, बल्कि वे यह भी कहते हैं कि ''तू मेरी मत के अनुसार चल, मैं तुझे ऐसी उत्तम मत दूँगा जिससे कि तू संसार सागर को लाँघ कर मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेगा।'' अत: योग-युक्त होने का अर्थ मनुष्य-मत या माया के मत पर न चलकर एक परमपिता परमात्मा ही की सर्वश्रेष्ठ मत पर चलना है।

परमपिता परमात्मा से वास्तविक योग तभी सम्भव है जब परमात्मा का अवतरण हो

योग का जो सरल और सत्य अर्थ हमने ऊपर बताया है, उससे स्पष्ट है कि यह योग तभी सम्भव है जब परमपिता परमात्मा अवतरित होकर अपने गुणवाचक नाम, ज्योतिर्मय रूप, परमधाम, ईश्वरीय गुण, दिव्य कर्म, स्वभाव, प्रभाव, सम्पत्ति आदि का सच्चा और सम्पूर्ण परिचय (ज्ञान) दें, उस परिचय का प्रैक्टिकल अनुभव करायें और अपना श्रेष्ठ मत भी बतायें। जब-तक परमपिता परमात्मा स्वयं अवतरित न हों तब तक

मनुष्य को सत्य ज्ञान नहीं हो सकता और आत्मा का परमपिता परमात्मा से सही तथा प्रैक्टिकल सम्बन्ध तथा स्नेह भी नहीं जुट सकता और आत्मा को पूरा मार्ग-दर्शन या मत भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण गीता के भगवान् के महावाक्य हैं कि "हे वत्स, पहले भी यह योग मैंने सिखाया था, बाद में इसका प्रभाव तो रहा परन्तु समयान्तर में यह योग प्राय: लुप्त हो गया; अत: अब पुन: मैं यह गुह्यतम और सर्वोत्तम योग तुम्हें सिखलाने के लिए अवतरित हुआ हूँ। इस योग के बारे में तू मेरे ही वचनों को सुन।" स्पष्ट है कि यह योग मनुष्यों द्वारा अनेक प्रकार के हठयोग, तत्वयोग, राजयोग आदि-आदि से न्यारा है। इस योग का अर्थ परमप्रिय परमपिता परमात्मा ही के स्वरूप के ज्ञान के आधार पर मन को उनकी स्मृति में स्थित करना, स्वयं को उनके अर्पण करना, उनके श्रेष्ठ मत पर चलना, स्वयं में दैवी गुण अथवा सम्पत्ति की धारणा करना अर्थात् परमपिता परमात्मा ही से अपना स्नेह, सम्बन्ध और स्मृति जोड़ना है। यही योग सर्वोत्तम है और मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति रूप ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार देने वाला है। इसकी तुलना में अन्य सभी प्रकार के योग मनुष्य-कृत हैं और उन द्वारा केवल अल्पकाल ही के लिये स्वास्थ्य, सुख या शान्ति की प्राप्ति होती है।

यह योग अति सहज है

परमपिता द्वारा सिखाये-गये उपरोक्त योग का अभ्यास करने के लिए मनुष्य को कोई आसन, प्राणायाम या हठ-क्रिया इत्यादि नहीं करनी पड़ती, न ही उसके लिए घरबार आदि छोड़ना पड़ता है बल्कि प्रवृत्ति में बरतते हुए वह योग-युक्त होकर मुक्ति तथा जीवनमुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

हम देखते हैं कि बच्चा जब छोटा होता है तो उसका सम्बन्ध अपने माता-पिता से ही होता है। थोड़ा और बड़ा होकर बहन-भाइयों तथा सहपाठियों और सखाओं से भी उसका स्नेह तथा सम्बन्ध जुट जाता है। और बड़ा होने पर जब उसका विवाह होता है तब उसका स्नेह अन्यान्य नातेदारों से थोड़ा कम होकर पत्नी में अधिक हो जाता है। फिर जब उसके बच्चे पैदा होते हैं तो पत्नी में थोड़ा कम होकर बच्चों ही से उसका स्नेह अधिक हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य का यह तो जन्म-जन्मान्तर से अभ्यास है कि वह अपना स्नेह एक व्यक्ति से हटा कर अथवा कम करके दूसरे से अधिक जुटा लेता है।

अत:अब योग-आकांक्षी मनुष्य को करना केवल यही है कि सम्बन्ध और स्नेह को एक से कम करके दूसरे के साथ जोड़ने का उसको जो अभ्यास है, उसके प्रयोग से अब

वह अपना मानसिक सम्बन्ध और अनन्य स्नेह परमप्रिय परमात्मा से जोड़े। इस सहज विधि से उसे योग के लक्ष्य की सहज ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

सम्पूर्ण और सर्वोत्तम योग इसी योग के अन्य नाम

चूँकि यह योग परमपिता परमात्मा के तथा आत्मा के ज्ञान ही पर आधारित है, इसलिए इसे ही 'ज्ञान योग' भी कहा जाता है। पुनश्च, चूँकि इस योग का अभ्यास करने वाला मनुष्य कर्म करते हुए भी इस ज्ञान के आधार पर परमपिता की स्मृति में रहता है, इसलिए इसे 'कर्म योग' भी कहा जाता है। इसी का एक नाम 'संन्यास योग' भी हो सकता है क्योंकि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को काम, क्रोध आदि विकारों का संन्यास (त्याग) करना पड़ता है। 'समत्व योग' भी वास्तव में यही है क्योंकि इसका अभ्यास करने वाला मनुष्य हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि की परिस्थितियों में सम-चित्त अथवा एक-रस रहने का पुरुषार्थ करता है। इस योग को 'सहज राजयोग' भी कहा जाता है क्योंकि यह योग सभी योगों का राजा अर्थात् सबसे श्रेष्ठ है और इसका अभ्यास करने वाला मनुष्य भविष्य में २१ जन्मों के लिए स्वर्ग का राज्य-भाग्य प्राप्त करता है और यह इतना सहज भी है कि राजा जैसा ज़िम्मेदार व्यक्ति भी इसका अभ्यास कर सकता है। अत: स्पष्ट है कि सहज राज योग, बुद्धि योग, ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग, समत्व योग, पुरुषोत्तम योग आदि-आदि सभी इस ही के नाम हैं परन्तु इन नामों का वास्तविक रहस्य मालूम न होने के कारण आज लोगों ने इन्हें विभिन्न योगों के नाम मान लिये हैं और इनकी गलत व्याख्याएं की हैं।

यही योग सर्वोत्तम है

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि यह योग मार्ग सर्वोत्तम है क्योंकि इसमें सभी आत्माओं से उत्तम अर्थात् परम जो ज्योति स्वरूप 'परमात्मा शिव' हैं, उन्हीं की याद बतलायी गयी है। यह योग मार्ग किसी तत्व या देवी-देवता की याद का आदेश नहीं देता बल्कि सभी के रचयिता अथवा परमपिता, अशरीरी, अजन्मा परमात्मा ही की स्मृति का आदेश देता है, जो ही एक मात्र ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, पतित-पावन तथा मुक्ति और जीवनमुक्ति का ईश्वरीय जन्मसिद्ध अधिकार देने वाले हैं। पुनश्च, इस योग में अन्य सभी प्रकार के योग समाये हुए हैं क्योंकि जब हम परमपिता परमात्मा को याद करते हैं तो उसमें 'ब्रह्म' की याद भी समायी हुई होती है, कारण कि ब्रह्म तत्व का वासी मानकर ही तो हम परमात्मा शिव की स्मृति में स्थित होने का अभ्यास

करते हैं। इस योग में ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर की भी स्मृति समायी हुई हैं क्योंकि हम परमात्मा शिव को उनका रचयिता (त्रिमूर्ति) मान कर तथा उन द्वारा पवित्रता, सुख और शान्ति का वरदान देने वाला मानकर ही तो उनकी याद में टिकते हैं। इस योग में श्री लक्ष्मी और श्री नारायण की भी याद समायी हुई है क्योंकि उन-जैसा पावन तथा सुखी बनने के लिए ही तो हम परमपिता परमात्मा से योग साधते हैं। इस योग में जगदम्बा सरस्वती तथा अन्य शक्तियों की याद भी है ही क्योंकि उन शिव-शक्तियों के समान तो हम परमपिता परमात्मा शिव से शक्ति प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं। इसके अतिरिक्त, इस योग द्वारा मनुष्य की मुक्ति तथा जीवनमुक्ति की भी तो इच्छा पूर्ण हो जाती है और सर्व प्राप्तियाँ हो जाती हैं। अत: यह योग सभी योगों से उत्तम तथा सर्व फलों को देने वाला है।

ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग

भारत अपनी योग-विद्या के कारण प्रसिद्ध रहा है। परन्तु बहुत से लोग 'योग' के अनेक नामों को सुनकर सोच में पड़ जाते हैं कि क्या 'योग-मार्ग' एक ही मार्ग है या इनमें भिन्नता है? योग के अनेक नामों में से सहज योग, ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग, हठ योग, राज योग, तत्व योग इत्यादि नाम अधिक सुनने और पढ़ने में आते हैं। परन्तु देखा जाय तो वास्तविक योग, जिसकी शिक्षा स्वयं परमपिता परमात्मा अथवा गीता के भगवान देते हैं, एक ही है। हठ योग, तत्व योग इत्यादि योग मनुष्यों द्वारा सिखाये गये हैं।

ज्ञान योग

गीता के भगवान जिस योग की शिक्षा देते हैं, वह योग ज्ञान पर आधारित होने के कारण 'ज्ञान योग' कहलाता है। उसे ही 'बुद्धि योग' भी कहते हैं क्योंकि उसका अभ्यास बुद्धि द्वारा होता है। यह 'ज्ञान योग' फिर 'सहज योग' भी कहलाता है, क्योंकि समझ अथवा ज्ञान से कार्य सहज हो जाता है और क्योंकि यथार्थ रीति से परमात्मा से योग-युक्त होने से शक्ति मिलती है जिससे स्वरूप-स्थिति सुगम हो जाती है, इस कारण ज्ञान योग ही का पर्यायवाची नाम 'सहज योग' भी है। इसके अतिरिक्त, क्योंकि इस सर्वोत्तम योग द्वारा मन-जीत (वास्तव में माया-जीत) बनने से मनुष्य जगत-जीत बन जाता है, इसलिए इसे 'राजयोग' कहते हैं और इस द्वारा जीवन में दिव्य गुण आने के कारण इसे 'दैवी प्रवृति मार्ग' भी कहते हैं । परन्तु सरलता के लिए इस एक ही मार्ग के अनेक नामों में से हम एक नाम 'ज्ञान योग' चुन लेते हैं।

कर्म योग

विचार योग्य बात यह है कि परिचय-सहित परमात्मा की याद में रहते हुए भी कर्म तो करना ही होता है। कर्म के बिना न तो जीवन-निर्वाह हो सकता है और न दूसरे पर आधारित होने से मनुष्य कर्म-बन्धन से मुक्त ही हो सकता है। अत: कर्म करते हुए भी ज्ञान-सहित परमात्मा से युक्त होने के मार्ग का नाम 'ज्ञान योग, कर्म योग ' ठहरा।

संन्यास योग

इसके अतिरिक्त, यह भी एक अकाट्य सत्य है कि जिस वस्तु को प्राप्त करना हो, जिस सत्ता का अनुभव करना हो, मन को उसमें समाहित करना अथवा लगाना होता है। अन्यथा जिस ओर मन होगा, प्राप्ति या अनुभूति तो उस ही वस्तु की होगी। अत: ईश्वर का परिचय प्राप्त हो जाने पर तथा कर्म में तत्पर रहते हुए भी परमात्मा की सच्ची, आन्तरिक, गहरी याद में रहने के लिए मन को बाह्य विषयों से निरुद्ध करके पारलौकिक गुरु एवं पारलौकिक माता-पिता परमात्मा ही से युक्त करना अनिवार्य है। इस प्रकार मन को एक ओर से हटाने और दूसरी (ईश्वरीय) ओर लगाने का नाम है — 'संन्यास योग'। अत: प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का पूर्ण परिचयात्मक नाम हुआ — 'ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग'।

केवल 'ज्ञान योग' अथवा 'कर्म योग' नाम देना पर्याप्त नहीं है क्योंकि बहुत-से तथा-कथित ज्ञानी-योगी लोग कर्म-धर्म को छोड़कर जंगलों में जा बसते हैं जो कि सामाजिक दृष्टिकोण से एक अनुचित बात है और, इसी प्रकार, बहुत-से लोग परमात्मा का परिचय पाये बिना तथा निरन्तर उसकी याद में निर्विकारी और अव्यभिचारी रीति से स्थिर हुए बिना कर्म में तत्पर रहने ही को समझते हैं कि वे 'कर्म योगी' हैं — यह भी अनर्थ है। क्योंकि ज्ञान के बिना तो योग असम्भव है और ज्ञान एवं योग के बिना विकर्म दग्ध नहीं हो सकते। ऐसे ही, कई जिज्ञासु कर्म-धर्म और घर-बार छोड़कर, परमात्मा के परिचय से अनभिज्ञ, अपने को प्रभु पर आश्रित मानते हुए विचरते और अपने को 'संन्यास योगी' बताते हैं। इसलिये इन सब प्रकार के अपूर्ण अथवा असत्य मार्गों से विलग तथा स्पष्ट करने के लिए परमात्मा की प्राप्ति के एकमात्र मार्ग का पूर्ण नाम है — ''ज्ञान योग, कर्म योग, संन्यास योग''। जैसे अनेक 'कर्मचन्दों' तथा 'गांधियों' से पृथक करने के लिए किसी का पूरा नाम 'मोहनलाल कर्मचन्द गाँधी' रख दिया गया, वैसे ही इस मार्ग के विषय में जानना चाहिए। तीन नामों का यह अभिप्राय नहीं कि ये तीन अलग-अलग मार्ग हैं, बल्कि यह एक ही मार्ग का पूर्ण नाम है।

आज कुछ लोग मानते हैं कि 'ज्ञान योग', 'कर्म योग' तथा 'संन्यास योग' भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के संस्कारों एवं स्वभाव के अनुसार उसे भिन्न-भिन्न मार्ग चाहिएं। वस्तुत: बात इस प्रकार है कि कुछ मनुष्य ज्ञान-प्रधान होते हैं; उनकी बुद्धि तीक्षण होती है, उनमें शारीरिक कर्म गौण होता है। परन्तु जो थोड़ा-बहुत कर्म वे करते हैं, उस समय योग में तो उन्हें भी स्थित रहना ही होता है और मन को विषय-पदार्थों से हटाकर परमात्मा में 'मन्मना' (संन्यास योग) तो करना ही होता है। अत:

कर्म योग और संन्यास योग से पृथक किसी अन्य मार्ग पर वे ज्ञान-योगी भी नहीं जाते। इसी प्रकार, कुछ लोग शारीरिक दृष्टिकोण से अधिक समर्थ होने के कारण कर्म करने में अधिक कुशल और सफल होते हैं। परन्तु वे भी यदि गूढ़ ज्ञान को न भी समझते हों तो भी कर्म करते समय, वे जिसे परमात्मा मानकर याद करते हैं उसके स्वरूप का, उसके साथ निज स्वरूप के सम्बन्ध इत्यादि का परिचय (ज्ञान) तो उनको भी प्राप्त होता ही है। वर्ना उनके मार्ग को 'कर्म-योग' नहीं कहा जा सकता। अत: ज्ञान तो उनमें भी होता है। गौण होना अलग बात है। मन से विषय-विकारों का संन्यास भी वे करते ही हैं। तब मार्गों की परिछिन्न भिन्नता यानी अनेकता कहाँ ठहरी ? ऐसे ही, कोई व्यक्ति ज्ञान-प्रधान न होकर यदि वृद्ध होने के कारण कर्म में भी अधिक तत्पर न रह सके बल्कि उसका मनोयोग तथा विषय-विकारों से मन का संन्यास पूर्ण हो तो उसे मुख्य रूप से 'संन्यास योगी' कहेंगे। परन्तु ज्ञान के बिना वह मन किसमें, क्यों और किस रीति से लगा सकता है ? अतएव यह निश्चित जानिये कि इन तीनों नामों से एक ही अभीष्ट मार्ग ईश्वर द्वारा मुक्ति और जीवनमुक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। अन्य मार्ग, जैसे कि हठ योग आदि-आदि मनुष्य-कृत हैं, उन्हें श्रेष्ठ मार्ग नहीं कहा जा सकता।

मनुष्यों के नाम-रूप और देवताओं के नाम-रूप से न्यारा है, क्योंकि परमात्मा स्वयं भी मनुष्यों और देवताओं से न्यारा और श्रेष्ठ है। वर्ना, एक ओर परमात्मा के साथ 'पिता' का सम्बन्ध मानना और दूसरी ओर उसे रूप से न्यारा अर्थात् अरूप मानना तो युक्ति-युक्त बात नहीं है।

परमात्मा का दिव्य नाम और दिव्य रूप

परमात्मा को 'निराकार' इसलिए कहा जाता है कि जैसे आत्माओं ने मनुष्यों-जैसा स्थूल आकार धारण किया हुआ है अथवा ब्रह्मा, विष्णु या शंकर - जैसा देवाकार या सूक्ष्म आकार धारण किया हुआ है, परमात्मा का वैसा आकार नहीं है क्योंकि परमात्मा का पिण्ड अथवा शरीर है ही नहीं। **परमात्मा का तो अशरीरी, दिव्य, ज्योतिर्मय ही रूप है; इसी कारण परमात्मा को 'ज्योतिस्वरूप' कहते हैं। जैसे आत्मा प्रकाशमय बिन्दु-रूप है वैसे ही परमात्मा भी ज्योतिर्मय बिन्दु ही हैं। परमपिता परमात्मा के इस दिव्य रूप का साक्षात्कार दिव्य दृष्टि के द्वारा जब वृहत् रूप में होता है तो लिंगाकार बिन्दु अथवा अण्डाकार ज्योतिकण ही होता है जिसकी याद में भारत में स्थान-स्थान पर शिवलिंग स्थापित किए-हुए हैं। ज्योति-बिन्दु होने के कारण ही परमात्मा को 'निराकार' कहते हैं क्योंकि 'बिन्दु' के तो कोई कोण या रेखाएं नहीं होती। बिन्दु-सम रूप वाले निराकार परमात्मा मनुष्यात्माओं का कल्याण करने वाले हैं, इसलिए उनका गुणवाचक नाम अथवा दिव्य नाम 'शिव' है।** यहाँ 'शिव' से हमारा अभिप्राय शंकर से नहीं है।

परमपिता परमात्मा के इस बिन्दु रूप अथवा लिंग रूप को केवल भारत में आदि सनातन धर्म वाले ही नहीं बल्कि विश्व के प्राय: सभी मनुष्य, चाहे वे किसी धर्म के अनुयायी हों, किसी-न-किसी रूप में मान्यता देते हैं। मुसलमानों के यहाँ भी मक्का शरीफ में इसी आकृति का एक पत्थर है जिसे वे 'संगे असवद' कहते हैं। हज़ करने वाले सभी मुसलमान उसे दूर से 'चूमते' हैं। यहूदी तथा ईसाई भी मानते हैं कि बाईबिल में मूसा (Moses) ने भी भगवान् का साक्षात्कार 'दीपक की लौ' के रूप में किया था। आज भी सभी मन्दिरों में दीपक जगाया जाता है और गिरिजाघरों में भी मोमबत्ती जगाई जाती हैं क्योंकि उसकी लौ 'ज्योतिस्वरूप परमात्मा' की प्रतीक है। आज पतंजलि योग

परमात्मा का प्यारा परिचय

आज परमात्मा का परिचय न होने के कारण कई लोग तो किसी देवता को 'परमात्मा का साकार रूप' मानकर उस पर मन को ध्यानस्थ करने का यत्न करते हैं और अन्य कई नासिका के अग्र भाग पर या मोमबत्ती की लौ पर या किसी पुष्प के मानसिक चित्र पर चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास करते हैं क्योंकि वे मानते हैं कि परमात्मा का तो कोई रूप है ही नहीं। आत्मा के बारे में तो प्राय: लोग मानते हैं कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्योति-बिन्दु है जो कि मानव-देह में भृकुटि में निवास करता है। परन्तु परमात्मा के बारे में वे मानते हैं कि वह सर्वव्यापक है, या तो कई लोग कहते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है। सोचने की बात है कि यदि आत्मा ही परमात्मा है तब तो 'योग' शब्द ही निरर्थक हो जाता है क्योंकि 'योग' का अर्थ 'मिलन' (Union) अथवा सम्बन्ध (Connection) है और मिलन अथवा सम्बन्ध दो में होता है। अत: 'अहम् ब्रह्मोस्मि' या 'शिवोऽहम्' मानना भूल है क्योंकि परमात्मा तो हमारे परमपिता हैं जो कि ब्रह्मलोक से धर्म-ग्लानि के समय इस मनुष्य-सृष्टि में अवतरित होते हैं। परमात्मा का दिव्य रूप भी है परन्तु वैसा नहीं है जैसा कि लोग कोई शारीरिक (साकार) रूप मानते हैं। अत: अब हम परमात्मा के संक्षिप्त परिचय का उल्लेख करते हैं ताकि उसे जानकर योगाभिलाषी उसी पर मन एकाग्र कर सकें।

परमपिता परमात्मा का प्यारा परिचय

परमात्मा में विश्वास रखने वाले सभी लोग परमात्मा को 'निराकार' तो मानते ही हैं परन्तु वे 'निराकार' शब्द का यह अर्थ लेते हैं कि परमात्मा का कोई आकार अथवा रूप नहीं है। परन्तु आप ही सोचिए कि यदि परमात्मा का कोई भी रूप नहीं तो परमात्मा से हमारा सम्बन्ध कैसे जुट सकता है, हम उससे स्नेह कैसे कर सकते हैं, वह भी हमारे प्रेम के उत्तर में हमें अपना अलौकिक प्रेम कैसे प्रदान कर सकता है? पुनश्च, यदि परमात्मा का कोई नाम और रूप नहीं तो हम उस 'गुणी' को याद कैसे कर सकते हैं और उसकी याद अथवा योग का जो सर्वोत्तम सुख गाया हुआ है वह सुख कैसे लूट सकते हैं? अत: मालूम रहे कि परमात्मा का नाम और रूप तो है लेकिन वह नाम और रूप

का अभ्यास करने वाले लोग भी मोमबत्ती जगाकर 'लौ' पर मन को एकाग्र करने का पुरुषार्थ करते हैं, परन्तु क्या ही अच्छा हो यदि वे सीधे (Direct), साक्षात् ज्योतिस्व-रूप परमात्मा ही के उस चेतन रूप पर मन स्थित करें! आप देखेंगे कि दक्षिण भारत में 'रामेश्वर' (राम के भी ईश्वर) के रूप में तथा वृन्दावन में, उत्तर भारत में गोपेश्वर (श्री कृष्ण के भी ईश्वर) के नाम से शिव-प्रतिमा मिलती है। परन्तु इसका परिचय न होने के कारण आज लोग इस स्वरूप का लाभ नहीं ले पाते। वे यह नहीं जानते कि जैसे 'महात्मा' शब्द कोई लम्बाई-चौड़ाई के अधिक होने का वाचक नहीं है, बल्कि गुण में एवं कर्त्तव्यों के उच्च होने का सूचक है, वैसे ही 'परमात्मा' शब्द भी सर्वव्यापकता का वाचक नहीं है बल्कि गुणों एवं कर्त्तव्यों की दिव्यता का बोधक है। अत: जैसे 'आत्मा' भी ज्योति-बिन्दु रूप है और 'महात्मा' भी (अधिक लम्बा-चौड़ा न होकर) ज्योति-बिन्दु ही है, वैसे ही परमपिता भी 'ज्योति-बिन्दु' ही हैं। परमात्मा को 'ज्योतिस्वरूप तथा निराकार तो सभी मानते हैं परन्तु 'बिन्दु' ही निराकार है — यह न जानने के कारण वे परमात्मा के 'ज्योति-बिन्दु' रूप पर योग नहीं लगाते और, इसलिए, सर्वश्रेष्ठ प्राप्ति से वन्चित हैं।

इसके अतिरिक्त, शिव के मुक्तेश्वर, पाप-कटेश्वर, विश्वेश्वर, महाकालेश्वर, गोपेश्वर, रामेश्वर, त्रिभुवनेश्वर, स्वयंभू, अरमनाथ, सोम-नाथ, ओंकारेश्वर, त्रिमूर्ति इत्यादि जो अन्य नाम हैं उनसे भी सिद्ध है कि यह रूप निराकार परमपिता परमात्मा ही का है क्योंकि यह नाम किसी मनुष्य अथवा देवता के गुण, कर्म, स्वभाव, प्रभाव या कर्त्तव्य के वाचक नहीं हैं बल्कि एक परमपूज्य परमात्मा ही के वाचक हैं।

इसके अतिरिक्त, शिव की जो 'शिव-लिंग' नाम की मूर्तियाँ मिलती हैं, वह भी इस सत्यता को सिद्ध करती हैं। वर्ना, आप ही सोचिये कि जबकि श्रीकृष्ण, श्री राम, विष्णु, शंकर इत्यादि की मूर्तियाँ शरीर के आकार वाली होती हैं तो शिव की मूर्ति अर्थात् शिवलिंग अशरीरी आकार वाली क्यों होती है और उसे 'ज्योतिर्लिंगम्' के रूप में क्यों पूजा जाता है? स्पष्ट है कि इसका एकमात्र कारण यही है कि शिवलिंग अशरीरी, कल्याणकारी एवं ज्योतिस्वरूप परमपिता ही की पार्थिव मूर्ति हैं।

परमपिता परमात्मा का दिव्य धाम

यह शिव ही ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के भी रचयिता होने के कारण 'त्रिमूर्ति' कहलाते हैं और इस प्रकार शंकर देवता से भिन्न हैं और इस मनुष्य-लोक के सूर्य-तारागण इत्यादि से भी परे जो देवाकारी ब्रह्मा, विष्णु और शंकर की पुरियाँ हैं, उनके भी परे शिवपुरी जिसे ही ब्रह्मलोक, परलोक, परमधाम अथवा निर्वाणधाम भी कहते हैं और जहाँ ही निर्वाण अवस्था में मनुष्यात्माएं भी निवास करती हैं, वहाँ निवास करते हैं, और इस प्रकार, 'परब्रह्म-परमेश्वर' अथवा 'पारलौकिक पिता' भी कहलाते हैं। आज बहुत-से लोग परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं परन्तु हमने इस लेख के पश्चात् दूसरे लेखों में स्पष्ट किया है कि वास्तव में परमात्मा का दिव्य रूप है, वह सर्वव्यापक नहीं है।
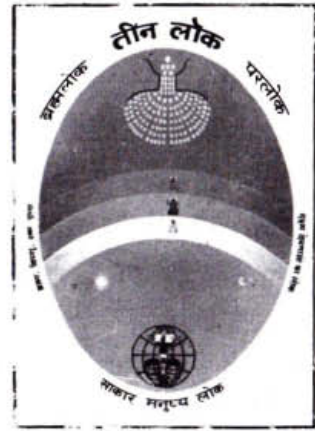
'शिव' नाम से परमात्मा के तीनों सम्बन्ध भी सिद्ध होते हैं क्योंकि 'शिव' का अर्थ 'कल्याणकारी' है और पिता, शिक्षक तथा गुरु -- यह तीनों ऐसे सम्बन्धी होते हैं जो मनुष्य का सदा कल्याण ही सोचते हैं और उसके कल्याण ही के लिए कोशिश करते हैं। इसलिए, अशरीरी शिव ही मनुष्यात्माओं के पारलौकिक माता-पिता और अविनाशी शिक्षक और सद्‌गुरु हैं; इस कारण ही उनकी महिमा में न केवल "त्वमेव माताश्च पिता" ही कहा गया है बल्कि "त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव" भी कहा गया है।

परमात्मा का अवतरण अथवा दिव्य जन्म

परमात्मा के इन सम्बन्धों का जो गायन है, उससे सिद्ध है कि परमात्मा ने कभी माता-पिता, शिक्षक, गुरु इत्यादि के सम्बन्ध से कोई कर्त्तव्य किए हैं और मनुष्यात्माओं का कल्याण भी किया है, उनके पाप-बन्धन काटे हैं और उन्हें मुक्ति तथा जीवनमुक्ति देने का कर्त्तव्य भी किया है, तभी तो मनुष्यात्माएं आज तक परमात्मा को इन सम्बन्धों से और 'शिव', 'पापकटेश्वर', 'मुक्तेश्वर', 'पतित-पावन', 'सद्‌गतिदाता' इत्यादि नामों से याद करती हैं। बिना सम्बन्धों अथवा कर्त्तव्यों के तो कोई भी किसी को याद नहीं करता। अत: यह जानना भी ज़रूरी है कि परमात्मा शिव इन सम्बन्धों से मनुष्य मात्र को

कब मिलते हैं और कब शिक्षा अथवा ज्ञान देते हैं तथा सम्पूर्ण पवित्रता, सुख और शान्ति का अथवा मुक्ति और जीवन्मुक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार देते हैं।

अब, यह तो साधारण विवेक की बात है कि निराकार परमात्मा ने साकार रूप लेकर अर्थात् अवतरित होकर ही तो वे कर्त्तव्य किये होंगे क्योंकि मनुष्यात्माएं साकार हैं और उन्हें ज्ञान सुनाने के लिए तथा उनके सम्मुख श्रेष्ठ कर्म का आदर्श उपस्थित करने के लिए और उनको मुक्ति और जीवन्मुक्ति का मार्ग बतलाने के लिए, अर्थात् प्रैक्टिकल रूप में उनका सद्‌गुरु बनने के लिए परमात्मा का भी साकार रूप में होना आवश्यक है। पुनश्च, परमपिता परमात्मा इस सृष्टि-मंच पर तभी तो अवतरित होते होंगे जबकि इस सृष्टि में अज्ञान, अशान्ति, पापाचार, भ्रष्टाचार और अधर्म अपनी चरम सीमा पर हों क्योंकि तभी तो ज्ञान, शान्ति, श्रेष्ठाचार और धर्म की अत्यन्त आवश्यकता होती है।

अत: यह मालूम रहे कि निराकार, ब्रह्मलोक के वासी परमपिता परमात्मा कलियुग के अन्तिम चरण में, जबकि सतयुगी पावन सृष्टि की स्थापना का समय होता है, अवतरित होते हैं। परन्तु वह कर्मातीत हैं और मनुष्य-मात्र के पिता-शिक्षक-गुरु हैं, इसलिये वह किसी माता के गर्भ से जन्म नहीं लेते, वे किशोर रूप धारण नहीं करते, अर्थात् किसी लौकिक माता-पिता का लालन-पालन नहीं लेते, क्योंकि माता के गर्भ से जन्म और माता-पिता इत्यादि द्वारा लालन-पालन तो जन्म-मरण और कर्म-बन्धन वाली ही आत्माएं लेती हैं। त्रिभुवनेश्वर शिव तो स्वयंभू हैं, उनके कोई माता-पिता नहीं होते। वह तो एक साधारण, वृद्धावस्था वाले मनुष्य के तन में दिव्य प्रवेश, जिसे ही 'पर-कायाप्रवेश' भी कहा जा सकता है, करते हैं ताकि उसके मुख का आधार लेकर वह ज्ञान दे सकें और मनुष्यात्माओं को पिता, शिक्षक तथा गुरु के रूप में सब प्राप्तियाँ करा सकें। जिस मनुष्य के तन में परमपिता परमात्मा अवतरित होते हैं उसको वह 'प्रजापिता ब्रह्मा' नाम देते हैं। यही कारण है कि प्रजापिता ब्रह्मा को भी कई कलाकार तीन मुखों वाला अथवा चार मुखों वाला चित्रित करते हैं (जैसा कि पुष्कर में एक मन्दिर में स्थापित की गई ब्रह्मा जी की मूर्ति से स्पष्ट है) क्योंकि उनके तन में ब्रह्मा, विष्णु, शंकर और धर्मराज के रचयिता परमात्मा शिव ने प्रवेश किया था। प्रजापिता ब्रह्मा के मुख द्वारा ज्ञान देकर ही परमात्मा मनुष्यों को मरजीवा जन्म देते हैं और, इसलिए, 'परमपिता', 'परमशिक्षक' और 'परम सद्‌गुरु' कहलाते हैं।

परमात्मा के दिव्य कर्त्तव्य

कलियुग के अन्त और सतयुग के आदि के शुभ संगम समय पर प्रजापिता ब्रह्मा

के माध्यम से ज्ञान के द्वारा सत्धर्म अथवा सतयुगी सृष्टि की स्थापना का कार्य करने के अतिरिक्त, निराकार परमात्मा शिव महादेव शंकर के द्वारा कलियुगी सृष्टि का महाविनाश भी कराते हैं। परिणामस्वरूप, प्रायः सभी मनुष्यात्माएं देह से मुक्त होकर तथा धर्मराजपुरी में अपने विकर्मों का दण्ड भोगकर निर्वाणधाम (शिवपुरी) में मुक्त अवस्था को प्राप्त होती हैं और इस महाविनाश के पूर्व जो मनुष्यात्माएं प्रजापिता ब्रह्मा के द्वारा दिये गए ईश्वरीय ज्ञान और सिखाए गए सहज राजयोग की शिक्षा प्राप्त करके अपने जीवन को पवित्र करती हैं, वे भी कुछ काल निर्वाणधाम में रहने के बाद सतयुग और त्रेतायुग की सम्पूर्ण सुख-शान्ति सम्पन्न दैवी सृष्टि में राज्य-भाग्य अथवा जीवन्मुक्ति भोगती हैं।

उस ईश्वरीय ज्ञान और राजयोग को अपने जीवन में धारण करने के फलस्वरूप प्रजापिता ब्रह्मा और उनकी मुखवंशी-कन्या जगदम्बा सरस्वती उस ईश्वरीय ज्ञान के द्वारा सतयुग के आरम्भ में क्रमशः पवित्र श्री नारायण और पवित्र श्री लक्ष्मी के रूप में अटल, अखण्ड तथा निर्विघ्न राज्य करते हैं। उनकी आठ पीढ़ियां चलती हैं। १२५० वर्ष के बाद त्रेतायुग में श्री सीता और श्री राम का सुख-शान्ति सम्पन्न राज्य होता है जिसको आज तक भारतवासी 'राम राज्य' के नाम से याद करते हैं। त्रेता युग में चन्द्रवंश की बारह पीढ़ियाँ १२५० वर्ष तक चलती हैं परन्तु दैहिक सम्बन्धों में बरतते-बरतते तथा सुख की प्रालब्ध समाप्त हो जाने के बाद वही दैवी स्वभाव वाली आत्माएं वाम मार्ग में चली जाती हैं अर्थात् देह-अभिमानी हो जाती हैं। तब वे काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि विकारों के वशीभूत होने लगते हैं और विकारों तथा दुःख से छुटकारा पाने के लिए अनेक प्रकार के यज्ञ, तप, वेद, शास्त्र, पूजा, भक्ति, योग इत्यादि शुरु करते हैं परन्तु मनुष्य-सृष्टि में दिनोंदिन तमोगुण, कलह, अशान्ति, अधर्म, पापाचार इत्यादि बढ़ता ही जाता है और, इस प्रकार, २५०० वर्षों अथवा ६३ जन्मों के बाद, आखिर पुनः कलियुग का अन्त आ पहुँचता है।

जब ऐसा तमोप्रधान समय आ पहुँचता है, तब सत्य धर्म की अथवा दैवी सम्प्रदाय की पुनः स्थापना के लिए निराकार परमपिता परमात्मा शिव सतयुगी श्री नारायण के अन्तिम अर्थात् ८४वें जन्म वाले वृद्ध तन (जिसको वह फिर 'प्रजापिता ब्रह्मा' नाम देते है) में प्रवेश होकर, पुनः सहज ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग सिखलाते हैं और, इस प्रकार, पुनः मनुष्य मात्र की गति और सद्गति करते अर्थात् उन्हें मुक्ति और जीवनमुक्ति का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार प्रदान करते हैं। अन्ते, वह सभी मनुष्यात्माओं को मुक्ति देने के लिए, शंकर के द्वारा कलियुगी, देह-अभिमानी, ईश्वर-विमुख

भारतवासी मनुष्यों (जिन्हें ''कौरव'' कहना चाहिए) को प्रेर कर गृह-युद्धों के द्वारा तथा रूस, अमेरिका तथा यूरोप के देह-अभिमानी, आसुरी और ईश्वर-विमुख वैज्ञानिकों (जिन्हें ही वास्तव में 'यादव' कहना चाहिए) को प्रेर कर महाभारी मूसलों, अणुबमों तथा प्राकृतिक प्रकोपों इत्यादि के द्वारा महाविनाश कराते हैं।

परमात्मा को 'पिता', 'शिक्षक' तथा 'गुरु' मानने का कारण और परमात्मा से प्राप्ति

इस प्रकार, मनुष्यात्माओं को ज्ञान द्वारा मरजीवा जन्म देने और मुक्ति तथा जीवनमुक्ति का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार देने के कारण ही परमात्मा को 'परमपिता' अथवा 'सद्‌गुरु' कहते हैं क्योंकि 'पिता' कहते ही उसको हैं जो जन्म और जन्म-सिद्ध अधिकार दे और 'सद्‌गुरु' कहते ही उसको हैं जो सद्‌गति दे। परन्तु आज लोग भले ही परमात्मा को 'पिता' के सम्बन्ध से याद करते हैं, तो भी यह नहीं जानते कि वह हमारा पिता कैसे है और उससे हमें क्या वर्सा (विरासत अथवा जन्म-सिद्ध अधिकार) प्राप्त होता है।

अब आप ही सोचिए कि ऐसा सम्पूर्ण और सर्वोच्च जन्म-सिद्ध अधिकार देने वाले और सद्‌गति देने वाले परमपिता परमात्मा को कितना याद करना चाहिए! परन्तु आज लोग आत्मा ही को परमात्मा मानने के कारण अथवा परमात्मा के साथ सम्बन्ध न जानने के कारण उसे यथार्थ रीति से याद नहीं कर सकते और उससे सम्बन्ध अर्थात् योग भी नहीं जुटा सकते। आज सृष्टि के सतयुग से लेकर कलियुग के अन्त तक का चक्र न जानने के कारण और परम-आत्मा से पिता, शिक्षक, गुरु रूप में मिलने का समय भी न जानने के कारण वे उससे इन सम्बन्धों से मिल भी नहीं सकते और उससे ईश्वरीय ज्ञान तथा योग का भी लाभ नहीं उठा सकते।

हमने ऊपर संक्षेप में जो परिचय दिया है उससे स्पष्ट है कि वर्तमान समय कलियुग का अन्तिम चरण है क्योंकि आजकल पापाचार, भ्रष्टाचार और अधर्म का पूरा ज़ोर है। मनुष्यात्माएं परमपिता परमात्मा से विमुख हैं और उनके जीवन में दु:ख और अशान्ति है। परमपिता परमात्मा शिव महादेव शंकर को प्रेरकर इस पतित एवं आसुरी सृष्टि के महाविनाशक साधन तैयार कर चुके हैं।

''परमात्मा ज्योतिस्वरूप बिन्दु रूप हैं'' – यही मन्तव्य योग का सही आधार है

सभी ईश्वरवादी लोग परमात्मा को सत्-चित्-आनन्द स्वरूप तो मानते ही हैं। अद्वैतवादी लोग परमात्मा के लक्षण बताते हुए उसे 'पूर्ण ज्ञान'* कहते हैं। वस्तुत: दोनों लक्षणों में कोई अन्तर नहीं है बल्कि बात एक ही है क्योंकि जो पूर्ण ज्ञान का अधिष्ठाता होगा वह आनन्द का सागर तो होगा ही क्योंकि ज्ञान ही तो आनन्द देने वाला है। फिर, ज्ञान तो चेतन में ही हो सकता हैं। अत: जो 'पूर्ण ज्ञान' है, वह आनन्द के अतिरिक्त चित् भी हुआ ही। इसके अतिरिक्त, विचार करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि 'पूर्ण ज्ञान' भी उसी में हो सकता है जिसका अस्तित्व तीनों कालों में अटूट, अखण्ड और अपरिवर्तित रहता है। अत: वह सत् भी हुआ ही। इस प्रकार जहाँ तक परमात्मा के लक्षणों का प्रश्न है, वहाँ इस सीमा तक तो सभी ईश्वर-विश्वासी लोग एक मत हैं कि परमात्मा सत्-चित्-आनन्द और ज्ञान-स्वरूप हैं। और अधिक स्पष्ट एवं सरलता से कहना हो तो कहा जा सकता है कि – ''परमात्मा ज्ञान का सागर, आनन्द का सागर, शान्ति का सागर और प्रेम का सागर है।''

परमात्मा के बारे में किस विषय में मत-भेद है?

अब परमात्मा के पूर्वोक्त लक्षण मानते हुए भी कई लोग तो परमात्मा को एक सर्वव्यापक सत्ता, अर्थात् एक 'लोक-आत्मा' (Cosmic Soul) मानते हैं और अन्य कई उसे ब्रह्मलोक, सत्यलोक, परलोक, गोलोक, शिवलोक, परमधाम, सातवें आसमान या हाइएस्ट हैवेन (Highest - Heaven) या इम्पीरियन (Empyrian, तेजोलोक) का वासी मानते हैं। सिद्धान्त की दृष्टि से और निष्पक्ष भाव से देखा जाय तो भारत में शैव मत की कई शाखाओं के अनुयायी, कई वैष्णव लोग, जैन लोग और संसार के लगभग सभी ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि भी परमात्मा की सत्ता को सर्वव्यापक नहीं मानते बल्कि उसकी दृष्टि ही को व्यापक मानते हैं। अब यह सर्वमान्य सिद्धान्त बता देने

** ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म*

के बाद कि परमात्मा सत्-चित्त्-आनन्द स्वरूप है, हम कहाँ इस बात पर विचार करेंगे कि वह सर्वव्यापक है या किसी लोक विशेष का वासी है।

१. शब्द प्रमाण

प्रश्न उठता है कि परमात्मा को सर्वव्यापक किस आधार पर माना जाय? जो लोग वेदों और अद्वैत वेदान्त आदि-आदि को मानने वाले हैं, वे कहते हैं कि — ''परमात्मा के स्वरूप के परिचय के बारे में 'शब्द प्रमाण' ही सब से मुख्य प्रमाण है।'' 'शब्द प्रमाण' क्या है? इसके स्पष्टीकरण के लिए एक उदाहरण देना ठीक होगा। एक बच्चा जब पैदा होता है तब तो वह अबोध होता है, मासूम होता है। उसे क्या मालूम कि उसके माता-पिता कौन हैं अथवा उसे किसने पैदा किया? उसे माता-पिता स्वयं ही बताते हैं कि वह उनका बच्चा है अथवा, उसके मित्र-सम्बन्धी ही उसके पिता का उसे परिचय देते हैं। परन्तु उन सम्बन्धियों ने भी उस बच्चे के माता-पिता द्वारा ही यह जाना होता है कि वह उनका बच्चा है। अत: निर्णय यह हुआ कि मात-पिता के 'शब्द' प्रमाण हैं कि वह उनका बच्चा है; इसका अन्य कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, उस बच्चे की आकृति अथवा गुणों का भी अपने माता-पिता से साम्य हो सकता है और वह साम्य भी इस बात का संकेतक हो सकता है कि यह उनका बच्चा है, परन्तु वह भी गौण बात है; मुख्य प्रमाण तो यही है कि उसके माता-पिता के ये अपने वचन अथवा 'शब्द' हैं कि — 'यह हमारा बच्चा है।' फिर, माता-पिता से सुन कर ही बच्चा उनसे वह सम्बन्ध जोड़ देता है और जब देखता है कि उनसे स्नेह, लालन-पालन आदि मिलता है तो उसे और अधिक निश्चय होता है कि वे उसके माता-पिता हैं। परन्तु उसके लिए मूल प्रमाण तो माता-पिता के शब्द ही हैं। तो अद्वैतवादियों के कहने का भाव यह है कि परमात्मा अपना परिचय स्वयं दे सकता है और उसके अपने शब्द हैं कि वह सर्वव्यापक है। ये शब्द प्रमाण हैं। अब हम इस कथन को स्पष्ट करेंगे

शब्द प्रमाण पर विचार

प्रश्न उठता है कि — ''क्या परमात्मा ने शरीरधारी होकर ये शब्द कहे ?'' ऐसा तो नहीं हो सकता क्योंकि जो सर्वव्यापक है वह भला शरीर कैसे धारण कर सकता है? इसके अतिरिक्त, वह तो कर्मातीत है जबकि शरीर सदा 'कर्मफल' पर आधारित होता है। तीसरे, स्वयं शास्त्रों में भी लिखा है कि परमात्मा क्लेश, कर्म-विपाक* और नस-नाड़ी

---

* *न्याय दर्शन*

के बन्धन से सदा-मुक्त है। अतः स्वयं अद्वैतवादी और वेद-वादी लोग भी कहते हैं कि परमात्मा ने कोई अपना शरीर लेकर यह नहीं कहा कि वह सर्वव्यापक है। तब भला परमात्मा के ये शब्द कैसे हो सकते हैं कि – "मैं सर्वव्यापक हूँ।"

क्या परमात्मा ने ऋषियों को प्रेरणा देकर कहा कि – "मैं सर्वव्यापक हूँ ?"

वे लोग कहते हैं कि परमात्मा ने ऋषियों को प्रेरित करके यह बताया कि वह सर्वव्यापक है। परन्तु सोचने की बात है कि – "यह कैसे मान लिया जाय कि परमात्मा उन ऋषियों में व्यापक था और उनमें व्यापक होते हुए उसने उन्हें प्रेरित किया ? यही बात तो सिद्ध करनी है कि परमात्मा सबमें व्यापक है और ऋषियों में भी व्यापक था। तो जो बात अभी सिद्ध ही नहीं हुई है, उसे पहले से मानकर चलना – यह तो प्रमाण की कोई विधि ही नहीं है। सर्वव्यापक सिद्ध करने से पहले ऋषियों में उन्हें व्यापक मानना और ऋषियों में व्यापक सिद्ध करने के लिए उसे सर्वव्यापक मानना - यह तो 'अन्योन्याश्रय' (Argument in circle) नाम का दोष है। यह प्रमाण तो ठीक नहीं है। ऐसे प्रमाणों के कारण ही तो विचारवान लोग नास्तिक हो गए हैं! इन्हीं प्रमाणों के कारण ही तो लोग बौद्ध और जैन भी बन गए !!

दूसरी बात यह है कि यह कैसे माना जाय कि यह विचार स्वयं ऋषियों का अपना नहीं था बल्कि इसके लिए स्वयं परमात्मा ने उन्हें अन्तः प्रेरणा (Intuition) दी थी ? भला बताइये तो सही कि अपने विचार तथा दूसरे की (परमात्मा की) प्रेरणा में क्या अन्तर होता है ? आम तौर पर जब हम कहते हैं कि –"इस कार्य के लिए हमें अमुक व्यक्ति ने प्रेरणा दी थी", तो हमारे कहने का या तो यह अभिप्राय होता है कि 'हमारा विचार तो इससे भिन्न था परन्तु उस व्यक्ति के आग्रह, अनुरोध, परामर्श या सम्मति के फलस्वरूप हमने यह कार्य किया' या हमारा भाव यह होता है कि – "हमने तो इस तरह का कोई विचार ही नहीं किया था, हमारे मन में कोई ऐसा संकल्प ही न था परन्तु उस व्यक्ति ने हमें यह सुझाया।" तो "परमात्मा ने ऋषियों को प्रेरणा दी" – इस विचार से क्या हम ऐसा मानें कि ऋषियों का अपना मत परमात्मा को सर्वव्यापक मानने के सिद्धान्त से विपरीत था और तभी उन्हें यह आभास हुआ कि हम तो परमात्मा को सर्वव्यापी नहीं मानते परन्तु कोई और हमारे अन्दर है जो हमारे न सोचने अथवा न समझने पर भी हमें बता रहा है कि – "मैं सर्वव्यापक हूँ"? यदि कोई कहे कि – "हाँ, परमात्मा ने ऋषियों को प्रेरित किया" – इस वाक्य का ऐसा ही भाव है तो एक तो ऐसा

कहीं भी लिखा हुआ नहीं है और, दूसरे, एक आदमी के अन्दर उसके अपने भी तो दो विपरीत विचार हो सकते हैं? अत: हम यह कैसे कह सकते हैं कि दूसरा विचार स्वयं ऋषियों का अपना नहीं था? क्या एक ही व्यक्ति के मन में कई बार दो विचार– जिनमें से एक अधिक प्रबल और एक कम प्रबल हो, नहीं चलते? 'ऋषि-मुनि' तो कहा ही उनको जाता है जो कि मनन करें तथा सत्य की खोज करें, तो यह क्यों न माना जाय कि यह उनका अपना ही मत था कि परमात्मा सर्वव्यापक है; यह परमात्मा द्वारा प्रेरित सत्य नहीं था।

तीसरी बात यह है कि अनुभवी लोग यह जानते हैं कि जब-कभी कोई जिज्ञासु उच्च स्थिति वाले किसी योगी के पास बैठता है तो उस योगी के आत्मिक प्रभाव से भी उसके बहुत से प्रश्नों का समाधान उसे बिना पूछे ही अपने मन में सूक्ष्म रीति से मिलने लगता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह योगी आत्मा कोई उसके अन्दर रहती है। अत: जबकि प्रेरणा बाहर से भी मिल सकती है तब अन्त: प्रेरणा मानने का क्या कारण है?

चौथी बात यह है कि आत्मा तो स्वयं भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। परमात्मा को उससे भी अधिक सूक्ष्म मानकर उसके व्यापक मानने का क्या कारण और क्या प्रमाण है? जबकि हम यह देखते हैं कि कोई योगी आत्मा अथवा अशुद्ध आत्मा भी किसी के तन में (न कि उस आत्मा में) प्रविष्ट होकर या सन्निविष्ट होकर, उसके तन को माध्यम बनाकर अपनी इच्छानुसार बोलती या कर्म करती है, तब हम कैसे मानें कि परमात्मा 'आत्मा में' व्यापक होकर अन्त: प्रेरणा देते हैं? वह सन्निविष्ट होकर, अर्थात् आत्मा के साथ एक ही तन में बैठ कर भी तो उस तन को अपना माध्यम बना सकते हैं? यदि यह माना जाय तब तो परमात्मा के किसी विशेष रूप का होना सिद्ध होता है, न कि सर्वव्यापक होना?

इन्हीं बातों पर विचार करने से आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि ऋषियों में परमात्मा को व्यापक मानना युक्ति-संगत नहीं है, ये वाक्य स्वयं परमात्मा द्वारा प्रेरित भी नहीं हैं। ऋषियों को प्रेरणा देने के लिए परमात्मा को व्यापक मानने की भी ज़रूरत नहीं है, न ही परमात्मा के प्रथम पुरुष (First Person) में ये महावाक्य हैं कि – "मैं सर्वव्यापक हूँ।" यदि यह कहा जाय कि जिन ग्रन्थों में यह लिखा हुआ है कि – 'परमात्मा सर्वव्यापक है', और उन ग्रन्थों को हम प्रभु-प्रेरित इसलिए मानते हैं कि उनमें बहुत उच्च ज्ञान दिया गया है, तो यह बात भी नहीं बनती क्योंकि उनमें लिखी हुई बहुत-सी बातों की सत्यता प्रमाणित ही नहीं हो सकती और कई बातें असत्य भी सिद्ध हो चुकी हैं। उनमें लिखा यह सर्वव्यापकता का सिद्धान्त ही ग़लत सिद्ध हो रहा है तब अन्य

सिद्धान्तों की क्या बात रही? पुनश्च, उनमें कोई भी बात ऐसी नहीं लिखी हुई जो कि मनुष्य अपने मनन-चिन्तन अथवा खोज या साधना के आधार पर न बता सके। अत: उसे ईश्वर-प्रेरित मानने का कोई कारण नहीं है। फिर, उनमें परमात्मा की जो भक्ति अथवा उनमें जो प्रार्थनायें इत्यादि लिखी हुई हैं, उनसे भी सिद्ध है कि वे प्रभु-प्रेरणा पर आधारित नहीं हैं बल्कि मनुष्यों ने उन्हें अपनी-अपनी समझ और अनुभव के आधार पर लिखा है क्योंकि स्वयं परमात्मा ने तो अपने लिये भक्ति-पूर्ण शब्द नहीं कहे होंगे?

२. प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रमाणों में प्रत्यक्ष की भी गणना की गई है। परन्तु यह बात सभी लोग मानते हैं कि परमात्मा एक दिव्य और सूक्ष्म सत्ता है, जिसका इन चर्म-चक्षुओं अथवा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। किन्तु, ईश्वर-विश्वासी लोग यह मानते हैं कि परमात्मा का 'दिव्य प्रत्यक्ष' हो सकता है, अर्थात् उसे 'दिव्य-चक्षु' द्वारा देखा जा सकता है।

क्या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा परमात्मा का अस्तित्व सर्वव्यापक सिद्ध होता है ?

अब विचार करने पर आप मानेंगे कि देखा उसी वस्तु को जा सकता है जो रूपवान हो। चर्म-चक्षु का विषय प्रकृतिकृत रूप होता है और दिव्य चक्षु द्वारा दिव्य रूप वाली वस्तु ही को देखा जा सकता है। तो स्पष्ट है कि यदि परमात्मा का कोई रूप ही न हो तो उसके दिव्य-प्रत्यक्ष का कोई अर्थ ही नहीं निकलता है और यदि उसका कोई रूप हो तो उसे 'सर्वव्यापक' मानना निरर्थक है।

फिर, दर्शन अथवा दिव्य साक्षात्कार के लिए द्रष्टा और दृश्यमान वस्तु के बीच फासला अथवा रिक्त स्थान होना ज़रूरी है, वर्ना देखना रूपी क्रिया हो ही नहीं सकती क्योंकि हरेक क्रिया के लिए स्थान का होना आवश्यक है। इससे भी सिद्ध है कि यदि परमात्मा का दिव्य-प्रत्यक्ष (साक्षात्कार) नहीं होता तब तो प्रमाण के बिना उसे सर्वव्यापक मानना भी निराधार है और यदि उसका दिव्य प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार होता है तब तो उसका दिव्य रूप मानना चाहिए और उसको 'सर्वव्यापक' मानना ग़लत है।

अगर यह कहा जाय कि जब हम परमात्मा का साक्षात्कार अथवा दिव्य-प्रत्यक्ष करते हैं तो हम एक प्रकाश-सा देखते हैं जिसका कि कोई रूप नहीं होता बल्कि वह फैला हुआ होता है और उसी फैलाव के कारण ही हम उसे सर्वव्यापक मानते हैं, तो यह भी तर्क ठीक नहीं है। हमारे इस कथन के मुख्य तीन कारण हैं।

फैले हुए प्रकाश का प्रत्यक्ष दर्शन करने से भी परमात्मा सर्वव्यापक सिद्ध नहीं होता

पहला तो यह है कि यह उक्ति प्रसिद्ध है कि – "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु-मूरत देखी तिन तैसी।" जो लोग परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हैं, उन्हें साक्षात्कार अथवा दिव्य प्रत्यक्ष भी एक फैले हुए तत्व का होता है और यह वास्तविक अनुभव तो है नहीं परन्तु इससे उनकी भ्रान्ति पक्की हो जाती है क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा तो कुछ बोल कर उन्हें कुछ समझा नहीं सकते और किसी आकृति में यदि परमात्मा प्रकट होकर उनसे कुछ कहें तो परमात्मा को सर्वव्यापक मानने वाले कट्टर-पंथियों को उसमें विश्वास नहीं होगा क्योंकि उसे वे परमात्मा ही नहीं मानेंगे। अत: "जैसा भाव, वैसा देव" की उक्ति, जो कि स्वयं शास्त्रों में वर्णित है, से भी सिद्ध है कि यह प्रत्यक्ष दर्शन ठीक नहीं, यह तो केवल भावना का फल है। स्वयं गीता में भी भगवान् का कथन है कि – "जो जिसको भजता है उसे मैं उसका दर्शन कराता हूँ परन्तु मैं उन सबसे भिन्न हूँ।"

दूसरे, आजकल के मनोवैज्ञानिक भी कहते हैं कि – मनुष्य को कई बातें जो अनुभव होती अथवा भासित होती हैं, वे उसके अपने विचारों का बाह्यकरण (Projection) होती हैं। मनुष्य जैसा सोचता है, कई बार वह वैसा ही देखता भी है। स्वप्न भी इस बात का प्रमाण है क्योंकि मनुष्य के दिन-भर जैसे विचार चलते हैं, तदनुसार ही वह रात्रि को स्वप्न में भी आकार देखता है। तो एक विचार अथवा मन्तव्य को लेकर वैसे ही सोचते रहने से मन का तदाकार हो जाना और फिर वैसा ही प्रत्यक्ष भी होना कोई बड़ी बात नहीं है। इस प्रत्यक्ष को सत्य न मानकर त्रुटिपूर्ण मानना चाहिए। आप देखेंगे कि किसी भी ऐसे व्यक्ति ने, जोकि पहले से ही परमात्मा को सर्वव्यापक न मानता हो, यह नहीं कहा कि – "मैं परमात्मा को सर्वव्यापक नहीं मानता था परन्तु मैंने उसे एक अत्यन्त विस्तृत, अनन्त प्रकाश के रूप में देखा।" विज्ञान भी बताता है कि दृष्टि में, दर्शन अथवा दर्पण में कई प्रकार के दोष होते हैं। आप यदि किसी कॉन्केव (Concave)*1 आइने में अपना मुख देखें तो वह आपकी वास्तविक आकृति से बड़ा दिखाई देगा और यदि कन्वैक्स (Convex)*2 दर्पण में देखेंगे तो वह छोटा दिखाई देगा। इसी प्रकार, अपने मन रूपी दर्पण या आईने में जिसने पहले से ही परमात्मा को सर्वव्यापक मानकर मन को एक प्रकार से कन्केव (Concave) बना रक्खा है, उसे परमात्मा का एक वृहद् रूप ही दिखाई देता है। इसी तरह दर्शन में भी दोष हो सकता है। उदाहरण

---

*1 नतोदर, अन्दर को झुका हुआ   *2 वृकोदर, बाहर को उभरा हुआ

के तौर पर मृग-तृष्णा, जिसे अंग्रेज़ी भाषा में मिराज (Mirage) कहते हैं, इसका एक उदाहरण है। पानी होता नहीं है परन्तु रेत जब धूप में चमकती है तो द्रष्टा को दूर से ऐसा लगता है कि सामने पानी है। फिर, यदि कम प्रकाश में मनुष्य देखे तो उसे साँप भी रस्सी मालूम होता है अथवा रस्सी भी साँप मालूम होती है। इसे लोग 'भ्रान्ति' अथवा 'प्रतीति मात्र' कहते हैं। इसी प्रकार, मनुष्य की अल्पज्ञता के कारण भी उसे कई मिथ्या दर्शन होते हैं, जिन्हें वह सत्य मान लेता है परन्तु वास्तव में वह है 'भ्रान्ति' ही। उसके बारे में स्वयं परमात्मा ही स्पष्टीकरण दे सकते हैं। परन्तु खेद की बात यह है कि वे परमात्मा को ही यथार्थ रीति से नहीं जानते और परमात्मा के अवतरित होने पर भी उन्हें न पहचानते हैं और न ही मानते हैं क्योंकि वे उसे सर्वव्यापक माने बैठे हैं। इसीलिए ही गीता में भगवान् के महावाक्य हैं कि – ''अनेक मूढ़मति लोग मुझे नहीं पहचानते, वे साधारण तन में आये हुए मुझ परमात्मा को तुच्छ समझते हैं।''

तीसरी बात यह है कि सूक्ष्म प्रकृति का भी तो व्यापक प्रकाश है। आज वैज्ञानिक लोग बताते हैं कि परमाणु अथवा ऐटम कई सूक्ष्म विद्युत कणों – इलैक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन, बोसान, एन्टी ओमेगा आदि-आदि का बना हुआ है और वायुमण्डल में इनका प्रकाश व्यापक है। वैज्ञानिक कहते हैं कि वातावरण में प्रकृति के अत्यन्त सूक्ष्म ऐन्टी पार्टिकल्स (Anti-Particles) हैं और कि पार्टिकल्स तथा ऐन्टी-पार्टिकल्स टकरा कर प्रकाश को पैदा किये रहते हैं। अत: हो सकता है कि मन को एकाग्र करने से उन्हें सूक्ष्म प्रकृति ही के प्रकाश-कण दिखाई देते हों अथवा प्रकृति का जो छटा तत्व 'ब्रह्म' तत्व है, उसका भी प्रत्यक्ष उन्हें हुआ हो और उसे वे भ्रान्ति से परमात्मा मान बैठे हों। आज विज्ञान भी मानता है कि इस सृष्टि से ऊपर भी प्रकृति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकाश (Gallaxies of Anti-matter) है। अत: इसी प्रकाश को देखना और इसके आधार पर परमात्मा को सर्वव्यापक मानना ग़लत है। यह परमात्मा का दिव्य प्रत्यक्ष करना नहीं है।

चौथी बात यह है कि अद्वैतवादी लोगों द्वारा यह जो कहा गया है कि – ''हम सर्वव्यापक परमात्मा का यथा-सत्य एवं पूर्ण साक्षात्कार तो नहीं कर पाते परन्तु जहाँ तक हम दिव्य-दृष्टि द्वारा देखते हैं, वहाँ तक फैला हुआ प्रकाश दिखाई देता है, उससे हम मान लेते हैं कि वह सर्वव्यापी ही होगा'' – यह कथन 'प्रत्यक्ष प्रमाण' के अन्तर्गत नहीं आता बल्कि यह 'अनुमान प्रमाण' के अन्तर्गत आता है क्योंकि कुछ फैलावट को देखकर अनुमान ही तो लगाया कि परमात्मा और भी अधिक फैला हुआ, सर्वत्र पहुँचा हुआ, अर्थात् सर्वव्यापक होगा। अत: इसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्वारा सिद्ध नहीं मानना चाहिए

अर्थात् सर्वव्यापक होगा। अत: इसे 'प्रत्यक्ष प्रमाण' द्वारा सिद्ध नहीं मानना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण का तो प्रत्यक्ष हुआ ही नहीं। इसलिए इसकी अधिक चर्चा हम आगे चलकर 'अनुमान प्रमाण' के अन्तर्गत करेंगे।

विचार करने के योग्य एक बात यह भी है कि आत्मा, जोकि अणु है, अर्थात् ज्योति-बिन्दु है, वह विभु अर्थात् सर्वव्यापक सत्ता को तो देख ही नहीं सकती। दूसरा यह कि वेदान्तवादी लोग परमात्मा को सर्वव्यापक सिद्ध करने के लिए स्वयं ही एक तर्क यह देते हैं कि – ''यदि परमात्मा सर्वव्यापक न होता, अर्थात् हरेक स्थान पर न होता तो वह हरेक के कर्मों को न देख सकता और सर्वज्ञ तथा फल-दाता भी न हो सकता।'' उनके इस तर्क का यह अर्थ है कि सब स्थानों पर देखने के लिए सर्वव्यापक होना ज़रुरी है। तो आपके इस तर्क के अनुसार हम पूछते हैं कि – ''सर्वव्यापक परमात्मा को देखने के लिये आत्मा का भी तो सर्वव्यापक होना ज़रूरी है? यदि परमात्मा सर्वव्यापक हुए बिना सर्व स्थानों को देख नहीं सकता तो आत्मा सर्व स्थानों पर उपस्थित हुए बिना भला परमात्मा को कैसे देख सकती है?'' स्पष्ट है कि वह भी नहीं देख सकती। अत: 'दिव्य प्रत्यक्ष प्रमाण' के आधार पर भी परमात्मा को सर्वव्यापक मानना ग़लत है।

साक्षात्कार अथवा प्रत्यक्ष क्या है?

फिर, आइये, हम ज़रा इस बात पर भी विचार कर लें कि दिव्य प्रत्यक्ष अथवा साक्षात्कार क्या होता है? इन्द्रियों द्वारा जो प्रत्यक्ष होता है, उसके बारे में तो सभी जानते ही हैं कि मन इन्द्रियों से युक्त होकर, अवधान (Attention) से देखता है। इन आंखों पर वस्तु का जो अक्स पड़ता है, उसे वे आंखें मस्तिष्क के पर्दे पर भेजती हैं और मस्तिष्क द्वारा ही मन अथवा बुद्धि उसे ग्रहण करते अर्थात् उसे देखते या समझते हैं। तो, अन्ततोगत्वा देखते मन या बुद्धि ही हैं। ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष में वे इन्द्रियों द्वारा देखते हैं परन्तु दिव्य प्रत्यक्ष में वे डायरेक्ट ही देखते हैं। जब मन या बुद्धि सूक्ष्मदर्शी हो जाते हैं, ब्रह्मचर्य व्रत, सात्विक व्यवहार आदि द्वारा स्वच्छ एवं निर्मल हो जाते हैं अथवा परमात्मा की कृपा से वरदान के रूप में दिव्य सत्ता – आत्मा, परमात्मा आदि को – देखने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, विकर्मों के बोझ, मल, विक्षेप आदि से रहित होते जाते हैं तथा एकाग्र होने की योग्यता वाले होते हैं तो वे जो दिव्य अनुभव अथवा दर्शन करते हैं, उसे 'दिव्य प्रत्यक्ष' कहते हैं। उसे ही 'मानसिक प्रत्यक्ष' या बौद्धिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। दिव्य प्रत्यक्ष क्या है, इसे समझने के बाद अब जानने के योग्य एक बात यह है कि चाहे आत्मा का स्वरूप कोई कैसा मानता हो, मन को तो अद्वैतवादी, द्वैतवादी या

त्रैतवादी, सभी 'अणु-सम' (Atomic) ही मानते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि यदि मन प्रकृतिकृत है तब तो उस द्वारा परमात्मा का दिव्य प्रत्यक्ष (मानसिक प्रत्यक्ष) मानना भूल है क्योंकि प्रकृति के किसी भी उपकरण द्वारा तो परमात्मा का साक्षात्कार हो ही नहीं सकता। फिर, अणु तो विभु (सर्वव्यापक) सत्ता का दिव्य प्रत्यक्ष कर ही नहीं सकता क्योंकि यह नियम हम बता आये हैं कि जो सीमा वाला है, वह असीम का दर्शन नहीं कर सकता। मानसिक प्रत्यक्ष, बौध्दिक प्रत्यक्ष या दिव्य प्रत्यक्ष (दिव्य साक्षात्कार, अपरोक्ष साक्षात्कार) का होना तो यह सिद्ध करता है कि परमात्मा का कोई दिव्य रूप है। अत: निष्कर्ष यह निकला कि परमात्मा को प्रत्यक्ष (दिव्य प्रत्यक्ष) प्रमाण द्वारा भी सर्वव्यापक सिद्ध नहीं किया जा सकता।

३. अनुमान प्रमाण

अनुमान प्रमाण द्वारा परमात्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध होती है या नहीं, इस पर विचार करने से पहले हम यह देख लें कि अनुमान प्रमाण होता क्या है? इसके लिए प्राय: अग्नि और धुएं का उदाहरण दिया जाता है। आपने कई बार यह प्रत्यक्ष देखा है कि जहाँ अग्नि होती है वहाँ धुआं भी होता है। अत: अब यदि आप किसी स्थान पर आकाश में ऊपर उठता हुआ धुआं देखते हैं परन्तु आपकी दृष्टि के सामने कई भवनों — वृक्षों आदि-आदि की रुकावट होने के कारण अग्नि दिखाई नहीं दे रही है, तो भी आप धुएं को देखकर अनुमान लगा लेते हैं कि जहाँ से धुआं निकलता हुआ दिखाई दे रहा है वहाँ अग्नि भी अवश्य होगी। दो सहगामिनी अथवा संगत बातों का इक्ट्ठा प्रत्यक्ष कई बार करने के बाद आप बाद में कभी एक को देखकर भी दूसरे के संगत अथवा उपस्थित होने का अनुमान कर लिया करते हैं। परन्तु यदि आपने कभी अग्नि और धुएं का प्रत्यक्ष किया ही न हो तो आप कदापि एक की उपस्थिति से दूसरे का अनुमान नहीं कर सकते। इससे निष्कर्ष यह निकला कि अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष पर आधारित है। प्रत्यक्ष के बिना अकेले अनुमान का कोई अस्तित्व नहीं है। यह बात सभी शास्त्रवादी तथा निष्पक्ष विचारक मानते हैं। अब इस बात को ध्यान में रखते हुए आप विचार कीजिए कि क्या अनुमान प्रमाण द्वारा परमात्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध हो सकती है?

हम पहले भी बता आये हैं कि सर्वव्यापक परमात्मा का प्रत्यक्ष या दिव्य-प्रत्यक्ष तो हो ही नहीं सकता। अत: जबकि प्रत्यक्ष नहीं हो सकता तो अनुमान कैसा?

परमात्मा के बारे में अनुमान एक अन्य प्रकार से हम करके देख सकते हैं, कैसे? आप देखते हैं कि लोहे में जब अग्नि व्यापक होती है तो स्पर्श करने से उसमें दाह का

व्यापकता लोहे में अनुमानित कर लेते हैं। इसी तर्क प्रणाली का प्रयोग आप कीजिये। परमात्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप और प्रेमस्वरूप हैं। तो यदि वह सर्वव्यापक है तो उसके गुण सभी में भासित होने चाहिये? परन्तु हम देखते हैं कि आज तो सभी में अशान्ति, द्वेष, क्रोध और विकार ही व्यापक हैं। अत: इससे तो परमात्मा की व्यापकता का अनुमान नहीं होता, बल्कि उसके विपरीत अथवा विरोधिनी शक्ति — माया की व्यापकता सिद्ध होती है। तो अनुमान प्रमाण के बल पर भी सर्वव्यापकता का सिद्धान्त टिकता नहीं है।

इसी प्रसंग में इस बात पर हम विचार कर लें जो बात पीछे एक अद्वैतवादी के मन्तव्य की हमने कही थी। हमने कहा था कि मान लो कोई अद्वैतवादी कहता है कि — ''मैंने आत्म-निष्ठ अथवा एकाग्रचित्त अवस्था में एक दिव्य प्रकाश का दर्शन किया जो कि काफी फैला हुआ-सा था। जहाँ तक हम देख सकते थे, वहाँ तक तो वह था ही। अत: इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह सर्वव्यापक है।'' अब क्या यह तर्क अनुमान प्रमाण के दृष्टिकोण से ठीक है? इसका उत्तर है — नहीं। इसमें दृष्टान्त का अभाव है और इसमें त्रुटि की भी पूरी सम्भावना है। कहने का भाव यह है कि एक तो यह ज़रूरी नहीं है कि विस्तार वाली सत्ता सर्वव्यापक ही हो। दूसरी बात यह है कि ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिससे यह सिद्ध किया जा सके। अद्वैतवादी इस विषय में प्राय: आकाश का दृष्टान्त देते हैं। वे कहते हैं कि जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक हमें आकाश ही आकाश दीखता है। तो उससे जैसे हम यह अनुमान लगाते हैं कि आकाश सर्वव्यापक अथवा सर्वत्र है, वैसे ही हम दिव्य प्रकाश के दिव्य दर्शन से भी यह अनुमान लगाते हैं कि परमात्मा भी सर्वव्यापक है।'' परन्तु गहराई से विचार किया जाय तो उनका यह दृष्टान्त भी ग़लत है क्योंकि आकाश तो दिखाई नहीं देता। आकाश तो 'खाली जगह' या 'रिक्त-स्थान' का पर्यायवाचक है, आकाश की कोई अपनी सत्ता तो है ही नहीं। अत: आकाश क्या है? — इस को न जानने के परिणामस्वरूप ही यह मिथ्या दृष्टान्त गढ़ लिया गया है। संसार में कोई भी एक सत्ता सर्वत्र या तीनों लोकों में तो है ही नहीं। तब अनुमान किस आधार पर हो सकता है कि परमात्मा सर्वव्यापक है?

४. आप्त प्रमाण

कुछ लोग कहते हैं कि आप्त वाक्यों के आधार पर परमात्मा को सर्वव्यापक माना जा सकता है? आप्त वचन क्या होते हैं? शास्त्रवादियों का कहना है कि जो लोग नि:स्वार्थ हैं, संसार से परे जंगल में कन्द-मूल पर गुज़ारा करते हुए साधना में लगे रहते

नि:स्वार्थ हैं, संसार से परे जंगल में कन्द-मूल पर गुज़ारा करते हुए साधना में लगे रहते हैं, उनके वचन को ग़लत मानने का कोई कारण ही नहीं है। वे भला हमें मिथ्या बात क्यों बतायेंगे? वह तो हित-वचन ही कहते हैं, उन्हें गलत कहकर हमसे कुछ लेना थोड़े ही है? अब इस विषय में सात बातों पर विचार करना ज़रूरी है –

(१) ऐसे मनीषी, साधु-सन्त या यती-सती तो हर धर्म और सम्प्रदाय में होंगे ही। क्या हम ऐसा मानें कि जैनियों या बौद्धों में ऐसे सिद्ध नहीं हुए? इन सम्प्रदायों के यहाँ भी चर्या पर बहुत ज़ोर दिया गया है, वे भी घोर तपस्या करते हैं। स्वयं बुद्ध और महावीर ने भी काफी त्याग एवं जंगलों में साधना की। उन्होंने तो यह नहीं बताया कि – "परमात्मा सर्वव्यापक है।" बल्कि, जैनियों का तो यह मन्तव्य है कि जब कोई आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो जाती है तो काल-बन्धन, कर्म-बन्धन, आवरण आदि के न रहने के परिणामस्वरूप वह सर्वव्यापक न होते हुए भी सब-कुछ देख सकने की सामर्थ्य वाली हो जाती है। बुद्ध तो परमात्मा के बारे में मौन ही रहे क्योंकि बहुत मनन के बाद भी यह बात उन्हें नहीं जँचीं कि कोई सर्वव्यापक अस्तित्व वाला परमात्मा हो सकता है? यही बात अन्य मुख्य धर्मों, जैसे कि यहूदियों, मुसलमानों तथा ईसाइयों के बारे में कही जा सकती है। तो प्रश्न यह उठता है कि जब त्यागी सन्तों के अनुभवों एवं वाक्यों में भी अन्तर हो तो कैसे निर्णय किया जाय? अवश्य ही तब विवेक अथवा प्रमाणों के आधार पर ही तो सिद्धान्त की सत्यता का निर्णय करना होगा? अत: आप्त प्रमाण कोई प्रथम-कोटि का प्रमाण नहीं है।

पुनश्च, उन ऋषियों-मुनियों ने भी तो किसी आधार पर ही परमात्मा को सर्वव्यापक माना होगा। वह आधार शब्द प्रमाण, प्रत्यक्ष प्रमाण या अनुमान ही हो सकता है जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। उन आधारों पर तो सर्वव्यापकता का सिद्धान्त टिकता नहीं।

तीसरे, यह क्यों माना जाय कि ऋषि-मुनि जो कुछ कह गये हैं वही अन्तिम कोटि का सत्य है? निश्चय ही वे सत्य के अन्वेषक थे, मनीषी थे, मननशील एवं त्यागी थे परन्तु इसका यह भाव लेना तो अपनी बुद्धि को एक प्रकार से ताला लगाना होगा कि उसके बाद या उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जैसे वे सत्य की खोज करने वाले मनुष्य थे, वैसे ही अब भी हो सकते हैं।

चौथी बात यह है कि जो ऋषि-मुनि थे,उन्होंने तो स्वयं ही कहा है कि – "हम परमात्मा का पार नहीं पा सकते; वह अपरम्पार है, उसकी गत-मत वही जानता है।" तो जो अल्पज्ञ है वह सर्वज्ञ का परिचय कैसे दे सकता है? जबकि वे स्वयं 'नेति-नेति' कहते

रहे तो उनके वचनों को अन्तिम सत्य (**Ultimate Truth**) मानना कहाँ तक हितकर और युक्ति-संगत है?

पाँचवी बात यह है कि अद्वैतवादी स्वयं ही कहते हैं कि परमात्मा का सत्य परिचय स्वयं परमात्मा ही दे सकता है, तब इन ऋषियों की बात की सत्यता पर विचार किये बिना इन्हें सत्य मानना कहाँ तक ठीक है?

छठवें, आप देखेंगे कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानने वाले ऋषियों में भी परस्पर कई बातों में मत-भेद है। उदाहरण के तौर पर — मुक्ति के स्वरूप के बारे में तथा मन आदि के बारे में भी मत-भेद का होना सिद्ध करता है कि उनके मन्तव्यों में भी त्रुटि हो सकती है, तब क्यों न सर्वव्यापकता के मन्तव्य के बारे में भी त्रुटि का होना सम्भव माना जावे?

सातवें, आप विचार करने पर इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि जिस काल में ऋषि-मुनि हुए, तब तो परमात्मा द्वारा मनुष्य सृष्टि को ज्ञान प्राप्त होने का समय ही नहीं था। ज्ञान देने का समय तभी होता है जब धर्म-ग्लानि हो, पापाचार चरम सीमा पर हो और आसुरी सम्प्रदाय अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ हो। स्वयं गीता इस बात को प्रमाणित करती है कि ज्ञान देने का समय तभी है जब संसार में मनोविकार तथा तमोप्रधानता प्रबल हो गये हों। अत: लोगों का यह जो मन्तव्य है कि सतयुग में ऋषियों को परमात्मा द्वारा यह सत्य ज्ञान मिला — यह भी प्रमाणित नहीं है। ज्ञान को समझा ही तब जा सकता है जब अज्ञान हो, सत्य का स्पष्टीकरण तभी होगा जब असत्य हो। इस युक्ति के आधार पर भी उन मनीषियों की हरेक बात को पूर्णत: सत्य मानना हठधर्मी ही है।

उन द्वारा मनन की हुई कई बातें सत्य हो सकती हैं और हैं भी। उन्हें तो सत्य मानना ही चाहिये। परन्तु जो सत्य नहीं हैं, उनसे मोह करना मिथ्यावाद है। उन मनीषियों का जैसा अनुभव रहा होगा, उन्होंने ठीक वैसा ही बताया — यह बात निर्विवाद है। उन्होंने झूठ नहीं कहा होगा। परन्तु उनकी हर बात, उनका हर अनुभव सम्पूर्ण था — ऐसा मानना गोया अल्पज्ञ को सर्वज्ञ मानने अथवा मनुष्य को भगवान् मानने की भूल करना है।

५. शास्त्र प्रमाण

कुछ लोग कहते हैं कि मनुष्यों का मत तो भिन्न-भिन्न हो सकता है, तर्क देने में भी एक-से-एक बढ़कर मनुष्य मिलते हैं, अत: अब हम क्या करें? हम तो इस झंझट को छोड़कर शास्त्रों पर ही निश्चय करते हैं। हमारे लिये तो 'शास्त्र' प्रमाण हैं। यदि

भगवान् भी कुछ आकर कहें तब हम उनकी बात को भी शास्त्रों से तोलेंगे। अब बताइये, इस संकीर्णता का क्या इलाज है? विचार कीजिये कि शास्त्र भी तो किसी मनुष्य ही ने लिखे होंगे? तो जबकि आप कह रहे हैं कि मनुष्य तो एक-से-एक बढ़कर तार्किक पड़े हैं, हम उनके झमेले में नहीं पड़ते; तो फिर शास्त्र भी तो मनुष्यों के ही हैं, उनके झमेले में आप क्यों पड़ना चाहते हैं? इसका तो यह अर्थ हुआ कि आप मौखिक रूप से किसी मनुष्य से तर्क-संगत बात भी सुनने के लिये तैयार नहीं हैं परन्तु लिखित रूप में आप कुछ भी पढ़ने को तैयार हैं? फिर, इसका यह भी भाव हुआ कि पहले जो-कुछ लिखा जा चुका है आप उसको तो 'शास्त्र' कहकर श्रद्धा की चीज़ मानते हैं। आज यदि कुछ लिखा जाये, चाहे वह कितनी ही युक्ति-संगत या हितकारी क्यों न हो, उसे आप अश्रद्धा की चीज़ मानकर त्याज्य समझते हैं? यह तो सत्य की खोज का कोई ठीक तरीका नहीं।

''परमात्मा भी आ जाए तो उसके वचनों की परीक्षा भी हम शास्त्र द्वारा करेंगे'' — यह क्या नीति है? कौनसे शास्त्र को कसौटी मानेंगे? यदि कहा जाय कि वेदों को कसौटी मानेंगे तो आज तो वेदों के भी लोग अनेक परस्पर-विरोधी अर्थ निकालते हैं,तभी तो मुख्य रूप से सनातन-धर्मी और आर्य समाजी दो अलग विचारधाराएं हैं फिर आप किस अर्थ, किस दृष्टिकोण, किस विचारधारा को अपनाकर परमात्मा की भी परीक्षा करेंगे? आप जो भी विचारधारा, अर्थ-प्रणाली आदि अपनाएंगे, वह भी तो मानव-मत पर ही आधारित होगी? तब भी तो वही त्रुटि रही? आज शैव पंथी, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य — सभी स्वयं को वेदानुकूल मानते हैं, तब कौन सत्य है — यह आप कैसे और किस शास्त्र द्वारा जानेंगे?

फिर, शास्त्र भी अनेक हैं। शास्त्रों में भी परस्पर विरोध है। छह दर्शनों की बात लीजिए। एक शास्त्र 'मुक्ति' के बारे में जो-कुछ मानता है, दूसरा उसका खण्डन करता है*1 तब आप किस शास्त्र को ठीक मानेंगे?

यदि आप कहें कि शास्त्रों में विरोध नहीं है तो हम पूछते हैं कि — ''तब अनेक शास्त्र लिखने की क्या आवश्यकता थी? एक शास्त्र में जो बात लिखी होगी, दूसरा उससे कुछ भिन्न कहना चाहता होगा, तभी तो उसने अलग शास्त्र लिखा होगा? यदि उसे भी वही कहना था तो उसे अलग शास्त्र की संज्ञा क्यों दी जाये? पूर्व शास्त्र-कर्ता के मत से उसका कुछ विरोध होगा अथवा उसमें उसने कोई कमी या अपूर्णता पायी होगी तभी तो उसे लिखने की आवश्यकता हुई? आवश्यकता तो अपूर्णता या अभाव ही का

---

*1 उदाहरण के तौर पर वैशेषिक दर्शन और न्याय दर्शन में इस बारे में मत-भेद है।

सूचक है। कर्म भी किसी-न-किसी अभाव ही को पूर्ण करने के लिये किया जाता है। तो क्या एक शास्त्र के होते हुए, दूसरे शास्त्र बिना किसी अभाव का अनुभव किये यों ही लिखे गये होंगे? इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट है कि शास्त्र को प्रमाण मानना और उस द्वारा प्रभु की भी परीक्षा करना — ऐसा कथन रुढ़िवादिता, संकीर्णता, जड़ता तथा प्रभु के अपमान का सूचक है और न्याय-संगत भी नहीं है।

पुनश्च, शास्त्रों में भी एक ऐसा शास्त्र हैं जिसे 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहते हैं; उसमें भगवान् के प्रथम पुरुष में महावाक्य हैं। यदि उस शास्त्र को लिया जाय तब उसमें भगवान् के जो महावाक्य हैं कि — 'मैं धर्म-ग्लानि के समय आता हूँ', 'सूर्य तथा तारागण से भी परे मेरा परमधाम है' तथा 'इस साधारण तन में अवतरित मुझ परमात्मा को लोग नहीं पहचान सकते' — इन तथा अन्यान्य महावाक्यों से तो भगवान् का सर्वव्यापक न होना सिद्ध होता है। इस शास्त्र से तो यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् अपना परिचय अवतरित होकर स्वयं देते हैं, वे प्रेरणा द्वारा नहीं देते और कि वह धर्म-ग्लानि के समय अवतरित होते हैं और जब अवतिरत होते हैं तब भी कोटि-कोटि शास्त्रवादियों में से कोई बिरला ही उन्हें पहचान सकता है। इससे तो गीता के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों की तो बात ही नहीं रहती, न अन्य युगों में सन्तों के आप्त वचनों की बात रह जाती है।

एक बात और है। वह यह कि शास्त्र प्रमाण तो एक प्रकार से शब्द प्रमाण ही है। इस प्रमाण पर हम पहले विचार कर आये हैं। जो लोग गीता को शब्द प्रमाण मानते हैं, वह परमात्मा को सर्वव्यापी नहीं मान सकते क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा के शब्द हो ही नहीं सकते क्योंकि शब्द आकाश अर्थात् रिक्त स्थान में होते हैं और परमात्मा को सर्वव्यापक मानने से कोई रिक्त स्थान नहीं रहता और यदि शब्दों को अन्तःकरण में स्फूरित माना जाय तो उसका कोई प्रमाण नहीं है। यह हम इस लेख के शुरु में ही सिद्ध कर आये हैं कि इसमें अन्योन्याश्रय... (Arguing in a Circle) पाया जाता है।

युक्ति प्रमाण

कई लोग इन प्रमाणों की संज्ञा को छोड़कर, सामान्य रीति से युक्तियाँ (Reasons) देकर ही सिद्ध करना चाहते हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक है। इसके लिये वे कई दलीलें देते, अनुभव पेश करते, ऐतिहासिक वार्ताओं का हवाला देते और दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। उन सभी युक्तियों का यहां उल्लेख करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे बड़ी सहज रीति से खण्डन की जा सकती है। सभी मुख्य युक्तियों का उल्लेख ज्ञानामृत के

डाला है। अत: फिर से उनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है।

अन्त में हम एक बात की चर्चा और करेंगे। कई लोग अन्य प्रमाणों की चर्चा छोड़ कर एक यह युक्ति पेश करते हैं कि – ''यदि परमात्मा की सर्वव्यापकता सिद्ध न भी हो सकती हो तो भी उसे ऐसा मान लेने में हित है क्योंकि यदि हम याद रखें कि परमात्मा सर्वव्यापक है और वह हमारे सभी कर्मों को देखता है तो हम पाप कर्मों से बचकर रहेंगे।'' परन्तु वास्तव में उनका वह कथन भी युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि हम देखते हैं कि जो लोग परमात्मा को सर्वव्यापक नहीं मानते अथवा परमात्मा के अस्तित्व को नहीं मानते – जैसे कि जैन या बौद्ध, कर्मों की पवित्रता पर तो वे लोग भी ध्यान देते हैं और, दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानने वाले भी बहुत से लोग कर्मों को श्रेष्ठ बनाने पर ध्यान नहीं देते। कर्मों को श्रेष्ठ बनाने के लिये तो पुनर्जन्म और हर कर्म का अनिवार्य फल मानना ज़रूरी है, न कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानना। पुनश्च, परमात्मा के सर्वव्यापक न होने पर भी उसे ऐसा मानना – यह तो स्वयं में ही एक असत्य अथवा झूठा कर्म है! तब इसके आधार पर कर्मों को श्रेष्ठ कैसे बनाया जा सकता है?

ऊपर जो चर्चा की गई है, इसका अभिप्राय सत्य का प्रकाश करना ही है। पाठक जैसा अपना मन्तव्य निर्धारित करें, वह उनकी इच्छा है। हरेक व्यक्ति सोचने-विचारने में स्वतन्त्र है। परन्तु उपरोक्त चर्चा से तथा आज भारत में और विदेशों में शिवलिंग के जो मन्दिर हैं, जो प्राचीन रीति-रिवाज और परम्परायें हैं, उन सभी से यही सिद्ध होता है कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं है बल्कि उनका स्वरूप ज्योति-बिन्दु है। शब्द प्रमाण, दिव्य प्रत्यक्ष अनुमान आदि-आदि सभी प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि परमात्मा शिव ही हैं, वे ज्योति-बिन्दु रूप ही हैं, उनका दिव्य प्रत्यक्ष भी हो सकता है। वास्तव में परमात्मा का ज्योति-बिन्दु रूप मानने से ही योगाभ्यास भी ठीक हो सकता है।

मन का महत्व

यह संसार बहुत ही अद्भुत वस्तुओं से भरा पड़ा है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो संसार की सब से अद्भुत सत्ता मन ही है। यों ताजमहल, टेलीफोन, टेलीविज़न अन्तरिक्ष यान (space ships) आदि-आदि अपनी तरह से बहुत ही अद्भुत एवं महत्वपूर्ण हैं परन्तु मन इन सब से अधिक अद्भुत एवं महत्वपूर्ण है क्योंकि इन सभी का निर्माण करने वाला मन ही होता है।

इसी प्रकार, संसार में विद्युत शक्ति, परमाणु शक्ति इत्यादि अनेक प्रकार की चमत्कारी शक्तियाँ हैं किन्तु इन सब से भी अधिक शक्तिशाली तो मन ही को मानना होगा क्योंकि इनको काबू करने वाला भी मन ही है।

संसार में जितनी चहल-पहल है, वह मन ही का खेल है। हम जितनी चीज़ें बनाते-संवारते या बिगाड़ते हैं, पहले उसकी रूप-रेखा मन ही में पैदा होती है, बाद में ही हम प्रकृति के साधन से उसे साकार रूप देते हैं। सारा इतिहास, समस्त विज्ञान, पूरी संस्कृति, समूचा व्यापार मन ही की अभिव्यक्ति है। अत: किसी ने कह दिया कि यह सृष्टि संकल्प ही से रची हुई है, अर्थात् जो कुछ हम देखते, करते और भोगते हैं, उसके पीछे मन अथवा संकल्प ही होता है। तो कल्पना कीजिये कि मन का कितना बड़ा महत्व है।

इस प्रकार मन के महत्व को जानते हुए ज़रा अनुमान कीजिए कि जैसे मन किसी प्रकृतिकृत विषय या वस्तु पर एकाग्र होकर इतने बड़े आविष्कार कर सकता है तथा प्राकृतिक शक्तियों को पा सकता है वैसे ही यदि उसे परमात्मा में एकाग्र किया जाये तो वह अवश्य ही ईश्वरीय शक्तियों अथवा दिव्य उपलब्धियों का भागी भी बन सकेगा।

क्या मस्तिष्क ही मन है?

चूँकि योगाभ्यास में मन को ही एकाग्र करना होता है, इसलिए यह समझने की ज़रूरत है कि मन है क्या चीज़?क्या मस्तिष्क (Brain) ही संकल्प-विकल्प करता है या मन (Mind) की सत्ता मस्तिष्क से भिन्न और पृथक है? आज संसार के सभी आस्तिक और नास्तिक लोग 'मन' के अस्तित्व को तो मानते हैं परन्तु प्राय: सभी नास्तिक लोग कहते हैं कि मनुष्य का मस्तिष्क ही सोचता, समझता या संकल्प करता है

अर्थात् मन की मस्तिष्क से कोई पृथक सत्ता नहीं है। अपने इस कथन को प्रमाणित करने के लिये वे प्राय: कम्प्यूटर (Computer) का उदाहरण देते हैं। पहले जो गणना, निर्णय इत्यादि मनुष्य स्वयं करता था, आज वह कार्य कम्प्यूटर कम समय में प्राय: ग़लती के बिना कर देता है। उन लोगों का कथन है कि "मस्तिष्क भी एक प्रकार का अद्भुत कम्प्यूटर है वही सोचने, समझने और निर्णय करने का कार्य करता है।" परन्तु निम्नलिखित बातों पर विचार करने पर आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उनका यह मन्तव्य ठीक नहीं है।

एक बात तो यह है कि मानव-समाज में समय-समय पर ऐसे बहुत-से व्यक्ति होते रहते हैं जो बाल्यावस्था में ही अपने पूर्व जन्म के समाचार सुनाते हैं और जब इन की सत्यता की परीक्षा की जाती है तो वे प्राय: ठीक सिद्ध होते हैं। अत: प्रश्न उठता है कि यदि मस्तिष्क ही में विचार, निर्णय, स्मृति इत्यादि की योग्यताएं हैं तो इस मस्तिष्क के जन्म से पहले की स्मृतियाँ, रुझान, विचार इत्यादि किसमें संग्रहीत रहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर आज तक कोई भी नास्तिक व्यक्ति या मस्तिष्क ही को मन मानने वाला व्यक्ति नहीं दे सका। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसे अतिमानसी अनुभव (बाह्य संवेदना, प्रत्यक्ष-बोध, Extra-Sensory perceptions) की संज्ञा देते हैं। अभी तक वे भी इनकी युक्ति-युक्त व्याख्या नहीं कर सके। परन्तु इतना तो स्पष्ट है ही की 'मस्तिष्क' को 'मन' का पर्यायवाची मानना अथवा विचार एवं स्मृति इत्यादि को मस्तिष्क ही कि उपज या योग्यताएं मानना भूल होगी। हाँ, यह कहा जा सकता है कि 'मन' मस्तिष्क में रहता है अथवा मन मस्तिष्क रूप साधन द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है।

दूसरी बात यह है कि स्वयं मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि मन की मूल प्रवृतियाँ (Instinct) जैसे कि निर्माण प्रवृति, खेल प्रवृत्ति, आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति इत्यादि अनादि काल से हैं, इनका कोई प्रारम्भ काल निर्धारित नहीं किया जा सकता। इससे भी तो स्पष्ट है कि हमारी यह मूल प्रवृत्तियाँ मस्तिष्क (जो कि हमारे इसी जन्म काल से हमारी खोपड़ी में सुरक्षित है) से पहले ही किसी अन्य सत्ता में तिरोभावित (Dormant) रहती हैं, अर्थात् वह सत्ता जिसे हम 'मन' कहते हैं वह मस्तिष्क से भिन्न है। मस्तिष्क द्वारा तो वह उन प्रवृत्तियों को साकार अथवा सक्रिय करता है। आज मनोवैज्ञानिक मन के जो तीन स्तर-चेतन (Conscious), अर्ध-चेतन (Sub-conscious) और अचेत (Un-conscious) अवस्था मानते हैं, वह अवस्थाएं भी मस्तिष्क से भिन्न किसी 'मन' को मानने से समझी जा सकती हैं। यदि मस्तिष्क ही मन हो तो अचेत अवस्था (Unconcious mind) की व्याख्या नहीं की जा सकती।

ध्यान देने के योग्य बात है कि आधुनिक काल के बहुत-से पाश्चात्य एवं भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने मन को 'न-पदार्थ'(Non-material) माना है। अर्थात्, उनका सिद्धान्त यह है कि मन कोई द्रव्य नहीं है; बल्कि गुण है अथवा योग्यता है। यह कोई पदार्थ या वस्तु नहीं है बल्कि शक्ति है। यदि मन को कोई पदार्थ या प्रकृतिकृत सत्ता मान लिया जाय तो प्रश्न उठेगा कि मन जब सुख- दु:ख से प्रभावित होता है अथवा किन्हीं परिस्थितियों का अनुभव करता है तब उसमें क्या अन्तर आता है? क्या मन में कोई रसायनिक परिवर्तन (Chemical changes) आते हैं? यदि हाँ, तो काफी समय के बाद मन को उन पूर्व वृत्तान्तों की पुन: स्मृति कैसे हो आती है जिस पदार्थ में रसायनिक परिवर्तन घटित हो चुके हैं, वह अपने से पहले एवं भिन्न जिस पदार्थ (जिसका अब अस्तित्व नहीं) का स्मरण कैसे कर सकता है? यदि कोई रसायनिक परिवर्तन नहीं होते तो मन का तन एवं मस्तिष्क पर कैसे प्रभाव पड़ता है? इस प्रकार के प्रश्नों पर विचार करने पर वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मन कोई पदार्थ नहीं है बल्कि किसी योग्यता या शक्ति की अभिव्यक्ति है।

पुनश्च, ऊपर, कम्प्यूटर का जो उदाहरण दिया गया है, वह यों तो बहुत ही संगत मालूम होता है किन्तु वास्तव में ऐसी बात है नहीं क्योंकि कम्प्यूटर में न तो निज अस्तित्व का भाव, अर्थात् - "मैं हूँ" — यह चेतना (Consciousness of self-existence) है, न उसमें सुख, दु:ख, अशान्ति की अनुभूति की योग्यता है, न भय, प्रेम, घृणा इत्यादि उद्वेग (Emotions) हैं, न ही उसके अस्तित्व का स्वयं उसके लिए कोई प्रयोजन (Purpose) है। उसका तो चालक भी उस से भिन्न, मनुष्य स्वयं ही होता है जो कि इच्छानुकूल उससे काम लेता है और एक विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये उसे बनाता है। अत: स्पष्ट है कि कम्प्यूटर में भी चेतना (Consiousness) या अनुभव शक्ति (Ability of Experiencing) या आवेश (Emotions) नहीं हैं जो कि 'मन' के मुख्य लक्षण हैं। कम्प्यूटर यह तो बता सकेगा कि इस सौदे में इतनी हानि हुई, परन्तु हानि के कारण उसे दु:ख का अनुभव नहीं होगा, न ही उसकी निवृत्ति के लिये इच्छा होगी, न ही हानि करने-वाले के प्रति घृणा और न ही उसे अपने अस्तित्व की कोई चिन्ता। अत: कम्प्यूटर का उदाहरण देकर मस्तिष्क को मन सिद्ध करने का यत्न करना निष्फल है। जैसे कम्प्यूटर विद्युतीय-चुम्बकीय (Electro-magnetic) शक्ति द्वारा चलित किन्हीं संवेदन-शील यन्त्रों के प्रयोग से गिनती, निष्कर्ष इत्यादि कर सकता है और ऐसे ही मस्तिष्क भी कर सकता है, परन्तु जैसे कम्प्यूटर द्वारा कार्य लेने वाला मनुष्य उससे अलग है, वैसे ही मस्तिष्क द्वारा काम करने वाला मन भी मस्तिष्क से अलग ही

है। ऐसी अन्य भी कई युक्तियों से यह बात सिद्ध की जा सकती है कि मस्तिष्क को 'मन' नहीं कहा जा सकता।

क्या मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार आत्मा की सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं ?

चिरकाल से मन के बारे में यह भी एक मान्यता रही है कि मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार 'अन्त:करण' अर्थात् आत्मा की सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। ऐसा मानने वाले लोगों का सिद्धान्त यह है कि प्रकृति का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप भी है जिसे आप 'परा प्रकृति' कह सकते हैं; मन उस का बना हुआ है। इसी विचारधारा के अन्तर्गत ऐसे भी लोग हैं जो इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि हमारे इस स्थूल शरीर, जो कि अन्न द्वारा बनने तथा बढ़ने के कारण 'अन्नमय कोष' (Gross sheath) कहलाता है, के अतिरिक्त एक हमारा 'प्राणमय कोष' भी है और एक मनोमय कोष (Mental sheath) भी है। इस सिद्धान्त को मानने वाले लोग ऐसा भी मानते हैं कि हम जो भोजन खाते हैं, उसका स्थूल भाग तो हमारे शरीर के काम आता है, परन्तु उसके अत्यन्त सूक्ष्माँश से हमारा मन निर्मित होता है। इस पर विचार करने से आप देखेंगे कि यह भी सत्य नहीं है।

पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्त में प्रकृति और आत्मा के मौलिक भेद को ही भुला दिया गया है। 'आत्मा' वह है जिसमें इच्छा (अथवा विचार), (सुख-दु:ख, शान्ति-अशान्ति के) अनुभव, विचार-युक्त प्रयत्न तथा संस्कार या स्मृतियाँ होती हैं परन्तु प्रकृति में ये योग्यताएं नही हैं; तभी तो आत्मा को 'चेतन' (Conscient) और प्रकृति को जड़ (Inconscient) माना गया है। अत: यदि कोई आध्यात्मवादी कहता है कि इच्छा, अनुभव, प्रयत्न इत्यादि करने वाला 'मन' प्रकृतिकृत है, तब तो गोया उसके अपने कथन में ही अन्त: विरोध (Inner contradiction) है क्योंकि यदि प्रकृति ही ऐसी योग्यता वाली हो तब तो आत्मा को अलग मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पुनश्च, मन को आत्मा की सूक्ष्म इन्द्रिय मानना तो यह सिद्ध करता है कि जैसे हमारी स्थूल इन्द्रियों को चलाने वाला इच्छा-शक्ति सम्पन्न मन है, वैसे ही, अन्ततोगत्वा मन को चलाने वाला इच्छा-शक्ति सम्पन्न आत्मा है। तो जबकि आत्मा भी इच्छा शक्ति सम्पन्न है, तब उससे अलग कोई प्रकृतिकृत मन का अस्तित्व मानने का आधार क्या है एवं उसकी आवश्यकता क्यों? यदि मन का प्रेरक या मन को चलाने वाला आत्मा नहीं है तो मन को आत्मा की सूक्ष्म 'इन्द्रिय' मानने का अर्थ क्या है? स्पष्ट है कि यह मन्तव्य ग़लत है।

आप देखिये कि 'अहंकार' को भी मन, बुद्धि तथा चित्त के साथ एक सूक्ष्म इन्द्रिय (अन्त:करण चतुष्टय) माना गया है। अहंकार का अर्थ "मैं हूँ" – यह भाव आप सोचिए कि यदि यह भाव ("मैं हूँ") स्वयं आत्मा में न हो तो फिर आत्मा की चेतना का अर्थ क्या हुआ? प्रकृतिकृत इन्द्रिय तो आत्मा के अस्तित्व के बारे में ऐसा सोच नहीं सकती क्योंकि प्रकृति में तो सोचने की योग्यता ही नहीं ; यदि हो भी तो वह अपने से अलग दूसरे के लिये "मैं हूँ" – ऐसा तो सोच ही नहीं सकेगी।

इसके अतिरिक्त, यदि मन से कोई सूक्ष्म कोष (Sheath) आवरण अथवा देह निर्मित है तो इससे यह सिद्ध हुआ कि मन अणु रूप नहीं है बल्कि बड़े आकार वाला है जिसने कि अणु रूप आत्मा को आवृत्त कर रखा है। ऐसा मानना तो ग़लत होगा क्योंकि सभी मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मवादी यह तो स्वीकार करते हैं कि एक समय पर एक ही ओर ध्यान देने वाला होने से, अथवा एक ही विषय या व्यक्ति को ग्रहण करने वाला होने से, मन अणु रूप है। तो जबकि मन अणु रूप है, तब वह अणु रूप आत्मा को आवृत्त कैसे कर सकता है; वह आत्मा के लिये कोई कोष या सूक्ष्म देह रूप कैसे हो सकता है; आवृत्त करने के लिये तो उसे आत्मा से बड़े आकार वाला होना चाहिये जो कि वस्तुत: है नहीं क्योंकि वह अणु रूप है।

प्रश्न यह भी है कि यदि मन सूक्ष्म देह है अथवा आत्मा की कोई आन्तरिक, सूक्ष्म इन्द्रिय है तो हमारी स्थूल देह में उसका स्थान कौनसा है और वह एक ओर आत्मा से तथा दूसरी ओर स्थूल देह से किस प्रकार सम्बन्ध जुटाये हुए है या दोनों में कैसे सामन्जस्य पैदा करता तथा कार्य के निमित्त बनता है? इस प्रश्न का उत्तर या तो इस सिद्धान्त को मानने वाले लोग नहीं दे सकते और या वे देह में मन के भिन्न-भिन्न स्थान बताते हैं। इससे सिद्ध है कि मन को इन्द्रिय मानना कोई सिद्ध कोटि का ज्ञान नहीं है।

फिर, वे इस बात का भी उत्तर नहीं दे सकते कि इस सृष्टि में पहली बार (चाहे कभी भी) आत्मा का जब आगमन या देह-धारण हुआ तो उसके रुझान एवं संस्कार या उसका मन उसे कैसे तथा किस स्थिति एवं वृत्ति वाला मिला होगा और वैसा मानने का क्या आधार है?

उनके पास इन प्रश्नों के उत्तर न होने के कारण ही आज कई शास्त्रकार तो 'मन' और 'बुद्धि' – दोनों को आत्मा से अलग मानते हैं, कई केवल मन को आत्मा से पृथक प्रकृतिकृत मानते हैं परन्तु बुद्धि को आत्मा ही की योग्यता या शक्ति मानते हैं*1 और

---

*1 *कपिल मनि ऐसा मानता है*

अन्य कई अहंकार को आत्मा ही की स्व-स्मृति मानते हैं। इस विषय में सभी का एक-मत नहीं है। यह कैसी विडम्बना है कि मनुष्य अपने मन को भी नहीं जानता। तभी तो एक पाश्चात्य दार्शनिक ने कहा है कि मनुष्य के लिये मन को जानना एक असम्भव-सी बात है।

मन और बुद्धि क्या है?

अब परमपिता परमात्मा ने मन तथा बुद्धि के बारे में जो ज्ञान दिया है, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि मन और बुद्धि आत्मा से अलग सत्ता नहीं हैं, न ही वे प्रकृतिकृत हैं बल्कि वे स्वयं आत्मा ही की चेतनता (Consciouness) की अभिव्यक्ति हैं। इसे हम कुछेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करेंगे :-

सभी जानते हैं कि बिजली एक शक्ति है। यह शक्ति जब हमारे रसोईघर में चीज़ों को पकाने या गरम करने के काम में आती है तो हम इसे 'अग्नि' या 'गरमी' (Heat) का नाम देते हैं। यही शक्ति हमारे रेफ्रिजरेटर (Refrigerator) में 'ठण्डक' (Cold) का काम करती है और बल्ब द्वारा हमें प्रकाश (Light) देती है। और यही मशीनों को चलाने के कार्य में शक्ति (Power) का काम करती है। अत: है तो यह बिजली ही परन्तु विभिन्न प्रयोगों, कार्यों या अभिव्यक्तियों के कारण इस एक ही शक्ति के विभिन्न नाम 'पावर' (Power) 'प्रकाश', 'ठण्डक', 'गरमी' इत्यादि होते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्मा रूपी शक्ति अथवा चेतनता जब इच्छा या संकल्प रूप में व्यक्त होती है तो हम कहते हैं कि 'मन' काम कर रहा है, जब वह निर्णय करती है तो हम कहते हैं कि 'बुद्धि' सोच रही है, जब वह स्मृति के रूप में व्यक्त होती है तो हम कहते हैं कि हमारा 'चित्त' काम कर रहा है। अत: मन, बुद्धि और चित्त आत्मा से भिन्न, प्रकृतिकृत नहीं हैं बल्कि इसी की ही विभिन्न शक्तियों अथवा योग्यताओं की अभिव्यक्तियों के नाम हैं जो कि व्यवहार में बात करने के लिए प्रयोग किये जाते हैं।

एक उदाहरण और लीजिये। एक व्यक्ति जब न्यायालय में दो वकीलों के तर्क को सुनता है और उनके मुकद्दमें का निर्णय करता है तो उसे 'जज' (न्यायाधीश) कहा जाता है। वही जब घर में लौटता है तो उसकी पत्नी उसे 'पति' और उसके पुत्र उसे 'पिता' कहते हैं। जब वह अपने मित्रों में जाकर उनसे हँसता और बहलता है तो वे उसे अपना 'दोस्त' या 'मित्र' कहते हैं। वह एक ही मनुष्य विभिन्न सम्बन्धों, कर्त्तव्यों अथवा व्यवहारों के कारण विभिन्न उपाधियों से जाना जाता है। ठीक इसी प्रकार, आत्मा के संकल्प को मन, निर्णय को बुद्धि, स्मृति को चित्त और निज अस्तित्व के भाव को

अहंकार कह दिया जाता है, यद्यपि न वे परस्पर अलग हैं, न ही वे आत्मा से भिन्न प्रकृतिकृत सत्ता है।

पुनश्च, चूँकि आत्मा भृकुटि में स्थित है और मस्तिष्क से सम्बन्धित है तथा उसी द्वारा इन योग्यताओं को व्यक्त करती है, इसलिए लोग यह मान लेने की भूल करते हैं कि मस्तिष्क ही सोचता तथा संकल्प करता है।

निद्रा, एकाग्रता इत्यादि का उदाहरण

जो लोग मन इत्यादि को आत्मा से अलग, सूक्ष्म प्रकृति का बना मानते हैं, वे अपने मत को कई अन्य उदाहरणों से स्पष्ट करना चाहते हैं। उदाहरण के तौर पर वे कहते हैं – ''आपने देखा होगा कि कई बार सोये हुए मनुष्य की आंखें खुली होती हैं। परन्तु सुषुप्ति में होने के कारण, वह मनुष्य, आंखें खुली होने पर भी, आंखों के सामने की वस्तुओं को देखता नहीं है। इसी प्रकार, जब कोई मनुष्य पूर्णतया प्रभु-मनन में तल्लीन होता है, वह भी अपनी खुली आंखों के सामने से गुज़रने वाले व्यक्तियों अथवा पदार्थों की ओर आकृष्ट नहीं होता। अत: अब सोचना यह है कि आत्मा के उपस्थित होते हुए और आंखें भी खुली होते वह कौनसा साधन रूप तीसरा पदार्थ है जिसका प्रयोग न करने के कारण मनुष्य आंखों से देखने का काम नहीं ले सकता। वह साधन 'मन' है क्योंकि वह आत्मा और आंख से तथा अन्य इन्द्रियों से पृथक है। अत: मन प्रकृतिकृत परन्तु सूक्ष्म है।''

परन्तु उन लोगों के (ऊपर दिये गए) उदाहरण पर यदि आप विचार करेंगे तो आप देखेंगे कि उनकी यह मान्यता सत्य नहीं है। बात यह है कि 'मन' [जो कि यहाँ स्वयं आत्मा ही की ध्यान अथवा अवधान (Attention) नाम की योग्यता-शक्ति का पर्यायवाची है] एक समय में एक ही व्यक्ति, पदार्थ अथवा क्रिया में तल्लीन हो सकता है, एक ही बात पर विचार कर सकता है, एक ही विषय का मनन अथवा रसास्वादन कर सकता है। अत: प्रभु-मनन में अथवा परमात्मा के ध्यान में जिस व्यक्ति का उदाहरण ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि उसका मन प्रयुक्त तो हो रहा हो परन्तु वह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य वस्तुओं से भिन्न किसी अन्य सत्ता (प्रभु) पर एकाग्र होने के कारण आंखों के खुला होने पर भी आंखों के विषय (Objects) को ग्रहण नहीं कर पा रहा। स्पष्ट है कि 'मन' यहाँ स्वयं आत्मा ही के ध्यान, अवधान, मनन, चिन्तन आदि की योग्यता एवं शक्ति है। अत: 'मन' को आत्मा से भिन्न कोई प्रकृतिकृत पदार्थ मानना, मन को न जानने ही के कारण है।

इसी प्रकार, सुषुप्ति भी स्वयं आत्मा ही की इस इच्छा, संकल्प अथवा भावना का प्रतिफल है कि — "मै संकल्प-प्रवाह को बन्द करुँ ताकि शरीर को विश्राम मिले।" अत: सत्यता तो यह है कि सुषुप्ति की स्थिति भी इस रहस्य का प्रमाण है कि मन आत्मा से पृथक कोई प्रकृतिकृत पदार्थ नहीं है और खुली आंखों का दृष्टान्त तो इस सत्यता को और भी पुष्ट करता है क्योंकि यदि मन (अथवा अंत:करण) आत्मा से पृथक कोई प्रकृतिकृत सत्ता होता तब तो आंखों के खुले होने पर 'देखने की क्रिया' अवश्य होती रहती क्योंकि मन तो विद्यमान था ही। अब सिद्ध है कि मन आत्मा से अलग नहीं है।

क्या प्राणायाम की क्रिया मन का पृथक अस्तित्व सिद्ध नहीं करती ?

कई लोग प्राणायाम जैसी क्रियाओं का उदाहरण देकर अपनी यह मान्यता सिद्ध करना चाहते हैं कि मन आत्मा से अलग है। प्राणायाम का अभ्यास मनुष्य चित्त के निरोध के लिए भी करते हैं। प्राणायाम द्वारा मन की चंचलता कुछ रुक जाने के कारण वे ऐसा मान लेते हैं कि मन एक प्रकृति ही का पदार्थ है जिसकी चंचलता को प्राणों के नियन्त्रण से रोका जा सकता है।

परन्तु सत्यता यह है कि प्राणायाम करने से तो आत्मा स्वयं की चेतनता को (अर्थात् संकल्प, विवेक, कल्पना, स्मृति) को बाह्य जगत में अर्थात् कर्म के रूप में व्यक्त करने के अयोग्य हो जाती है क्योंकि उस समय उसका ध्यान प्राण को रोकने में लगा होता है। प्राण को रोकने में ध्यान लगा होने के कारण वह दूसरा कुछ कर्म करे भी कैसे ? दूसरे, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध ही ऐसा है कि प्राण रोकने से नाड़ी-मण्डल, स्नायु-मण्डल तथा मस्तिष्क पर निष्क्रियता का प्रभाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप आत्मा उस समय इन्द्रियों से काम नहीं ले सकती। अत: प्राणायाम से संकल्पों का रुक जाना यह सिद्ध नहीं करता कि मन आत्मा से कोई अलग अन्य वस्तु है बल्कि इससे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा स्वयं ही संकल्पमय भी है जो कि अपने संकल्प-प्रवाह को रोकने का संकल्प करके, प्राणायाम का अभ्यास करती है और केवल प्राण की ओर ही मन लगा होने से, अन्य सब ओर से हट जाने के कारण एक प्रकार की एकाग्रता को प्राप्त होती है। संकल्प तो कुछ कर्म करने की भावना के कारण उठता है परन्तु प्राणायाम की उक्त अवस्था तो आत्मा का संकल्प प्राण को रोकने में लगा होता है, वह अन्य कोई कर्म नहीं करना चाहती है, उसी से लोग ग़लत धारणा बना लेते हैं कि मन भी अलग है। देखिये न, तो कुछ समय के पश्चात श्वॉस को बाहर फेंकना यही तो सिद्ध करता

है कि आत्मा ही अनुभवशील, विचारवान सत्ता तथा संकल्पमय भी है; उसने ही किसी प्रयोजन से प्राण को रोक रखा था और उसने ही अब संकल्प करके उसे छोड़ा है।

क्या आत्मा मन-बुद्धि से परे है?

कुछ विचारक कहते हैं कि – ''आत्मा को तो मन-बुद्धि से परे माना गया है।'' वे कहते हैं कि – ''आत्मा का तो अनुभव ही तब होता है जब हम मन से परे चले जाते हैं।'' अत: वे पूछते हैं –''क्या इससे यह विदित नहीं होता कि आत्मा मन-बुद्धि से अलग है ?''

''आत्मा मन-बुद्धि से परे है'' – यह उक्ति तो एक दृष्टिकोण से है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं जो मन को प्रकृतिकृत मानने वाले लोग लेते हैं। आत्मानुभूति के लिये हमें मन नाम के किसी सूक्ष्म, प्रकृतिकृत पदार्थ के पार नहीं जाना होता, बल्कि, मन की चंचलता, विकल्पों अथवा अशुद्ध स्मृतियों का निरोध करना होता है। मन की एकाग्रता ही के अर्थ में 'मन से परे होना' – यह वाक्यांश प्रयोग किया गया है।

इस उक्ति का एक और अर्थ भी है। आत्मा जब अशरीरी अवस्था में, इस जगत के भाव से पार निर्वाण धाम में होती है, वहाँ उसका मन (संकल्प, स्मृति, विवेक इत्यादि योग्यताएं) तिरोभावित या सुषुप्त (Dormant) होता है। उस स्वरूप-स्थिति अथवा निर्वाण अवस्था में भी आत्मा को 'मन-बुद्धि से परे' की (कर्मातीत, संकल्पातीत) अवस्था कहा जा सकता है। परन्तु उस अवस्था में भी मन, बुद्धि के तिरोभावित या लीन (Dorment) होने की जो बात यहाँ कही गई है, उससे स्पष्ट है कि वे आत्मा से पृथक प्रकृतिकृत नहीं है क्योंकि निर्वाण अवस्था में भी आत्मा निज सत्ता की स्थिति (अनुभव) में एवं सूक्ष्म स्मृति में तो होती है।

अतएव आत्मानुभूति के लिए मन और बुद्धि से परे जाने का यही रहस्य है कि आत्मा इस निश्चय अथवा स्मृति में स्थित हो कि – ''मैं आत्मा हूँ.....।''

क्या सत्, रज, तम आदि गुणों से मन का प्रकृतिकृत होना सिद्ध नहीं होता?

लोग प्राय: समझते हैं कि सत्, रज, तम नाम के तीन गुण प्रकृतिकृत मन के गुण हैं। उनकी मान्यता है कि ये तीन गुण प्रकृति के होते हैं और कि यदि मनुष्य के स्वभाव में इनमें से कोई गुण प्रधान है तो उसका कारण यही है कि प्रकृतिकृत मन में वह गुण प्रधान है।

परन्तु उनका यह मन्तव्य गलत है। सत्यता तो यह है कि ये तीनों गुण स्वयं आत्मा ही के हैं क्योंकि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि मन आत्मा से अलग नहीं और न ही प्रकृति का बना हुआ है।

सतयुग में मनुष्य 'देही-निश्चय-बुद्धि' (Soul-Conscious) थे। और तब सतो गुण प्रधान था क्योंकि उस समय लोगों के मन, वचन, कर्म, शुद्ध, सत्य तथा पवित्र थे। त्रेतायुग में आत्म-निश्चय की तथा दिव्य गुणों की पराकाष्ठा कुछ कम हुई और इसलिए सतोगुण भी अपनी सामान्य अवस्था तक उतर आया। इसी प्रकार, कलियुग में लोग देह-अभिमानी और आसुरी लक्षणों वाले होने के कारण तमोगुणी हैं।

तो मालूम रहे कि 'सतोगुणी', 'रजोगुणी' अथवा 'तमोगुणी' आत्मा ही को उसके विचारों, भावनाओं तथा कर्मों के आधार पर कहा जाता है। जबकि जड़ वस्तु में संकल्प ही नहीं उठ सकता तो मन को प्रकृति का मानना और सत्, रज, तम आदि गुण उस 'प्रकृतिकृत मन' को देना महान् भूल है।

सच्चाई तो यह है कि प्रत्येक युग में मनुष्यात्माओं की अवस्था (अथवा गुण) - परिवर्तन के परिणामस्वरूप ही प्रकृति में भी गुण-परिवर्तन होता है। सतयुग में प्रकृति में भी सतोगुण प्रधान होता है क्योंकि मनुष्यात्माएं मन, वचन, कर्म से सतोगुणी (अर्थात् सत्य, ज्ञान, गुण वाली) होती हैं। इसी प्रकार, दूसरे युगों में भी प्रकृति में जो गुण प्रधान होता है, उसका कारण मनुष्यात्माओं का अपना ही गुण होता है। यह रहस्य हम यहाँ एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं :-

अनुमान कीजिए कि हम एक ही प्रकार की भूमि में गन्ना, नींबू और मिर्च बोते हैं। अब आप देखेंगे कि यद्यपि भूमि किस्म तो समान है तथापि प्रत्येक प्रकार का बीज पृथ्वी में अपने-अपने अनुसार ही परमाणु आकृष्ट करेगा अथवा उनमें परिवर्तन ला देगा। भूमि की मिट्टी न सारी मीठी है, न खट्टी और न चटपटी। परन्तु बीज ही है जो अपने स्वभाव के अनुसार भूमि के परमाणुओं में स्वाद-विशेष ला देता है अथवा स्वाद-विशेष ही के परमाणु अधिक मात्रा में आकृष्ट करता है। अब, जैसे बीज, जल, वायु और पृथ्वी तत्व को अपने अनुकूल कर लेते अथवा उसमें से अपने अनुकूल तत्व खींच लेते हैं, वैसे ही आत्माएं भी अपने ही गुणों के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं को आकर्षित एवं प्रभावित करती हैं और इसी के फलस्वरूप प्रकृति में भी सत, रज तथा तम का प्रादुर्भाव होता है। अत: स्पष्ट है कि ये गुण वास्तव में आत्मा ही के हैं; वही प्रकृति में इन्हें लाती है।

यहाँ यह भी बता देना आवश्यक मालूम होता है कि जो अन्न या भोजन हम खाते

हैं, उस से हमारा मन नहीं बनता। हाँ, अन्न या भोजन हमारे मन पर प्रभाव अवश्य डालता है। अन्न हमारे स्नायुओं, तन्तुओं, रक्त, प्राण इत्यादि पर प्रभाव डालता है और, इसके परिणामस्वरूप, हमारे हृदय की गति, रक्त-संचार, रक्त-चाप और हमारे मस्तिष्क पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। चूँकि आत्मा तन्तु एवं स्नायु-मण्डल द्वारा मस्तिष्क से सम्बन्धित है और देह में वास करती है, इसलिये अन्न का प्रभाव उस पर भी पड़ता है। उदाहरण के तौर पर जब कोई व्यक्ति मद्यपान करता है या कोई अन्य मादक पदार्थ लेता है तो उससे उसके रक्त-संचार, हृदय की गति इत्यादि पर प्रभाव पड़ता है और उसके मस्तिष्क पर भी। आत्मा के ये साधन प्रभावित हो जाने से आत्मा पर भी उसका प्रभाव पड़ता है और आत्मा मस्तिष्क इत्यादि साधनों द्वारा जो अभिव्यक्ति करती है, उसमें भी उत्तेजना, उच्छृंखलता, विचारों में खलबली तथा भावावेश होता है। अत: यह कहना ग़लत है कि अन्न से मन बनता है; इसकी बजाय यह कहना युक्ति-संगत है कि अन्न का मन पर अर्थात् आत्मा की विचार शक्ति, निर्णय-पद्धति इत्यादि पर प्रभाव पड़ता है। यदि अन्न से मन बनता होता तो शराब पीने से मन वैसा ही रहता परन्तु हम देखते हैं कि ऐसा नहीं होता; बल्कि उत्तेजना इत्यादि के रूप में उसका प्रभाव पड़ता है जो कि समयान्तर में कम होता जाता है।

क्या प्रभाव अथवा लेप-विक्षेप आत्मा को होता है?

ऊपर हम ने कहा है कि सुख-दु:ख और शान्ति-अशान्ति की अनुभूति आत्मा को होती है और क्रोध, घृणा इत्यादि आवेश भी आत्मा में ही होते हैं तथा अन्न इत्यादि का प्रभाव भी स्वयं आत्मा पर पड़ता है – शरीर और मस्तिष्क इसमें केवल माध्यम ही हैं और मन भी आत्मा से अभिन्न है। बहुत-से लोगों का इससे भिन्न ही मत है। उनका कहना है कि आत्मा को किसी भी प्रकार का लेप और विक्षेप नहीं लगता। उनका यह मन्तव्य उनकी दो धारणाओं पर आधारित है। एक तो चूँकि प्राय: लोग मानते हैं कि आत्मा परमात्मा ही का अंश है और परमात्मा सदा शान्तिस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है, इसलिये आत्मा भी सदा शान्त और आनन्दमय है, गोया उसे कोई भी वासना, वृत्तान्त या कर्म एवं कारण प्रभावित नहीं करते। उनकी दूसरी धारणा यह मालूम होती है कि – "जिसका गुण-परिवर्तन हो वह अन्ततोगत्वा नाश को प्राप्त होता है, परन्तु आत्मा चूँकि अविनाशी और अनादि है, इसलिये वह गुणों तथा कर्मों से प्रभावित नहीं होती।" कई लोगों ने तो इन दोनों धारणाओं को यहाँ तक खींचा कि परमात्मा को भी 'निर्गुण' मान लिया अर्थात् शान्ति, आनन्द, प्रेम, करुणा इत्यादि को उसके गुण मानना अस्वीकार किया ! आत्मा को सदा साक्षी, अभोक्ता और विक्षेप से न्यारा बताने के लिये उन्होंने कई

दृष्टान्त दिये। उनमें से एक-दो का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं —

एक दृष्टान्त

वे कहते हैं कि — ''मान लीजिये कि एक लैम्प जल रहा है अथवा बल्ब से रोशनी आ रही है। लैम्प की चिमनी जिस रंग की होगी अथवा बल्ब जिस रंग का होगा, हमें प्रकाश का भी वैसा ही रंग प्रतीत होगा। हम कहेंगे कि इससे 'लाल रोशनी' या 'नीला प्रकाश' आ रहा है। परन्तु वस्तुत: रोशनी अपने स्वरूप में न लाल है, न नीली, वह तो उज्ज्वल ज्योति है, रंग तो चिमनी अथवा बल्ब के कारण ही भासित हो रहा है। लैम्प के अन्दर की लौ अथवा बल्ब के भीतर बिजली तो अप्रभावित है; उस पर तो कोई लेप नहीं लग रहा, वह तो मानों सदा न्यारी ही है। इसी प्रकार,आत्मा के सकाश से संसार में कार्य हो रहा है परन्तु बुराई-भलाई के जो रंग हमारे विचारों या कर्मों पर चढ़े हैं, यह 'मन' या 'चित्त' रूप चिमनी अथवा बल्ब ही के कारण है ; आत्मा स्वयं में सदा इन लेपों से अप्रभावित ही रहती है।''

दृष्टान्त पर विचार

उपरोक्त दृष्टान्त पर विचार करने से आप देखेंगे कि यह त्रुटिपूर्ण है और भ्रान्तियों पर आधारित है। यह तो सिद्ध किया ही नहीं गया कि मन लैम्प की चिमनी की तरह आत्मा से अलग उस पर आवरण-जैसा है। जो चीज़ सिद्ध नहीं हुई उसे सिद्ध मान कर उसके आधार पर दूसरा सिद्धान्त स्थापित या प्रतिपादित करना तो ग़लत ही है।

दूसरे, इस दृष्टान्त में यह सोच लिया गया है कि प्रकाश स्वयं 'निरंजन' तथा रंग-रहित होता है। ऐसा मानना भी ग़लत है क्योंकि जिस वस्तु को जलाने से प्रकाश पैदा होता है, उस प्रकाश का रंग उस वस्तु के परमाणुओं पर भी थोड़ा-कुछ आधारित होता है। उदाहरण के तौर पर फास्फोरस या गंधक को जलाने से जो प्रकाश पैदा होता है तथा मेगनेशियम को जलाने से जो प्रकाश पैदा होता है — उन दोनों के रंग में अन्तर होता है, उसमें चिमनी के रंग का प्रश्न ही नहीं है। ठीक इसी प्रकार, जो आत्मा जिस तरह के संकल्प करती है, उस संकल्प रूपी सामग्री के कारण वह वैसी ही भासित होती है।

तीसरे, यहाँ इस बात को भी ध्यान में नहीं रखा गया कि हमें प्रकाश का जो श्वेत या उज्ज्वल रंग दिखाई देता है, वास्तव में तो वह भी सात रंगों को मिला कर बना है; स्वयं अपने में श्वेत रंग कोई मूल रंग नहीं है। अत: यह कहना ग़लत ही तो हुआ कि प्रकाश का अपना कोई रंग नहीं होता। पुनश्च, हम देखते हैं कि जब सूर्य का प्रकाश

एक रंग-रहित प्रिज्म (Prism) में से गुज़रता है तो वह सात रंगों में विभाजित हो जाता है — यह भी प्रैक्टिकल रूप में कर के दिखाया जा सकता है। चिमनी का तो रंग था परन्तु यहाँ प्रिज्म का तो रंग है नहीं, तब प्रकाश का रंग कहाँ से आ गया ? इसलिये कि प्रकाश की किरणों का अपना-अपना रंग, अपना-अपना वेव लैंग्थ (तरंग लम्ब; **Wave lenght**) होता है। तो यह जो मान लिया गया है कि प्रकाश का तो कोई रंग नहीं है, चिमनी का ही प्रभाव है, यह भी ग़लत मान्यता है।

फिर, आप विज्ञान के दृष्टिकोण से देखेंगे तो मानेंगे कि प्रकाश चिमनी तथा उस-जैसी अन्य वस्तुओं को प्रभावित भी करता है और वस्तुएं प्रकाश को प्रभावित करती हैं। स्वयं चिमनी जो लाल दिखाई दे रही है, वह इसी कारण ही ऐसी दीखती है कि वह अन्य सभी रंगों की प्रकाश-किरणों को स्वयं में समा कर, लाल प्रकाश को फैंकती है। इससे स्पष्ट है कि प्रकाश भी चिमनी से प्रभावित होता है। विशेष बात यह भी है कि लैम्प इत्यादि की लौ तो अचेतन है जबकि आत्मा चेतन है और चेतन तो कहते ही उसको हैं जिसकी चेतना-संवेदनाओं तथा प्रभावों को हम समझ सकें या ग्रहण कर सकें। अतः यह मानना कि आत्मा अलेप्य है, ग़लत है।

पुनश्च, यह मानना कि परिवर्तन वस्तु का नाश कर देता है, भी पूर्णतः सत्य नहीं है क्योंकि परिवर्तन ऐसा भी हो सकता है जो कि सत्ता का नाश न करे परन्तु उसमें गुण-परिवर्तन के रूप में होकर, अपने कारण-कार्य का चक्र पूरा करके फिर तिरोभावित हो जाय जैसे कि पहले था। चक्राकार गुण-परिवर्तन से वस्तु का नाश नहीं होता है। अतः आत्मा सत् तो है परन्तु उस में अवस्थान्तर होता रहता है, उसकी चेतनता सृष्टि के विषय, व्यक्तियों और विचारों इत्यादि के प्रति सचेत होने से प्रभावित होती रहती है, सक्रिय भी होती है और उसका फल भी भोगती है। यही तो मन का महत्व है — वह मन जो कि चेतना ही का एक नाम है और इसलिए आत्मा से अभिन्न है।

आत्मा को निर्लिप्त और अकर्त्ता मानने वालों के एक अन्य दृष्टान्त पर विचार

जो लोग आत्मा को अकर्त्ता, अभोक्ता और निर्लिप्त मानते हैं, वे अपने मत की पुष्टि में प्रायः एक दृष्टान्त दिया करते हैं। वे कहते हैं कि "इस सृष्टि की तुलना हम एक कमरे से, आत्मा की उपमा एक जलती हुई ज्योति अथवा बत्ती से और शरीर अथवा कर्मेन्द्रियों की उपमा नर्तकों तथा गायकों आदि से कर सकते हैं। मान लीजिये कि किसी कमरे में एक बत्ती जल रही है। उस पर चिमनी चढ़ी हुई है। उसकी रोशनी में कुछ लोग

ढोलक-बाजा आदि साज़ बजा रहे हैं और अन्य नाच तथा गा रहे हैं। वे अनेक भावों को व्यक्त करने वाले गीत गाते हैं और कभी प्रसन्न मुद्रा और कभी शोक मुद्रा प्रदर्शित करते हैं। परन्तु बत्ती हर्ष और शोक — दोनों से न्यारी रहकर अपनी ज्योति देती जाती है। बत्ती और नर्तकों का सम्बन्ध केवल यही है कि बत्ती के बिना नाच होना असम्भव हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार, आत्मा भी एक ज्योति है, मन-बुद्धि उस पर चिमनी के समान हैं। शरीर अथवा कर्मेन्द्रियाँ ही नर्तकों तथा गायकों के समान हैं। कर्म-कर्ता शरीर ही है। नर्तकों तथा गायकों की तरह हर्ष और शोक भी शरीर अथवा कर्मेन्द्रियाँ ही भोगती हैं। आत्मा सदा एकरस तथा साक्षी है। शरीर के साथ उसका केवल इतना सम्बन्ध है कि कर्मेन्द्रियाँ उस ही के प्रकाश से कर्म करती हैं। जैसे लैम्प की बत्ती पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह मैली नहीं होती, कालिमा या मैल चिमनी को ही स्पर्श करती है, इसी प्रकार आत्मा भी सदा अलिप्त रहती है; मल, आवरण, विक्षेप, लेप आदि मन-बुद्धि ही को होता है। अब हम इस दृष्टान्त पर विचार करके देखेंगे कि यह सही है या गलत।

पहले तो इस दृष्टान्त में यह जो मान लिया गया है कि लैम्प पर चिमनी चढ़ी हुई है, उसका कोई आधार नहीं है। कमरे में बिना चिमनी के भी तो दीपक जल सकता है और दीपक की बत्ती भी धुआं देने वाली हो सकती है। अत: जबकि मन-बुद्धि आत्मा से अलग कोई चीज़ नहीं है तो लैम्प की चिमनी मानना ही ग़लत है।

दूसरी बात यह है कि कमरे में नाचने वाले नर्तकों तथा गायकों का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसमें लैम्प की बत्ती तो जड़ है जबकि नाचने और गाने वाले तो चेतन हैं। अत: चेतन नर्तक तो लैम्प के निष्क्रिय रहते हुए भी अपना नृत्य कर सकते हैं। परन्तु, शरीर और आत्मा का ऐसा सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसमें आत्मा ही चेतन बत्ती है और शरीर अथवा कर्मेन्द्रियाँ जड़ हैं। अत: कमरे में बत्ती के निष्क्रिय रहते हुए नर्तक और गायक तो नाच सकते हैं। परन्तु आत्मा यदि निष्क्रिय रहे तो शरीर या कर्मेन्द्रियाँ कर्म नहीं कर सकतीं। यह बात सुषुप्ति में भी देखी जाती है और मृत्यु अवस्था में भी। जब आत्मा शरीर में नहीं होती अथवा निश्चेष्ट होती है तो शरीर या कर्मेन्द्रियों को कर्म करने के लिये सकाश अथवा प्रेरणा देने वाली आत्मा ही है। कमरे में तो बत्ती बुझ जाने पर भी अभ्यासी नर्तक और गायक नाचना तथा गाना जारी रख सकते हैं परन्तु शरीर में आत्मा के न रहने पर शरीर बिल्कुल निष्क्रिय हो जाता है। अत: स्पष्ट है कि उपर्युक्त दृष्टान्त ही गलत है क्योंकि दृष्टान्त में नर्तक और गायक चेतन हैं और बत्ती जड़ है जबकि शरीर में इन्द्रियाँ जड़ हैं और आत्मा चेतन है तथा कर्मेन्द्रियों को कर्म करने के लिये प्रेरणे वाली है अर्थात् कर्ता है। और, जो कर्ता होता है, वह भोक्ता तो होता ही है। पुनश्च, जो कर्ता

और भोक्ता होता है, उसे लेप-क्षेप भी लगता ही है। अत: सिद्ध हुआ कि आत्मा को लेप-क्षेप लगता है।

अन्यश्च, यह प्रश्न उठता है कि शान्ति का अनुभव किस को होता है? यदि कोई कहे कि – "यह प्रकृतिकृत मन को होता है," तो प्रश्न उठेगा कि यदि मन प्रकृतिकृत है और आत्मा से अलग है तो परमात्मा को 'शान्तिस्वरूप' क्यों कहा जाता है? क्या परमात्मा का भी कोई प्रकृतिकृत मन है? यदि हाँ, तो शान्ति शब्द के साथ 'स्वरूप' शब्द क्यों जोड़ा जाता है? स्पष्ट है कि शान्ति और आनन्द स्वयं परमात्मा ही का स्वभाव है। अत: अशान्ति का अनुभव भी तो आत्मा ही को होता होगा, तभी तो आत्मा परमात्मा से योग साधकर अब पुन: शान्ति और आनन्द प्राप्त करना चाहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि लेप और विक्षेप आत्मा ही को होता है, तभी तो वह अशान्त होती है।

अत: निष्कर्ष यह हुआ कि संकल्प, विचार, विवेक, निश्चय, स्मृति, धारणा, ध्यान, कल्पना इत्यादि शक्तियाँ आत्मा ही की चैतन्यता की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं, यह आत्मा ही की योग्यताएं हैं। इन शक्तियों का योगाभ्यास में बहुत ही बड़ा स्थान है क्योंकि योगी को आत्म-स्वरूप में निश्चय तथा परमात्मा में भी निश्चय करना होता है और प्रभु में ध्यान जमा कर उसकी स्मृति में पहले-पहले सविचार समाधि (Meditation) का अभ्यास करना होता है। जब हम यह जान लेते हैं कि मन हम से कोई अलग नहीं है तो हम अपने से भिन्न किसी पर नियन्त्रण करने की ग़लत चेष्टा करने की बजाय स्वयं को नियन्त्रण में लाने की, स्वयं को ही पवित्र करने की कोशिश करते हैं। पुनश्च, मन को हम शून्य करने का यत्न नहीं करते (क्योंकि आत्मा की चेतनता शून्य नहीं हो सकती) बल्कि हम तो भगवान की आज्ञा (मन्मनाभव) के अनुसार मन को ईश्वरीय स्मृति में स्थित करने का अभ्यास करते हैं।

आध्यात्मिक पुरुषार्थ में आत्मा की योग्यताओं या शक्तियों का महत्व

ऊपर, आत्मा की जो कई-एक योग्यताएं या शक्तियाँ बताई गई हैं, उन्हीं के कारण आत्मा 'अद्भुत' कही गयी है। उन्हीं का ठीक प्रयोग अर्थात् सदुपयोग ही आत्मा का पवित्र होना अथवा 'महात्मा' होना है। इन्हीं शक्तियों अथवा योग्यताओं के नियंत्रण (Control), शोध (Sublimation) अथवा मार्गान्तरीकरण (Redirection) से आत्मा जीवन्मुक्ति को प्राप्त करती है और इन्हीं के विकृत, कुण्ठित, पथ-भ्रष्ट अथवा निकृष्ट होने से आत्मा दु:खी, अशान्त और जीवनबद्ध होती है क्योंकि यही तो समन्वित

रूप में आत्मा की सत्ता, चेतनता अथवा स्वरूप है। अत: आत्मा के शुद्ध संकल्पों, सद्विवेक, सत्य-निश्चय, ईश्वर-स्मृति इत्यादि को जानना ही आत्मा के स्वरूप को जानना है और परमात्मा के ज्ञान को जानना ही परमात्मा को जानना है। यह जानने से आत्मा स्वरूप-स्थित हो जाती है, अपनी गँवाई हुई दिव्य शक्तियाँ पा लेती है और प्रकृति में भी वैसा-वैसा गुण प्रधान करने की निमित्त बनती है।

इसी रहस्य को चुम्बक पत्थर (Magnet) के उदाहरण से भी स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे चुम्बक अपनी निकटता से लोहे में भी अपना गुण भर देता है, वैसे ही पुरुष रूप आत्मा भी प्रकृति में अपने गुण के अनुसार ही गुण प्रधान कर देती है क्योंकि प्रकृति के गुण-परिवर्तन द्वारा ही उसे अपने गुणों का फल सुख-दु:ख रूप में भोगना होता है।

मन के स्वरूप को इस प्रकार समझने से योगाभ्यास में काफी अन्तर पड़ता है। एक तो यह कि योगी समझ जाता है कि मन ही को लेप और विक्षेप होता है; इसलिये वह मन्सा, वाचा और कर्मणा बुराई से बच कर रहता है। दूसरे, वह यह समझ लेता है कि मन या संकल्प को शून्य नहीं करना है बल्कि उसे प्रभु के ध्यान में लगाना है। वह मन को पापी मान कर उसे 'मारने' की कोशिश नहीं करता बल्कि उसे सुधारने का यत्न करता है। पुनश्च, वह यह भी समझ जाता है कि 'मन' ही योग का साधन है, वह इस घोड़े को बान्ध कर क्रिया शून्य करने की बजाय, इसे अपनी बागों में रखकर इसे लक्ष्य पर पहुँचने का साधन बना देता है।

मनन-चिन्तन तथा ईश्वरीय स्मृति में एकाग्रता

योग की परिभाषा के प्रसंग में हम कह आये हैं कि 'योग' का अर्थ परमात्मा से सम्बन्ध (Relationship) अथवा सम्पर्क (Connection) पुनः स्थापित करना है। अभी-अभी पिछले प्रकरण के प्रारम्भ में हम योग-लाभ के लिये मन की एकाग्रता का महत्व-अंकन भी कर आये हैं। एकाग्रता प्राप्त करने के लिये तथा सम्पर्क स्थापित करने के लिये ईश्वर के स्वरूप का मनन-चिन्तन (Meditation) जरूरी है। कम से कम प्रारम्भिक अभ्यास के दिनों में तो प्रभु-चिन्तन आवश्यक है ही क्योंकि इस मनन-चिन्तन से ही एकाग्रता (Concentration) प्राप्त होती है और उसके फलस्वरूप आत्मा परमात्मा की स्मृति में लवलीन हुई-हुई ईश्वरानुभूति (Realisation) का परम मनोरथ पा लेती है।

मनन-चिन्तन द्वारा परमात्मा से सम्पर्क कैसे?

इस स्थूल जगत में हम देखते हैं कि किसी-न-किसी शक्ति के माध्यम से ही हम दूसरे व्यक्तियों एवं विषयों (Objects) से सम्पर्क स्थापित करते हैं। उदाहरण के तौर पर जब हम टेलीफोन का प्रयोग करके किसी दूसरे व्यक्ति से वाचक सम्बन्ध स्थापित करते हैं तो उस समय ध्वनि (Sound) रूप शक्ति तथा टेलीफोन यन्त्र में बिजली एवं चुम्बकीय (Magnetic) शक्ति के माध्यम से ही हम ऐसा कर रहे होते हैं। यदि हम बोलें न, तो ध्वनि तरंगें उत्पन्न नहीं होंगी और टेलीफोन का रिसीवर (ग्राहक; Receiver) उन्हें ग्रहण नहीं कर सकेगा; तब वह दूसरे छोर पर उस व्यक्ति से सम्बन्ध कैसे स्थापित करेगा? पुनश्च, यदि टेलीफोन में बिजली का कर्रेन्ट (Current) न हो तो वह डैड (Dead) अर्थात् बिजली-संचार-रहित कहलाता है; उस अवस्था में वह सम्पर्क स्थापित करने के लिये साधन रूप नहीं हो सकता। पहले-पहले हम जब डायल पर अंगुली द्वारा नम्बर घुमाते हैं तो भी हमारी क्रिया शक्ति बिजली द्वारा चालित टेलीफोन के माध्यम से दूसरी ओर ध्वनि (Call) के रूप में उस व्यक्ति को टेलीफोन पर बुला कर लाती है। तो निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी निकटस्थ अथवा दूरस्थ व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित करना हो तो ध्वनि, बिजली, चुम्बकीय शक्ति इत्यादि में से किन्हीं शक्तियों ही का प्रयोग करना पड़ता है।

हवाई जहाज़ में बैठा चालक (Pilot) भी हवाई अड्डे पर उतरते समय, वहाँ नियन्त्रण करने वाले व्यक्ति से रेडियो टेलीफोन द्वारा सम्पर्क स्थापित करता है। अद्यपि दोनों का सम्पर्क तार के बिना (wireless) होता है तथापि इन्हीं शक्तियों (ध्वनि, बिजली, चुम्बकीय शक्ति इत्यादि) का प्रयोग हो रहा होता है।

अन्तरिक्षयान जब चाँद पर जा कर उतरते हैं तो वहाँ ध्वनि नहीं जाती, परन्तु यहाँ पृथ्वी पर रिमोट कन्ट्रोल (Remote Control) अर्थात् नियन्त्रणालय में बैठा डायरेक्टर विद्युत चुम्बकीय (Electro-magnetic) प्रसाधन द्वारा उन्हें निर्देश भेजता है, जिसे वहाँ अन्तरिक्ष-यात्री शब्द रूप में परिणित पाते हैं। भाव यह है कि इतना दूर का सम्पर्क भी इन्हीं शक्तियों के प्रयोग से स्थापित हो पाता है।

एक व्यक्ति कहीं भाषण कर रहा है तो श्रोतागण से उसका सम्पर्क दृष्टि तथा ध्वनि दोनों द्वारा स्थापित होता है। यदि सूर्य या बिजली इत्यादि का प्रकाश न हो तो वक्ता और श्रोता एक-दूसरे को देख नहीं सकते और भाव-भंगिमा (Gestures) को पकड़ नहीं पाते। यदि माइक्रोफोन न हो अथवा वक्ता बोले नहीं तो श्रोता उसके मनोभाव को जान नहीं सकते और उनका मानसिक सम्पर्क (Rapport) स्थापित नहीं हो पाता। स्पष्ट है कि यह सम्पर्क भी प्रकाश शक्ति (Light Energy) तथा वाक् शक्ति (Sound Energy) द्वारा स्थापित हो रहा होता है।

किसी सामने खड़े व्यक्ति से जब हमारी भेंट होती है तो उसे 'मिलन' या 'सम्पर्क' (Contact) कहा जाता है। यह 'सम्पर्क' किस अर्थ में है? हम दृष्टि द्वारा परस्पर देखते हैं; यह नेत्रों द्वारा सम्पर्क है। फिर हम कुछ बोलते-सुनते हैं; यह वाणी द्वारा सम्पर्क है। परन्तु देखना प्रकाश (Light) के माध्यम से और बोलना-सुनना ध्वनि (वचन) के माध्यम से ही सम्भव है। प्रकाश और ध्वनि दोनों — शक्तियाँ ही हैं। अत: स्पष्ट है कि किसी-न-किसी शक्ति के प्रकम्पनों अथवा तरंगों द्वारा ही हम सम्पर्क स्थापित कर पाते हैं और मिल पाते, बातचीत कर पाते या देख-दिखा सकते हैं।

परमात्मा से हमारा सम्पर्क विचार-शक्ति द्वारा सम्भव

अब योग के प्रसंग में समझने के योग्य बात यह है कि परमात्मा तो प्राकृतिक शक्तियों से परे और उनसे भिन्न एक आध्यात्मिक सत्ता है जिससे सम्पर्क के लिये प्राकृतिक शक्तियों का उपरोक्त प्रयोग सिद्धिकारी नहीं हो सकता। परमात्मा इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, इसलिये इहलौकिक शक्तियों, जो कि रूप, रंग, शब्द इत्यादि के माध्यम से सम्पर्क स्थापित करती हैं, का प्रयोग हमारे लिये प्रयोजनकारी नहीं है। परमात्मा तन

का नहीं; मन का मीत है। उससे हम मन द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं।

संसार में सबसे बड़ी शक्ति विचार शक्ति (Thought Power), भावना शक्ति (Emotional Power) एवं मनन-शक्ति है। मन के संकल्प की गति संसार की सभी प्रकार की शक्तियों की गति से तीव्रतर है। वह अन्तरिक्ष को भी चीर कर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रदेश में भी पहुँच सकती है। अत: मनन (Meditation) ही परमपिता परमात्मा से सम्पर्क स्थापित करने का एकमात्र साधन है।

मनन से अनेक लाभ

ईश्वर के स्वरूप के मनन से ईश्वर से जो सम्पर्क होता है, सो तो होता है ही, पर इसके अतिरिक्त भी इसके बहुत-से लाभ हैं। एक लाभ यह है कि प्रभु के गुण-चिन्तन की टेव पड़ जाने से मनुष्य गुण-ग्राहक वृत्ति वाला हो जाता है; वह संसार में दूसरे मनुष्यों से जब व्यवहार करता है तो उनके भी गुणों ही की ओर उसकी दृष्टि जाती है। अब अवगुणों पर ध्यान देने का उसका स्वभाव नहीं रहता।

दूसरे, ऐसा भी प्रभाव होता है जैसा कि मैग्नेटिक टेप (Magnetic Tape) के निकट बैठ कर बोलने से होता है। सभी जानते हैं कि टेप मशीन पर टेप लगा कर, उसके माइक्रोफोन को ऑन (On) कर लेने पर जब हम बोलते या गाते हैं तो पहले का रेकार्ड किया हुआ गीत मिटता जाता है और उसकी जगह नया गीत भरता जाता है। इसी प्रकार, प्रभु के गुण चिन्तन से भी मनुष्य के पिछले तमोगुणी संस्कार मिटते जाते हैं और उनके स्थान पर अब दिव्य गुण भरते जाते हैं। इसलिये ही किसी ने कहा है कि — ''मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा ही वह बन जाता है`` (As you think, so shall you become)। मनुष्य का विचार ही तो उसके व्यवहार और आचार की आधारशिला है।

प्रभु-चिन्तन से एक लाभ यह भी होता है कि मनुष्य का मन चिन्ताओं से निवृत्त हो जाता है। आज संसार में लाखों-करोड़ों नर-नारी किसी-न-किसी बात के कारण चिन्तित रहते हैं। परन्तु सही तरीके से प्रभु-चिन्तन करने वाला मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि एक तो मानसिक संतुलन होने के कारण उसे समस्या का हल ठीक रीति से दीख जाता है और उसमें आत्म-विश्वास भी बना रहता है। दूसरे, वह सोचता है कि प्रभु मेरे सहायक एवं मार्ग-प्रदर्शक हैं; मेरा उनसे और उनका मुझ से अनन्य प्यार है; अत: हिम्मत मैं करूंगा, मदद (सहायता) परमात्मा करेंगे; फिर जो होगा सो देखा जाएगा। ईश्वर-विश्वासी तथा नास्तिकों में एक यह भी तो महान् अन्तर है कि ईश्वर-विश्वासी लोगों को ईश्वर का सहारा होता है परन्तु अनीश्वरवादियों को कोई स्थायी सहारा नहीं

होता। इस निश्चय की कमी से, अन्त में, संसार के आधार टूटने पर उनका मन टूट जाता है और वे अपार मानसिक दु:ख अनुभव करते हैं जबकि प्रभु-प्रेमी उसे अपना एक प्रेमी, सहायक, संरक्षक एवं सहयोगी मानता है; इससे उसका मानसिक संतुलन तथा उसकी भावात्मक (Emotional) स्थिरता बनी रहती है। क्या यह कोई कम प्राप्ति है?

चौथा लाभ यह होता है कि मननशील हो जाने से मनुष्य बात की गहराई में जा सकता है। प्रभु के स्वरूप का मनन करने से वह प्रभु-सम्बन्धी चर्चा की गहराई में पहुँचता है और इससे उसे अथाह खुशी मिलती है; मानो खुशी का एक अच्छा-सा इन्जैक्शन उसे लग जाता है। वह ऐसा अनुभव करता है कि उसकी बुद्धि रूपी तिजोरी ज्ञान रूप रत्नों से भरती जा रही है और संसार की दृष्टि से चाहे वह निर्धन हो परन्तु उसके पास अपार ज्ञान-धन है और वह राजाओं का भी राजा बन रहा है। उसका मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों को भी समझने वाला हो जाता है और अब वह स्थूल विषयों के सुखों के आर्कषणों से निकल कर बुद्धि द्वारा ज्ञान के मनन में आनन्द लेता है। इससे वह विषय-भोगी की बजाय बुद्धिजीवी बनता है, स्थूलता से उठकर सूक्ष्मता की ओर बढ़ता है और प्रभु-चिन्तन से उसे ऐसा लगता है कि शक्तिप्रद पदार्थ (Tonic) उसके मन को मिला है। संसार में मन के लिए यदि कोइ टॉनिक है, मनोबल (Will Power) को बढ़ाने का कोई साधन है तथा परेशानी एवं उदासी को दूर करके हर्ष-उल्लास भरने की कोई विधि है तो वह प्रभु-चिन्तन अथवा ईश्वरीय गुणों का मनन (Meditation) ही है।

इस प्रकार, मनन के अनेकानेक लाभ हैं। प्रभु से सम्पर्क स्थापित करने का यह वायरलैस है। जैसे रेडियो द्वारा किसी ब्रॉडकास्टिंग स्टेशन से प्रसारित हो रहे समाचार को सुनने के लिये हम अपने कमरे में रखे रेडियो या ट्रांजिस्टर को उसी वेव लैंथ पर लगाते हैं, ठीक वैसे ही मनन अथवा मेडिटेशन द्वारा हम अपने मन को परमधाम वासी प्रभु से सम्पर्क देने वाले वेव लैंथ पर सैट (Set) कर सकते हैं।

मनन द्वारा एकाग्रता और ईश्वरानुभूति का लाभ

यही मनन में एकीभाव पैदा करता है। मनन प्रारम्भ करने से पहले या योगाभ्यास करने से पहले योगाभ्यासी मनुष्य का मन संसार के अनेक विषयों की ओर भाग रहा होता है; मनन मन का प्रवाह एक ओर ही करता है, विचारों की धारा को किनारे और रास्ता (Channel) प्रदान करता है। पहले मन बहुमुखी होता है; एक बाढ़ की तरह उच्छृंखल होता है। वह खरगोश की तरह चंचल होता है। मधुमक्खी की तरह वह भिन्न...भिन्न...भिन्न करता रहता है, अर्थात् एक विषय को छोड़ कर उससे भिन्न दूसरे विषय या रस लेने

के लिये जा बैठता है। परन्तु मनन करना गोया अपने ठिकाने की ओर चलना है, मधु के छत्ते की ओर बढ़ना या पुष्प पर जा बैठना है। मनन करते-करते मन जब मधु के छत्ते पर, अर्थात् परमधाम में आत्माओं के वृक्ष के सबसे ऊपर स्थित परमात्मा पर टिक जाता है, तब उसकी "भिन्न...भिन्न" स्वत: ही समाप्त हो जाती है और वह रस लेने लगता है। इस प्रकार, मन की एकाग्रता (Concentration) और उससे अनुभूति (Realisation) का परम लाभ होता है।

ईश्वरीय मनन द्वारा संस्कार-परिवर्तन

जैसे भृंगी कीड़े को बिम्बी में ले जाकर अपनी गुंजार अथवा मनन से कीड़े को भी पर लगा देती है और उसका रूप परिवर्तन (Metamorphosis) हो जाता है, वैसे ही आत्मा भी परमात्मा के चिन्तन द्वारा 'विकारों के कीड़े' से रूपान्तरित होकर मानो पराजीत बन जाती है। वह उड़ान भर कर प्रभु से जा मिलती है और, इसके फलस्वरूप, उसके गुण, कर्म, स्वभाव और संस्कार बदल कर सब श्रेष्ठ हो जाते हैं। यह दृष्टान्त द्वापर युग से दिया जाता रहा है।

ईश्वरीय मनन ही सांसारिक संकल्पों से निवृत्ति का श्रेष्ठ उपाय

मनन से होता यह है कि सांसारिक संकल्प अथवा देह से सम्बन्धित व्यक्तियों तथा विषयों की स्मृतियाँ स्वत: ही समाप्त हो जाती हैं। संसार से मन को हटाने का एक मात्र उपाय यही है कि हम मन को प्रभु के स्वरूप के चिन्तन में लगा दें। मन जब उधर लग जायेगा तब यह बाह्य संकल्पों से स्वत: ही छूट जायेगा क्योंकि एक समय में तो मन एक ही संकल्प कर सकता है। जो लोग इस युक्ति का प्रयोग नहीं करते, वे ही शिकायत करते हैं कि हमारा मन प्रभु की स्मृति में स्थित नहीं होता। वे सांसारिक संकल्पों को काटने, थामने या रोकने का यत्न करते हैं। इस निषेधात्मक विधि (Negative way) को अपनाने की बजाय मन को सीधे ही प्रभु के नाम, रूप, धाम, गुण, कर्त्तव्य, प्रभाव इत्यादि के मनन में जोड़ देना ही योग की ठीक विधि है। इस तथ्य को हम एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं —

मान लीजिये कि हम टेलीफोन के डायल (Dial) पर एक विशेष नम्बर घुमा कर किसी एक व्यक्ति से सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं और उससे बातचीत करने में जुट जाते हैं। अब यदि दूसरा कोई व्यक्ति हमारे नम्बर पर हमसे सम्पर्क स्थापित करना चाहे तो

उसे इसमें सफलता नहीं होगी क्योंकि हमारा नम्बर तो पहले से ही व्यस्त (Busy) है अथवा अन्य किसी से जुटा हुआ (Engaged) है। ठीक इसी प्रकार, यदि हम प्रभु के स्वरूप - चिन्तन में मन को लगा देंगे तो हमारा मन व्यस्त अथवा जुटा (योग-युक्त) होने से अब दूसरी ओर नहीं जुट सकेगा।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि दफ्तर का कोई अधिकारी अपने कार्यालय में उपस्थित या विराजमान नहीं है। उसके कमरे के बाहर बोर्ड पर लिखा है — 'आऊट' (out), 'बाहर'। वह किसी से मुलाकात (Interview) के लिये गया हुआ है या मीटिंग (Meeting) में है। स्पष्ट है कि अब यदि उस अधिकारी से मिलने कोई व्यक्ति आयेगा तो वह 'बाहर' (out) लिखा देख कर लौट जायेगा। ठीक इसी प्रकार यदि हमारा मन इस देह तथा इस संसार में स्थित न होकर, इससे बाहर (out) परमधाम में परमप्रिय परमपिता परमात्मा से मुलाकात (Interview) करने गया होगा तो दूसरे संकल्प अब आना भी चाहेंगे तो मन के द्वार तक आकर भी लौट जायेंगे।

ईश्वरीय मनन ही वास्तविक सच्चरित्रता, सच्ची यात्रा और स्वधर्म-स्थिति का उपाय

तो निश्चय हुआ कि प्रभु से मुलाकात या भेंट करने अथवा मनोमिलन मनाने का विधि-विधान यही है कि हम मन को इस देह तथा संसार से हटा कर ब्रह्मलोक के वासी परमपिता परमात्मा के यहाँ ले जायें। सत्य के संग का, परमात्मा के सामीप्य (उपासना) का, उसे ध्याने (संध्या) का, उसे याद करने (जपने) का यही ठीक तरीका है। यह मनन-चिन्तन ही प्रभु तक पहुँचने की सीढ़ी है। उस अमरनाथ तक पहुँचने की पहली बौद्धिक यात्रा ही वास्तविक यात्रा है क्योंकि 'यात्रा' (या-त्रा) शब्द का अर्थ है — जिस द्वारा त्राण अथवा मुक्ति मिले। मुक्तिधाम में मुक्तेश्वर प्रभु के पास जाना, देह और संसार की स्मृतियों से निकल कर वहाँ जा पहुँचना ही तो मुक्ति प्राप्त करने तथा कर्मातीत अवस्था तक पहुँचने का सही अभ्यास है। गीता में 'स्वधर्म' में स्थित होने तथा भयकारक परधर्म को छोड़ने का जो आदेश-उपदेश है, वह भी वास्तव में यही है क्योंकि देह ही आत्मा से परे है; उस प्रकृतिकृत देह से विलग हो कर आत्मा (स्व) के आदिम स्वभाव में टिकना ही स्वधर्म-स्थिति है। अतः ईश्वरीय मनन (Meditation) जो कि योग का एक आवश्यक अंग है, ही शाश्वत एवं सार्वभौमिक धर्म (Universal Religion) है अथवा धर्माचरण (Religion in Practice) है। इसी को अपनाने से संसार में विभिन्न मतावलम्बियों में हो रहे मतभेद समाप्त होकर भावात्मक एकता (Emotional

Integration) तथा धार्मिक एकता स्थापित हो सकती है और इसके फलस्वरूप विश्व में एक धर्म, एक दैवी स्वराज्य तथा प्रेम एवं अहिंसा का आह्वान हो सकता है।

चिन्तन अथवा मनन – योग का एक अंग

आज चिन्तन अथवा मनन का पाश्चात्य देशों में बहुत रिवाज चल पड़ा है। इससे उनका मन चिन्तादायक समस्याओं से हट कर प्रभु-चिन्तन में लग जाने से शान्ति का अनुभव करता है। आज पाश्चात्य देशों में कौटुम्बिक जीवन (Family life) अथवा माता-पिता के स्नेह का अभाव है अथवा बच्चे उसकी न्यूनता अनुभव करते हैं क्योंकि उन्हें माता-पिता के घनिष्ठ सम्पर्क में आने के अवसर बहुत कम मिलते हैं। माता-पिता दफ्तर चले जाते हैं और बच्चे स्कूल में। फिर, जब वे वापस लौटते हैं तो माता-पिता पार्टियों या क्लबों में गये होते हैं। शैशव में मातृ स्नेह तथा पैतृक प्रेम के अभाव का ही यह परिणाम होता है कि वे बड़े होकर वासना भोग में ही प्रेम के अभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। यही कारण है कि पाश्चात्य समाज एक वासना-प्रधान समाज (Permissive society) हो गया है। इधर पूर्व में, एशियाई देशों में लोग आर्थिक चिन्ताओं में डूबे रहते हैं तथा आलस्य और क्रोधावेश के वश हैं। प्रभु-चिन्तन से ही दोनों प्रकार के समाज का सुधार हो सकता है और पूर्व तथा पश्चिम में मिलाप हो सकता है। ऐसा कुछ प्रयास आज हो रहा है।

परन्तु देखा गया है कि पाश्चात्य देशों में ईश्वर के स्वरूप का मनन-चिन्तन करने की बजाय बहुत-से लोग यों ही किसी नैतिक उक्ति (Moral saying) पर, किसी दिव्य गुण पर या किसी विचार (Thought) पर मनन को ही मेडिटेशन (Meditation) के रूप में अपनाते हैं। यद्यपि कुछ भी अभ्यास न करने से तो यह हज़ार गुणा अच्छा है, परन्तु यह वास्तविक मेडिटेशन का अंग नहीं है और अधूरा है। गुण तो सदा गुणी में रहते हैं, गुणों का तथा नैतिकता का आधार तो ईश्वर है। आधार को माने बिना गुणों को मानना तो फूल के बिना सुगन्धि को मानना है। गुण तो गुणी की ओर संकेत करते हैं। अत: गुणों को मानना तो गोया सर्व दिव्य गुणों के भण्डार प्रभु को मानना है। परन्तु आज पश्चिम देशों के बहुत से लोग प्रभु को तथा आत्मा को नहीं मानते। किन्तु वे मन अथवा चेतना (Consciousness) को तो मानते ही हैं। यदि वे यह समझ जायें कि मन अथवा चेतना आत्मा से अभिन्न हैं तो वे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करने लगेंगे और तब सर्वात्माओं में परम जो 'परमात्मा' है उनमें भी उनकी आस्था बैठेगी। क्योंकि सर्व में श्रेष्ठ, जिसमें दिव्यता की चरम सीमा हो, कोई तो होगा ही। परमात्मा को मान

कर, उस पर मन का जमाव, उसी का मनन-चिन्तन ही मेडिटेशन का वास्तविक स्वरूप है जिसके द्वारा परम शान्ति मिलती है, परमपिता का आश्रय प्राप्त होता है और उससे माता-पिता, सखा,बन्धु इत्यादि जैसे सर्व सम्बन्धों का दिव्य स्नेह भी मिलता है। इसके सिवा जो मेडिटेशन है, उस द्वारा तो कुछ काल के अशान्ति की निवृत्ति (Absence of Peacelessness) ही होती है, शान्ति की प्राप्ति 'न' के बराबर ही होती है। उनकी मेडिटेशन पद्धति द्वारा मन को अशान्त करने वाले विषयों के साथ मन का सम्बन्ध टूट जाने से कुछ काल की अशान्ति ही नहीं रहती परन्तु मन का सम्बन्ध परमात्मा के साथ न जुटने से सच्ची शान्ति की प्राप्ति (Positive attainment) नहीं होती। अत: यह मनुष्य के अपने ही हित में है कि वह शान्ति के सागर एवं आनन्द के सागर परमात्मा के स्वरूप का मनन-चिन्तन करे।

ऐन्द्रिय आकर्षण से पार, एकाग्रता की ओर

हरेक कार्य को कुशलतापूर्वक करने के लिए एकाग्रता की ज़रूरत तो रहती ही है। जो कार्य जितना सूक्ष्म हो उसमें उतनी ही अधिक एकाग्रता की ज़रूरत होती है। उदाहरण के तौर पर जो वैज्ञानिक लोग परमाणु-सम्बन्धी शोध कार्य करते हैं, उन्हें अपने कार्य में उच्च कोटी चिरस्थायी एकाग्रता की आवश्यकता होती है। शोध का कार्य करते समय उन्हें घर-बार, बाल-बच्चे और दूसरे सब गोरख-धन्धे याद नहीं होते बल्कि सुई की नोक के भी लाखवें-करोड़वें भाग पर जैसे कोई टकटकी लगाये, वैसे ही उनकी तन्मयता (Pin-pointed concentration) होती है। उतने समय के लिये वे भी सर्व-संन्यासी बने होते हैं और उनका सारा मनोयोग परमाणु और उसके गुणों में भी रमा (absorbed) होता है, यहाँ तक कि उन्हें खाने-पीने का तथा अपने शरीर की भी सुधबुध नहीं रहती। आत्मा तो परा प्रकृति और अपरा प्रकृति दोनों से सूक्ष्मतर है, इसलिये उसके अध्ययन के लिये तथा परमाणु के विद्युत-कणों (इलैक्ट्रान, प्रोटान इत्यादि) से भी सूक्ष्म जो दिव्य ज्योति-बिन्दु परमात्मा है उन पर मन को एकाग्र करने के लिये तो मन की पूर्ण एकाग्रता चाहिये तथा बुद्धि सरल और स्पष्टदर्शी चाहिये। अत: योगाभ्यास के लिये भी सर्वोत्तकृष्ट एकाग्रता की आवश्यकता है। प्रकृति के परमाणुओं पर मन एकाग्र करके वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों को शोधते हैं; परमात्मा पर एकाग्र करके वे ईश्वरीय शक्तियों को प्राप्त कर जीवन में शान्ति, आनन्द और सुख के भागी बनते हैं।

यों ही एकाग्रता नहीं, ईश्वर पर एकाग्रता

परन्तु आज लोगों से भूल यह हुई है कि ईश्वर पर एकाग्रता की बजाय वे मात्र एकाग्रता (Concentration) को ही 'योग' मानने लगे हैं। वे नासिका के अग्र भाग पर, नाभी पर, भृकुटी पर, कमल पुष्प पर, किसी पर भी मन के एकीकरण को योग मानने लगे हैं। यद्यपि मन को वस्तु में जोड़ना (मनोयोग) तो इसमें भी पाया जाता है तथापि स्वरूप-स्थिति (स्वरूपे अवस्थाम्) और 'ईश्वरानुभूति' जो कि योग का वास्तविक लक्ष्य है, उनकी सिद्धि इस प्रकार की कोरी एकाग्रता से प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य की बाह्यमुखता, देहाभिमान, स्थूल भाव और प्रकृति से सम्बन्ध बना ही रहता

है; वह इन सबसे ऊंचा उठ कर, आत्म-निष्ठा के शिखर पर और ईश्वरानुभूति के आनन्द की चरम सीमा पर नहीं पहुँच पाता। किन्तु, बहुत-से लोग इस तथ्य को जानते हुए भी इसी प्रकार का अभ्यास करते रहते हैं। वे कहते हैं कि ''हमारा मन बहुत ही चंचल है, वह कहीं जमता ही नहीं, तो क्या करें? मन को कोई ठिकाना तो चाहिए ही, इसलिये, चलो, उसे किसी भी स्थूल गुह्य विषय पर स्थिर कर लेते हैं।''

निस्सन्देह, एकाग्रता में अच्छाई तो है ही परन्तु जिस प्रीतम प्रभु में मन को अमन (शान्त) करना है, जिस चित्त-चोर को चित्त देना है, जिस मालिक के हवाले मन को करना है, जिस खेवनहार के हाथ में मन के संकल्प का चप्पु पकड़वाकर जीवन-बेड़ा पार कराना है, जिस सत्य का संग मन को प्राप्त कराना है, उसे यदि मन न दिया तो बात बनेगी कैसे? बिगड़ी को बनाने वाला, सब का साईं, शरीर रूपी रथ के मन रूप घोड़े के संकल्प रूप बागों को पकड़ कर चलाने वाला रथवान तो वह एक ही है। मन रूप सजनी की सगाई (Engagement) फूल, नाभि या नासिकाग्र से तो करनी नहीं है, इसका साजन तो महात्माओं से भी महान् सदा जागती-ज्योति परमात्मा ही हैं। उस शमा का परवाना इसे बनाना है। उनको छोड़कर क्षण-भर, पल-भर ठौर पा लेने से संसार सागर के उस छोर पर थोड़े ही कोई लग पाया है? आत्मा का वियोग तो परमात्मा ही से हुआ है और इसलिये, अब योग भी उस ही से करना है। पतित आत्मा का पावन-कर्ता तो प्रभु ही है; उसी वैद्यराज के पास ही आत्मा को पावन एवं निरोग करने के लिये परमऔषधि है। तन के स्नान के लिये मानसरोवर कैलाश पर्वत पर है परन्तु मन का मानसरोवर तो पवित्रता का सागर परमात्मा स्वयं ही है। मन को जाना तो उसी अमरनाथ के पास ही है, मार्ग के रोड़ों और पत्थरों पर तो उसे अटकना नहीं है। परन्तु कैसी विडम्बना है कि आज लोग कण-कण में अथवा कंकड़ पत्थर को भी भगवान् मान कर उनसे पूछ रहे हैं कि 'मेरा शिव कहाँ है'। योग तो पाने का मार्ग है, ढूँढने का मार्ग तो वियोग है। अत: मन को परमात्मा पर फोकस (focus)करना ही योग है। परन्तु मन वहाँ पूर्णत: एकाग्र तभी होगा जब वह ऐन्द्रिय आकर्षण से निकल चुका होगा। अत: हम उन आकर्षणों का तथा उन से निकलने के तरीके का उल्लेख करेंगे। संसार में ये पाँच विषय ही मानव के मन को अपनी ओर आकर्षित कर के अपने में एकाग्र कर लेते हैं; अत: अध्यात्म में एकाग्रता के अभ्यास करने तथा पुरुषार्थ में ये बाधक सिद्ध होते हैं।

१. पाँच विषय

एकाग्रता के विषय में निरीक्षण एवं विचार करने पर आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे

कि लोग कहते हैं कि – ''मन चंचल है अथवा वायु के समान ऐसा अग्राह्य है कि इस पर काबू पाना अति कठिन है'', उनका मन अवश्य ही रूप, गंध, शब्द और स्पर्श – इन पाँचों विषयों में से ही किसी-न-किसी की ओर भागता है; तभी वह प्रभु के स्वरूप पर एकाग्र नहीं हो पाता। योगाभ्यास करते समय भी उन्हें इन्हीं विषयों में से ही किसी-न-किसी से सम्बन्धित कोई बात याद आ जाती होगी; जभी उनके मन का निग्रह नहीं हो पाता होगा।

मनुष्य की इन्द्रियों (आंख, कान, मुख इत्यादि) के जो उपरोक्त विषय हैं, वे इन्द्रियों के सम्पर्क में आने से मनुष्य के मन को अपने-अपने 'रस' की ओर खीचते हैं। जब मनुष्य कुछ समय उनको भोग लेता है तो अतीव अल्प काल के लिये तृप्त होकर उनसे अलग हो जाता है, परन्तु उस ऐन्द्रिय विषय-सुख की स्मृति उसे फिर-फिर उन विषयों की ओर आकर्षित करती है। तब वह उन्हें फिर भोगता है। इससे फिर भोगने की लालसा, स्मृति और वृत्ति पक्की होती है और विषयों का आकर्षण बढ़ता ही है। इस प्रकार वह 'विषय भोगी' ही बना रहता है। वह 'योगी' नहीं बन पाता। विषयों को भोगते-भोगते वह स्वयं ही भोगा जाता है। स्वयं बूढ़ा हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा जवान हो रही होती है क्योंकि भोगने रूप अभ्यास से उसकी वासना को पुष्टि मिलती है। वह सारी आयु इन विषयों का दास बना रहता है परन्तु भक्ति करते समय प्रभु से कहता है – ''प्रभु जी, मैं आपका दास हूँ!'' विषयों का आकर्षण उसके मन में काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि विकार उत्पन्न करता है और स्वेच्छा ही से वह मन्द बुद्धि मानव उनकी ओर भागता है परन्तु प्रार्थना के समय कहता है – ''प्रभु जी, मुझे इन विकारों से छुड़ाइये!'' स्वयं ही फँसता है पर बातें ऐसे करता है जैसे अन्य कोई उससे ज़ोर-ज़बरदस्ती कर रहा हो!! वह इन विषयों को अर्जित करने, इनका संग्रह करने, इन्हें भोगने तथा भोग के परिणामों से निपटने में ही सारा जीवन खपा डालता है और अन्त में भी इन इन्द्रियों तथा विषयों की स्मृति उसे शरीर छोड़ने में बाधा रूप होकर बड़ा कष्ट देती है। इस तरह वह आदि-मध्य-अन्त दु:ख का भागी बनता है परन्तु मानता है कि यह सुख है।

तो स्पष्ट है कि ऐन्द्रिय आकर्षण मनुष्य के मन को प्रभु के आकर्षण-क्षेत्र में नहीं आने देता; इसलिये वह अध्यात्म जगत में ऊंचा नहीं उड़ पाता बल्कि विषय-भोग, विकार, भक्ति – इन तीनों से बने कुचक्र (Vicious circle) में घूमता रहता है; इस घेरे से निकल नहीं पाता। ईश्वरीय स्मृति में स्थिति के अनिर्वचनीय आनन्द का सौभाग्य उसे प्राप्त नहीं होता। केवल जागृत अवस्था में ही नहीं,स्वप्न में भी विषय और उनका भोग भी उसे याद आते रहते हैं; गोया वह प्रकृति के संग और धर्म को अपनाये रहता

है। तब ऐसा पक्का हो गया है प्रकृति का संग जिसका, ऐसी दलदल में फँसी है स्मृति जिसकी, वह मनुष्य कहता है – ''प्रभु की स्मृति में मेरा मन नहीं जुटता।'' अत: अब समझने के योग्य बात यह है कि जैसे राकेट भूमि के आकर्षण (गुरुत्वाकर्षण) क्षेत्र को पार करने पर ही ऊपर अन्तरिक्ष में जा पाता है, वैसे ही इस ऐन्द्रियाकर्षण को पार करने से ही तो आत्मा परमात्मा के पास पहुँच सकेगी। जैसे राकेट को गुरुत्वाकर्षण से निकालकर ऊपर भेजने के लिए काफी ईंधन अथवा शक्ति की आवश्यकता होती हे, वैसे ही आत्मा को भी विषय-आकर्षण से निकालकर प्रभु के आकर्षण-क्षेत्र में ले जाने के लिए ज्ञान रूप शक्ति की आवश्यकता है। अतएव एक-एक विषय की चर्चा करते हुए हम उसके आकर्षण की दासता से मुक्त होने के साधन का किन्चित उल्लेख करेंगे।

रूप-लावण्य

रूप और रंग अथवा आकृति-प्रकृति आंख का विषय है। किसी वस्तु या व्यक्ति का रंग-रूप सुन्दर हो तो मनुष्य का मन उस ओर स्वत: ही खिंच जाता है। यह आकर्षण बहुत ही प्रबल है, यहाँ तक कि विषय के आंखों से हट जाने पर भी मनुष्य को उसकी याद आती रहती है, स्वप्न में भी वह सुन्दर व्यक्ति अथवा वस्तु के संग का क्षणिक सुख पाने का दृश्य देखता है और जाग्रत अवस्था में वह उसे अपनाने का यत्न करता है। यदि मनुष्य निम्नलिखित छह मुख्य बातों का मनन करता रहे तो वह इस आकर्षण से निकलकर प्रभु की ओर आकर्षित हो सकता है :–

(क) रूप और रंग प्रकाश के बिना दिखाई नहीं दे सकता। संसार में जितने भी रंग हैं, वे सूर्य के प्रकाश से बने हैं – ऐसा हमें विज्ञान भी बताता है। पुनश्च, अन्धेरे में तो रूप अथवा सौन्दर्य का कोई महत्व ही नहीं रहता। तो निश्चय हुआ कि प्रकाश ही रूप और रंग का आधार एवं माध्यम है। अत: मनुष्यों को चाहिए कि अविनाशी प्रकाशस्वरूप आत्मा की ओर ध्यान दें क्योंकि उसके बिना सब अन्धेरा ही है। देखिए न, आत्मा जब शरीर को प्रकाशित करना बन्द कर देती है तब शव की तरह पड़ा हुआ यह शरीर सुन्दर व्यक्ति अथवा वस्तु की ओर रंच भी आकर्षित नहीं होता, न ही कोई जीवित व्यक्ति किसी सुन्दर शव के प्रति आकृष्ट होता है। रूप और रंग के इस आधार को भूलना तो गोया फल के सौन्दर्य को देखते हुए बीज की करामात को भूल जाना अथवा मिट्टी के बने सुन्दर फल को वास्तविक फल मानकर चखने की कोशिश करना है। आत्म-चेतन मनुष्य सौन्दर्य से घृणा नहीं करता परन्तु वह इसका दास नहीं बनता क्योंकि वह इसके मूल अथवा आधार रूप आत्मा में स्थित होता है। जैसे सूर्य ही सभी रंगों का स्रोत एवं

आधार है। अतएव परमात्मा को ही 'परम-सुन्दर' कहा गया है। वह तो सौन्दर्य की अपार एवं अतुल राशि है। जो उस प्रभु का हो जाता है, उसे सारा संसार सुन्दर मालूम होता है। उसे कुरूप में भी विशेष सौन्दर्य भासित होता है। अत: यदि कोई सौन्दर्य का पुजारी है तो उसे चाहिये कि सौन्दर्य के परमपुंज प्रकाशस्वरूप परमात्मा की उपासना करे, अर्थात् उससे योग करे; तब उसे मालूम होगा कि 'सौन्दर्य' नाम किसका है!

(ख) वास्तव में सौन्दर्य विचारों पर निर्भर करता है। आज किसी मनुष्य को उसकी पत्नी परम सुन्दरी लगती है, परन्तु कल जब पति का उससे मत-भेद हो जाता है और झगड़ा तथा तनाव पैदा हो जाता है तो उस (पत्नी) का सौन्दर्य उसे आकर्षित नहीं करता बल्कि वह उसे तलाक भी दे देना चाहता है। आज मनुष्य किसी व्यक्ति का रूप-रंग, वेश-वस्त्र देख कर उसे 'मुनि' मानता है, कल उसमें कोई अवगुण देखकर उसे 'कपट मुनि' समझता है और उससे हट जाता है। पुनश्च, एक मनुष्य को कोई स्त्री सुन्दर प्रतीत होती है परन्तु यदि वही स्त्री किसी भूखे शेर के आगे से गुज़रे तो शेर उसे सुन्दर मानकर उससे प्यार नहीं करता बल्कि वह उसे अपने लिये बना-बनाया भोजन मान कर उसका शिकार करने को लपकता है। तो स्पष्ट है कि सौन्दर्य देखने वाले की दृष्टि, उसके दृष्टिकोण या विचारों पर निर्भर करता है। तभी तो लैला,सुन्दर न होते हुए भी मजनू को सुन्दर मालूम होती थी। अत: जबकि सौन्दर्य विचारों पर निर्भर करता है तो मनुष्य को अपने विचारों को सुन्दर बनाना चाहिये। जिसके विचार सुन्दर न हों; वह किसी को भी अधिक दिन तक प्रिय नहीं होता। कोई सुन्दर व्यक्ति यदि बुद्धिहीन हो अथवा दुष्चरित्र हो तो लोग उसे पसन्द नहीं करते। अत: चरित्र ही मनुष्य का सौन्दर्य है — यह सोच कर सौन्दर्य के पुजारी को सद्विचार एवं सच्चरित्रता पर ध्यान देना चाहिये।

(ग) किसी भी व्यक्ति का सौन्दर्य उसके पूर्व जन्मों में किये गये विशिष्ट प्रकार के कर्मों पर भी आधारित होता है। जैसे बीज पृथ्वी में से अपने ही अनुकूल परमाणु अपनी ओर खींचकर, तिरोभावित योग्यताओं के अनुसार रूप-रंग लेकर विकसित होता है, वैसे ही आत्मा भी अपने पूर्व कर्मों एवं संस्कारों के अनुसार प्रकृति के परमाणुओं को आकर्षित कर के तदनुसार रूप-रंग वाली देह लेती है। तो निश्चय ही सुन्दर कर्मों वाला व्यक्ति ही वास्तव में सुन्दर है। इस जन्म में जिसका व्यवहार अच्छा है वही लोगों को अच्छा लगता है और अगले जन्म में वह कायिक सेवा के फलस्वरूप स्वस्थ एवं रूपवान शरीर पाता है। इसलिये अंग्रेज़ी भाषा में कहा गया कि "श्रेष्ठ कर्म वाला मनुष्य ही सुन्दर है" (Handsome is he who handsome does.) अत: सौन्दर्य-प्रिय व्यक्ति को चाहिये कि वह कर्मों को श्रेष्ठ बनाये।

(घ) पुनश्च, मनुष्य-देह की वास्तविकता पर भी तो विचार करना चाहिये। मनुष्य को ऊपर की जिस चमड़ी का रूप-रंग आकर्षित करता है, उसके नीचे तो रक्त, कफ, कीटाणु इत्यादि भरे पड़े हैं! मनुष्य को थोड़ा ही कुछ लगता है तो रक्त बहने लगता है। गरमी-सरदी, रोग, शोक — सभी इस सौन्दर्य को प्रभावित करते हैं,गोया यह अल्पकालीन है। फिर, इस संसार में सर्वांग सुन्दर तो कोई है नहीं। प्राय: लोग अंग-भंग हैं; किसी को दाँत का तो किसी को सिर का दर्द है, किसी को खाँसी है, किसी को ज़ुकाम। आज कोई रूपवती है, कल दुर्घटना से उसके चेहरे को धक्का लगता है तो रूप नष्ट हो जाता है। आज कोई युवा है, कल बुढ़ापा अपनी रेखाएं अंकित करता है। अत: दाल-भात से बने, अन्दर में टट्टी, कफ, कीटाणु इत्यादि से भरे इस शरीर पर मोहित होना तो गंदी मक्खी की तरह कचड़े पर मोहित होना है। यह कलियुगी तमोप्रधान, काम-विकार से पैदा-हुए शरीर हैं जो कि भय, शोक, चिन्ता इत्यादि के कारण भी यथार्थ रूप में सुन्दर नहीं हैं। चार दिन चलने वाली इस चमड़े की पुतली, वह भी अन्दर से हेय तत्वों से भरी हुई, इस १/१०० इन्च पतली चमड़ी को सुन्दर मानना तो अज्ञान की चरम सीमा है। ऐसा सोच कर मनुष्य को प्रभु ही के सौन्दर्य की ओर आकृष्ट होना चाहिये क्योंकि प्रभु के रूप-लावण्य में ये तीन विशेषताएं हैं :- (१) वह शुद्ध ज्योतिर्मय रूप है जिसमें अन्य कोई भी निकृष्टता मिश्रित नहीं है। (२) वह जरा, रोग, जलवायु इत्यादि से प्रभावित होने वाला या दुर्घटना इत्यादि से अंग-भंग होने वाला नहीं है बल्कि अपरिवर्तनीय और अविनाशी है। (३) संसार में प्रकृति के रूप को देखकर मनुष्य में काम, लोभ अथवा मोह उत्पन्न होता है और उनके परिणामस्वरूप उसका पतन होता है। परन्तु परमात्मा का रूप-लावण्य ऐसा है कि वह मानव-मन को पवित्र एवं सतोप्रधान बनाने वाला है, उसके मैल को धोने वाला है। अत: परमात्मा को 'सत्यं' और 'सुन्दरं' के साथ-साथ 'शिवं' भी (शिव) अर्थात् कल्याणकारी भी कहते हैं। अत: उस सौन्दर्य की ओर ही मनुष्य का ध्यान जाना चाहिये।

(ङ) जो मनुष्य परमपिता परमात्मा ही को परम सुन्दर जानकर तथा मानकर सुन्दरता की उस अपार राशि के साथ नाता जोड़ता है, वह भविष्य में नर से श्री नारायण, नारी से श्री लक्ष्मी पद प्राप्त कर लेता है। अत: मनुष्य को चाहिये कि वह इन छह बातों का मनन करते हुए प्रभु के आकर्षण-क्षेत्र में प्रवेश करे।

२. रस अथवा स्वाद

जैसे मनुष्य रंग-रूप के आकर्षण का दास बन कर फैशन, वासना-भोग इत्यादि का

शिकार होता है, वैसे ही वह रस के आकर्षण में पड़कर सारा दिन जिह्वा का दास बना रहता है: ढाई इंच की ज़बान, साढ़े पाँच फुट लम्बे व्यक्ति को खींच कर कभी होटल, कभी चाट और भल्ले-पकौड़ी की दुकान पर तथा कभी हलवाई की दुकान पर ले जाती है। दुनिया में झगड़ों का बहुत बड़ा कारण ज़बान पर कन्ट्रोल न होना है। योगाभ्यासी अन्न-दोष के कारण मन को प्रभु की स्मृति में लवलीन नहीं कर सकता। स्वाद के डोरों से बन्धा हुआ मनुष्य कभी एक रस चखना चाहता है, कभी दूसरा, क्योंकि उसे परम रस का अर्थात् आनन्द रस का पता नहीं है। अब इस के आकर्षण से निकलने के लिए मनुष्य को मुख्य रूप से इन तीन बातों पर मनन करना चाहिये :-

(क) मान लो कि कोई व्यक्ति बहुत ही प्रकार के भोजनों से सजी मेज के पास बैठा है। महफिल लगी हुई है। तरह-तरह के रंग-रूप और स्वाद वाले पदार्थ कुशल हलवाई ने बनाकर सामने रखे हैं। परन्तु यदि अभी उस व्यक्ति को तार मिले कि उसका प्यारा, इकलौता पुत्र मर गया है तो वही स्वादिष्ट पदार्थ उसे फीके लगने लगेंगे। इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि रसास्वादन मनुष्य की वृत्ति (mood) पर निर्भर करता है। यदि वह शान्त हो तो उसे वे अनेक रस भी अच्छे लगते हैं, वर्ना रसीले रसगुल्ले भी नीरस मालूम होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सबसे बड़ा रस 'शान्तरस', 'एकान्त रस' अथवा 'आनन्द रस' है। उसे प्राप्त करने के लिये तो योग ही साधन है और मन को प्रभु पर ही स्थिर करने की आवश्यकता है।

(ख) मान लो कि किसी व्यक्ति को एक विशेष खाद्य पदार्थ बहुत ही भाता है। परन्तु यह बात असंदिग्ध है कि वह उस पदार्थ को एक विशेष मात्रा से अधिक नहीं खा सकता क्योंकि उसकी पाचन शक्ति या भोग करने की क्षमता उतनी ही है। यदि वह उससे अधिक खायेगा तो वही वस्तु उसके लिये हानिकारक होगी। पुनश्च, उस मात्रा तक खाने पर मनुष्य का मन भर जाता है, अर्थात् कुछ घंटों या दिनों के लिये उसका जी भर जाता हैं। इन रसों को भोगने की एक सीमा है। यदि मनुष्य को रोज़ाना वही पदार्थ खिलाया जाय तो उसका मन ऊब जाता है। अत: निष्कर्ष यह हुआ कि वास्तव में रस उस खाद्य पदार्थ में नहीं है, वर्ना अधिक खाने में उसे अधिक रस आता और रोज़ाना खाने से भी उसका मन न ऊबता। तब क्यों न मन की एकरस अवस्था ही को प्राप्त किया जाय जो कि वास्तव में रस-राज है?

(ग) हम देखते हैं कि एक मनुष्य को जो खाद्य पदार्थ प्रिय लगता है, दूसरे मनुष्य को उसमें उतनी रुचि नहीं होती। इससे स्पष्ट है कि स्वाद केवल वस्तु में नहीं होता बल्कि भोक्ता की अपनी रुचि अथवा पसन्द पर भी निर्भर होता है। जिसका भाव यह हुआ कि

रस मनुष्य की अपनी अवस्था, मनोदशा या अभिरुचि से सम्बन्धित होता है।

अतः, सर्व भावेन, एक रस अवस्था प्राप्त करना अथवा अचल स्थिति को पाना ही श्रेयस्कर है। उसके बिना सारा संसार ही मनुष्य को नीरस अथवा फीका लगता है। मनुष्य की स्थिति ठीक न हो तो वह सभी सम्बन्धियों से ऊबा हुआ-सा रहता है, जिसके परिणामस्वरूप उसमें नाराज़गी, उदासी, चिड़चिड़ापन इत्यादि का स्वभाव बना रहता है। वह न तो स्वयं प्रसन्नवदन होता है, न दूसरों को सन्तुष्ट कर सकता है। अब मनुष्य को चाहिये कि योग-स्थिति द्वारा परम रस अर्थात् आनन्द को प्राप्त करे, तब वह संसार के सभी रस (उनके वश हुए बिना) सेवन कर सकेगा।

३. गन्ध

सुगंधि भी मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करती है। परन्तु यह भी क्षणिक ही होती है। पुष्प की सुगंधि एक दिन ही तो रहती है, इत्तर का टिकाव पल मात्र ही तो होता है। अत: जैसे फूल कचड़े की तरह दुर्गन्ध वाले खाद में उग कर भी संसार में सुगन्धि फैलाता है, हमें चाहिये कि हम भी वर्तमान, कलियुगी, तमोप्रधान संसार से भी गुण ग्रहण कर के दिव्य गुणों की सुगन्धि फैलाएं। जो मनुष्य दिव्य गुणों रूप सुगंधि को अपनाता है, उसे सदा सुगंधि मिलती है। देखिये तो दिव्यगुणों से युक्त मनुष्यों अर्थात् देवताओं की प्रतिमाओं के सम्मुख मन्दिरों में सदा धूप, कपूर और अगरबत्ती जलते ही रहते हैं और लोग उन पर सुगंधित फूल भी चढ़ाते हैं। तो जबकि उनकी प्रतिमाओं पर भी सुगंधित पदार्थ चढ़ाये जाते हैं और षट रस से युक्त भोग लगाये जाते हैं और उन्हें सुन्दर रंग-रूप वाले वस्त्र एवं आभूषणों से सुसज्जित किया जाता है तो क्यों न आत्मा को दैवी गुणों से सुगंधित किया जाय?

४. स्पर्श

स्पर्श का आकर्षण भी बहुत प्रबल होता है। तभी तो मनुष्य नरम-गरम, या कोमल-शीतल के पीछे भागता है। वास्तव में काम-वासना की उत्पत्ति भी रंग-रूप तथा स्पर्श, दोनों संवेदनों से उत्पन्न होती है, तभी तो नेत्रहीन मनुष्य भी कामाधीन हो जाता है।

दूसरी ओर मनुष्य का यह स्वभाव है कि जिस वस्तु से वह घृणा करता है, उसे स्पर्श भी नहीं करना चाहता और जो वस्तु उसे प्रिय है, उसे वह धारण किये रखना चाहता है, उसमें समा जाना चाहता है अथवा उसे स्वयं में लीन कर लेना चाहता है।

परन्तु सबसे उत्तम स्पर्श अर्थात् संग प्रभु का है जो कि जन्म-जन्म विकारों से जले

मन को शीतल कर देता है, अंगों का ताप बुझा देता है और मनुष्य को एक ऐसी मस्ती, खुमारी एवं खुशी दे देता है जोकि परमप्रिय परमात्मा को मिलने से हो सकती है। अत: मनुष्य को यह समझ कर योग द्वारा आत्मा की सजनी, सखी, सखा, साजन, सर्वस्व स्वरूप प्रभु का स्पर्श अर्थात् संग प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए।

५. शब्द

कितने ही लोग दूसरे किसी की मीठी-तोतली बोली द्वारा आकर्षित होते तथा गीत और नाद पर मोहित होते हैं। शब्द का तो संसार में इतना महत्व है, इतना प्रभाव है, इतना आकर्षण है कि जिसका अनुमान भी नहीं हो सकता। कोई किसी के लैक्चर से प्रभावित होकर उसके राजनैतिक दल में सम्मिलित हो गया है और, दूसरा कोई व्याख्यान या प्रवचन सुन कर एक साधु का चेला बन बैठा है। तीसरा, रेडियो और टेलीविज़न पर गीत सुनने में ही लगा रहता है। चौथा, शास्त्र के शब्द ही को मुख्य प्रमाण मान कर घर-बार का संन्यास करके जँगल में जीवन व्यतीत कर रहा है और, पाँचवा, गुरु द्वारा मिले 'शब्द' का पाठ अथवा जाप करने में ही जीवन की सफलता मान कर उसी की रट में लगा रहता है। शब्दों के अर्थ-अनर्थ, ध्वनि, तरंग, लिखा-पढ़ी और कहा-सुनी में ही संसार लगा हुआ है। किसी का मन छोटे बच्चे की कोमल भाषा को सुनकर उसके प्रति मोह में जकड़ा है तो अन्य का मन अपमानजनक शब्द सुन कर जल-भुन रहा है तो तीसरा किसी गायिका के मधुर गीत सुन कर कन-रस में खोया है। यह स्मृतियाँ मनुष्य को योग में भी टिकने नहीं देतीं और अपनी ओर आकर्षित करती हैं। परन्तु मनुष्य को सोचना चाहिये कि हरेक मनुष्य के बोल तो उसकी अपनी बुद्धि, अपने मन्तव्य, अपने अनुभव और अपनी स्थिति ही के अनुसार हैं और उसी के अनुसार उतनी सीमा तक लाभकर या हानिकर, प्रेरक या पतनकारी, मनमोहक या उत्तेजक हैं। सर्वोपरि तो भगवान् ही के शब्द हैं, उनके संचय का नाम ही रख दिया गया 'भगवद्‌गीता' अर्थात् स्वयं 'भगवान् के गीत'। वे मनुष्य की वृत्ति, स्थिति और कृत्ति को पावन करने वाले, हर्ष से भरने वाले, उत्साह देने वाले तथा परमकल्याणकारी हैं। स्वयं ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर परमपिता परमात्मा के बोल होने के कारण, उनसे बढ़कर दूसरे शब्द संसार में हो नहीं सकते जो कि बुद्धि को सात्विक, अनुभव को परिपक्व, स्थिति को उत्कृष्ट और जीवन को पावन बनायें। अत: मनुष्य को चाहिए कि उन्हें सुने तथा सुनाये।

ऊपर, पाँचों विषयों की दासता से छूटने का जो संक्षिप्त मार्ग प्रदर्शन दिया गया है; उस पर बार-बार मनन करने से मनुष्य के मन की चंचलता शान्त होगी और वह इस

संसार में कमल पुष्प के समान पवित्र बन जायेगा। उसकी स्थिति ऐसी हो जायेगी कि उसे संसार के सौंदर्य (रूप-रंग), रस, गंध, शब्द में एक नया रस मिलेगा; वह उनका प्रयोग करते हुए भी उनके अधीन नहीं होगा; उनका रस लेते हुए भी परम रस से वन्चित नहीं रहेगा जिससे ऊंचा और कोई रस नहीं होता।

पुनश्च, मनुष्य को सोचना चाहिये कि यदि हम इस कलियुगी, रगड़े-झगड़े, रोग-शोक, जरा-मृत्यु वाले नरक-तुल्य संसार के रंग-रूप, रस-गंध, स्पर्श इत्यादि के गुलाम बने रहेंगे तो हम वैकुण्ठ के देवता नहीं बन सकेंगे। स्वर्ग का सौन्दर्य, वहाँ के दृश्य, वहाँ की सज-धज, वहाँ के श्रृंगार और बन-ठन निराले ही हैं। वहाँ रूप-लावण्य, और रस-स्वाद की क्या उपमा? वहाँ की सुगंधि, वहाँ की कोमलता तो अद्वितीय है, सतोप्रधान भी हैं, दिव्य भी, पवित्र भी और भरपूर, चिरस्थायी तथा निर्दोष भी है। अत: हमें चाहिये कि हम मन को प्रभु में लगाकर, राजयोगी बनकर स्वर्गिक स्वराज्य के अधिकारी बनें। इस प्रकार के मनन-चिन्तन से ऐन्द्रिय आकर्षण तथा विषय-चिन्तन छूट जायेगा और आत्मा योग की उच्च कोटि पर टिक कर प्रभु के परम सुन्दर दर्शन, आनन्द रस, दिव्य गुणों की गन्ध, ईश्वरीय ज्ञान सम्पन्न शब्द तथा पवित्रता एवं प्रभु के स्पर्श से कृत्य-कृत्य एवं धन्य-धन्य हो जाएगी।

ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने का अभ्यास क्यों?

हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि मन को ईश्वरीय स्मृति में स्थित करके, ईश्वरानुभूति के रस में तल्लीन होना ही योग-स्थित होना है। इस संदर्भ में कुछ लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि हम परमात्मा की स्मृति में स्थित होने का अभ्यास क्यों करें? हम मन को पूर्णत: संकल्प-शून्य ही क्यों न कर दें अथवा परमात्मा के बजाय अन्य किसी वस्तु, जैसे कि किसी पुष्प, सुन्दर प्राकृत दृश्य या किसी विचार पर ही मन क्यों न एकाग्र करें? आज नास्तिकता की दौड़ में कई लोग यह भी प्रश्न करते हैं कि प्रभु को इस बात की क्या आवश्यकता है अथवा क्यों कामना है कि हम उसे याद करें अथवा उसका गुण-चिन्तन करें? वे आक्षेप-भावना से कहते हैं कि शायद प्रभु भी खुशामद-पसन्द है। आज ऐसे भी बहुत लोग हैं जो कहते हैं कि मनुष्य को अच्छे कर्म किये चले जाना चाहिये, योग अथवा ईश्वरीय स्मृति इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं है।

हम उपरोक्त मन्तव्यों पर विचार करके देखेंगे कि क्या हमें ईश्वरीय स्मृति में स्थिति के अभ्यास करने की आवश्यकता है या नहीं और कि कर्मों को श्रेष्ठ बनाने के पुरुषार्थ में ईश्वरीय स्मृति का कोई महत्व है या नहीं? पहले हम स्थूल जगत् में किये जाने वाले कर्मों को अपने सामने रखकर देखेंगे कि — क्या मनुष्य की कृति का उसकी स्मृति के साथ अथवा उसकी मनोवृत्ति के साथ कोई सम्बन्ध है या नहीं?

स्मृति का मनोवृत्ति और कृति से सम्बन्ध

मान लीजिये कि कोई व्यक्ति बैठा हुआ कुछ पढ़ रहा है। अचानक ही उसके सामने की ओर से आता हुआ कोई व्यक्ति उसकी ओर बढ़ रहा है तो उस मनुष्य को ज्यों ही यह स्मृति आती है कि यह व्यक्ति मझसे बदला लेना चाहता था और आज अवसर पाकर यह शायद उसी संकल्प से मेरी ओर शीघ्रता से बढ़ा आ रहा है, त्यों ही उसकी दृष्टि, वृत्ति और स्थिति क्रमशः बदल जाती है। 'यह मेरा शत्रु है' — ऐसी स्मृति आते ही उस मनुष्य की दृष्टि उस व्यक्ति के प्रति शत्रुतापूर्ण अथवा घृणा-सम्पन्न हो जाती है और उसकी वृत्ति में द्वेष, हिंसा,भय इत्यादि जागृत हो जाते हैं और उसकी स्थिति या तो भयान्वित या उद्विग्न हो जाती है और इस सबके परिणामस्वरूप उसकी वृत्ति में यह

परिवर्तन आता है कि वह हाथ में लिये किताब को तुरन्त वहीं छोड़कर या तो अपने बचाव के लिये कोई साधन ढूँढ़ने लगता है, चिल्लाने लगता है या वहाँ से भागने की कोशिश करता है। तो देखिये, स्मृति का कृति के साथ कितना गहरा सम्बन्ध है !

मनुष्य के दिन-भर के यदि सभी कर्मों पर आप विचार करेंगे तो आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मनुष्य का कोई भी ऐसा कर्म नहीं जो किसी-न-किसी स्मृति पर आधारित न हो। वह दुकान पर धन्धा करने जाता है तो उसके मस्तिष्क में यह स्मृति बनी हुई है कि मेरे इतने बच्चे हैं, मेरे घर का इतना खर्च है और, इसलिये, मुझे इतना कमाना है। वह बच्चों से मिलता है तो उसके हाव-भाव इसी स्मृति पर आधारित होते हैं कि उनके साथ उसका पिता-जैसा सम्बन्ध है। इस प्रकार, दिन-भर मनुष्य जिस-जिस किसी से भी व्यवहार करता है, जो-कुछ भी लेन-देन करता है, जिस सम्बन्ध में भी बरतता है, वह किन्हीं स्मृतियों अथवा संस्मृतियों पर आधारित होता है। समय-समय पर मनुष्य के मुख पर भी हर्ष, खेद, भावावेश, चिन्ता, दु:ख, ग्लानि इत्यादि के जो चिन्ह उभरते हैं, वे भी किसी-न-किसी स्मृति से सम्बन्धित होते हैं। अत: योग, जिसे कि 'चित्त की वृत्तियों का निरोध' माना गया है — स्मृति द्वारा ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि वृत्ति की चाबी स्मृति के हाथ में है।

मनुष्य की स्मृति का उसकी वृत्ति, कृति, स्थिति और अनुभूति से इतना गहरा सम्बन्ध है कि रात्रि को सोये हुए भी वह स्वप्न में काम, क्रोध, लोभ इत्यादि से युक्त जो-कुछ भी वह देखता है, वह भी उसकी स्मृति से सम्बन्धित होता है। यदि दिन-भर उसकी स्मृति में वासना हो और किसी देहधारी नर या नारी की स्मृति हो तो सोये हुए भी उसकी याद आने से उसकी मनोवृति, स्थिति तथा अनुभूति या कृति वैसी ही हो जाती है। वर्षों पहले की कोई कटु या मधुर स्मृति आने से भी उसकी मानसिक अवस्था तथा उसका हाव-भाव वैसा ही हो जाता है। यहाँ तक कि पूर्व-जन्म की बातें तथा सम्बन्धी याद आने पर भी बालक उन सम्बन्धियों की ओर जाने की चेष्टा तथा यत्न करता है।

ईश्वरीय स्मृति से हमारी दृष्टि, वृत्ति, स्थिति और कृति में परिवर्तन

उपरोक्त दृष्टांत से यह स्पष्ट है कि जब हमारा मन परम पवित्र, आनन्द के सागर तथा शान्ति एवं प्रेम के सागर परमपिता परमात्मा की स्मृति में तल्लीन होगा तब उस स्मृति से हमारी दृष्टि पवित्र, वृत्ति शान्त एवं आनन्दमय और कृति दूसरों के लिये कल्याण करने वाली भी होगी। इस प्रकार नैतिक, मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से

ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने का अभ्यास हमारे अपने लिये लाभकर है। इसमें ईश्वर को न कोई हमारे योगाभ्यास की आवश्यकता है, न ही उसे किसी प्रकार की कामना है। हमारे प्रति मंगल कामना अथवा शुभ कामना रखते हुए ही परमात्मा का यह आदेश और उपदेश है कि – 'हे वत्स! तू मेरी स्मृति में स्थित हो... मन को मुझ में लगा...मेरी ही याद में कर्म कर।' भगवान की इस आज्ञा का आधार स्मृति, दृष्टि, वृत्ति, स्मृति और कृति का परस्पर सम्बन्ध ही है।

संसार का सारा खेल स्मृति और विस्मृति पर आधारित है

विचार करने पर आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि समस्त चेतन संसार स्मृति और विस्मृति ही का खेल है। हमारे सम्मुख शिक्षाओं से भरा हुआ इतिहास खुला रक्खा है। कोई उसमें दी गई शिक्षाओं को धारण करता है, अर्थात् स्मृति में ग्रहण करता है तो वह आगे बढ़ जाता है और कोई उन्हें भुला देता है तो उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। कौन है जिसने सिकन्दर महान् द्वारा भारत पर आक्रमण के ऐतिहासिक वृत्तान्त को नहीं सुना? उसमें बताया गया है कि मृत्यु से कुछ समय पहले सिकन्दर ने अपने सेनाध्यक्षों को अपने पास बुलाकर कहा था कि जब मेरे प्राण पखेरु उड़ जाएं और जनाज़ा निकाला जाय तो मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रक्खे जाएं ताकि दर्शकों को मेरे जीवन से यह शिक्षा मिले कि भूमि और धन हड़पने के लिये मैंने जो लूट-खसोट और हत्या-हिंसा की उसका अन्तिम परिणाम यही है की मैं यहाँ से खाली हाथ जा रहा हूँ और मेरा सब अभिमान अब इस शरीर के साथ अन्त में मिट्टी में मिल जाने वाला है। जो लोग इस शिक्षा को स्मृति में रखते हैं वे मोह और अहंकार से बचकर रहते हैं। परन्तु, कितने ही लोग हैं जिन्हें इस अनमोल शिक्षा की विस्मृति हुई रहती है और इसी का ही तो यह परिणाम है कि आज संसार में मनुष्य, मनुष्य का परस्पर टकराव हो रहा है। इसी प्रकार, इतिहास यह बताता है कि जिस देश में परस्पर फूट और मतभेद होते हैं और लोग आलसी तथा भाग्यवादी होते हैं, वह देश दु:ख, दरिद्रता और दासता की ज़ंजीरों में जकड़ा रहता है। परन्तु इन शिक्षाओं को हम सहज ही विस्मृत कर बैठते हैं और हमें भयंकर परिणामों का सामना करना पड़ता है। तो देख लीजिये कि व्यक्ति, देश अथवा समाज का वर्तमान तथा भविष्य स्मृति तथा विस्मृति पर आधारित है।

जैसे मनुष्य कुछ अनमोल शिक्षाओं का विस्मरण कर देता है, वैसे ही उसमें एक कमी यह है कि जिन बातों को भूल जाना चाहिए वह उन्हें बार-बार याद करता है। आपने ऐसे कितने ही लोग देखे होंगे जो बीती हुई बातों को बार-बार माला और मंत्र की तरह

स्मरण करके अथवा उनका बखान करके दूसरों के प्रति घृणा और द्वेष को मन में समाये रहते हैं और अशान्त तथा दु:खी बने रहते हैं। किसी ने कभी कोई बात कही जो ठीक नहीं लगी या कोई कर्म किया जो भला नहीं मालूम हुआ तो वे वर्षों बीतने के बाद भी उसका वर्णन दोस्तों-मित्रों से करते हैं और स्वयं भी खिन्न होते हैं तथा दूसरों का मन भी खराब करते हैं तथा अनबन पैदा करते हैं। इसी तरह, कई देशों के लोग भी पिछले कई वृत्तान्तों को अपने सामने रखने के कारण परस्पर मैत्रीभाव स्थापित नहीं कर पाते।

आत्म-स्मृति तथा ईश्वरीय स्मृति की आवश्यकता

इसी तरह, आज स्थिति का विश्लेषण करने पर हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि मनुष्य आज आत्म-स्मृति में रहने की बजाय आत्म-विस्मृति में रहता है, अर्थात् उसका जितना भी कार्य-कलाप है, वह सब इसी पर आधारित है कि – ''मैं देह हूँ।'' देह की स्मृति से उसमें पुरुषत्व अथवा स्त्रीत्व का भान आता है और इससे देह-दृष्टि तथा काम-वृत्ति और मोह-वृत्ति पैदा होती है और उस पतित स्मृति से उसकी स्थिति एवं कृति बिगड़ती है और कृति अथवा कर्म बिगड़ने से वह दु:ख तथा अशान्ति का भागी बनता है। अत: अब इस बात की आवश्यकता है कि अब हम आत्म-स्मृति तथा ईश्वरीय-स्मृति का अभ्यास करके उसमें स्थिति अर्थात् टिकाव प्राप्त करें। इस सत्यता को जान लेने से मालूम होगा कि जो लोग आत्म-स्मृति तथा ईश्वरीय-स्मृति के बिना श्रेष्ठता की पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहते हैं, वे गोया आधार के बिना ही भवन का निर्माण करना चाहते हैं।

स्वरूप-विस्मृति के कारण समाज का पतन

आप देखेंगे कि आज आत्म-विस्मृति तथा देह-स्मृति ही का यह परिणाम है कि लोग स्वयं को ''आत्मा-आत्मा भाई-भाई'' मानने की बजाय रंग-भेद, जाति-भेद, भाषा-भेद, प्रान्त-भेद आदि के कारण परस्पर झगड़ रहे हैं और देह-स्मृति द्वारा पैदा होने वाले काम विकार के परिणामस्वरूप जनसंख्या में वृद्धि, क्रोध विकार के परिणाम स्वरूप अपराध, अनुशासनहीनता, घर-घर में कोलाहल, लोभ के कारण रिश्वत और मिलावट, मोह के कारण ही पक्षपात, अन्याय, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, अहंकार के कारण ही घृणा, मतभेद झगड़ा-रगड़ा है। आज यदि समाज की इन समस्याओं का कोई हल है तो वह आत्म-स्मृति (Soul-conciousness) और ईश्वरीय स्मृति (God-conciousness) ही है।

स्मृति का सही स्वरूप

आज 'ईश्वरीय स्मृति' के सही स्वरूप का भी बोध प्राय: लुप्त-सा है। कुछ लोग तो प्रभु की याद में मस्त हो कर भजन गाते तथा कीर्तन करते हैं और अन्य कई अपने 'गुरु' से मिले किसी 'मन्त्र' या 'शब्द' का पुन:पुन: उच्चारण अथवा स्मरण करते हैं और वे इस प्रकार के अभ्यास को 'भक्ति योग', 'शब्द योग', 'नाद योग' इत्यादि नाम देते हैं। अत: जबकि 'ईश्वरीय स्मृति' में स्थिति को योग में मुख्य स्थान दिया गया है तो यह निर्णय कर लेना भी ज़रूरी है कि 'ईश्वरीय स्मृति' का सही एवं शक्तिशाली स्वरूप क्या है।

पहली बात

इस प्रश्न को लेकर चर्चा प्रारम्भ करते समय दो मूल बातें हमें ध्यान में रखनी होंगी। एक तो यह है कि 'योग' की व्याख्या करते हुए यह निर्धारित हो चुका है कि 'योग' में आत्मा 'स्वरूप स्थित' होती है। पतंजलि ने भी 'योग' को 'चित्त की वृत्तियों का निरोध' बताने के बाद कहा है कि उसमें आत्मा, स्वरूप में टिकी होती है। गीता, जो कि स्वयं भगवान की परम पुनीत वाणी है और योग का सर्वोत्कृष्ट वांग्मय है, में भी योग को 'आत्म-स्थिति' माना है। ऐसा मान लेने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक होगा कि योगाभ्यास में मौन-स्थिति ही आवश्यक है अथवा सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि आत्मा का आदिम स्वरूप (Original stage) तो वाणी से परे, मौन (Silence) अथवा पर चिन्तन (Worldly-Thoughts) से परे की स्टेज है। यह जो चेतन है, यह बोलना तो तभी प्रारम्भ करता है जब देह में आता है, यह स्वयं तो मूक है। आत्मानुभूति के बारे में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि यह गूंगे का गुड़ है, अवर्णनीय है; तो सिद्ध हुआ कि आत्मा-अनुभूति के लिये भी वाणी से परे, वहाँ जाना होगा जहाँ एकान्तिक शान्ति है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा गया है कि योगी अभ्यास करते समय वैसे ही अपनी कर्मेन्द्रियों को समेट लेता है जैसे कि कछुआ जीवन-निर्वाह इत्यादि सम्बन्धी कर्म कर चुकने के बाद कर्मेन्द्रियाँ समेट लेता है। स्पष्ट है कि योगी को भी मुखेन्द्रिय का आधार लेने के बजाय इन्द्रियों से तो उपराम होना है। फिर, 'प्रत्याहार' (withdrawl) अर्थात् आत्मा को शरीर से अलग या न्यारा करना भी योग का एक आवश्यक अंग माना गया है; तब फिर योगी का वाणी में उतरना अभ्यास की उत्कृष्टता तो न हुई? निद्रा में आत्मा को शरीर से उपराम परन्तु तमोगुण से आच्छादित माना गया है और योग के लिये आत्मा को इसी प्रकार शरीर से निवृत एवं न्यारा होकर जागृत तथा सतोप्रधानता में टिकने का विधान

बनाया गया है। पुनश्च, योग का एक लक्ष्य इसी देह में मुक्ति अवस्था अथवा कर्मातीत अवस्था का अनुभव करना है, अत: लक्ष्य की दृष्टि से भी ऐसा साधन अपनाना उपयुक्त नहीं जिसमें कि कर्मेन्द्रियों का आवश्यक प्रयोग करना पड़े। योग में अतीन्द्रिय सुख (Bliss, जो सुख इन्द्रिय सुख न होकर आत्मिक सुख है) का अनुभव ही अभीष्ट है तो फिर इन्द्रियातीत अवस्था में तो स्थित होना ही पड़ेगा। तो सार यह है कि स्वरूप-स्थिति के लिये वाचा के स्तर पर उतरना भी एक प्रकार से कर्म-काण्डी बनना है और योग के शिखर पर पहुँच कर अनुभूति के परम-रस से दूर रहना है।

दूसरी बात

दूसरी बात यह है कि 'योग' का ध्येय तो प्रभु से नाता जोड़ना है और यह नाता 'आत्मिक' है। शारीरिक नाते तो क्षण-भंगुर और मरण-शील प्राणियों से पंच भौतिक नाते हैं। आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा (परम-आत्मा) से जोड़ने के लिये देह (मुख) का आधार लेने की क्या आवश्यकता? ये दोनों सत्ताएं तो प्रकृति से भिन्न हैं, पारमार्थिक हैं अथवा पार लौकिक हैं, इहलौकिक देह का इसमें क्या काम? हमारे घर में बिजली की तारें लगी होने पर जब हम उनका सम्बन्ध पावर हाऊस (Power house; बिजली घर) की तार से जोड़ना चाहते हैं तो भी रबड़ अथवा इन्सुलेटिंग पदार्थ को ऊपर से हटा कर धातु वाली तार को तार से जोड़ना होता है। यदि रबड़ को उतारे बिना तारों को जोड़ दिया जाये तो उस तरह 'जोड़ने' से प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती क्योंकि बिजली घर से प्रकाश (Light) और शक्ति (Power) का प्रवाह हम ग्रहण नहीं कर पाते। ठीक इसी तरह, परमात्मा रूपी शक्ति-गृह अथवा प्रकाश-गृह से आत्मा का सम्बन्ध 'जोड़ने' (योग-युक्त करने) के लिये भी देह की स्मृति को हटाना आवश्यक है। यदि हमारी चेतना उससे ढकी होगी तो वह स्मृति रूप तार जुटेगी नहीं। अत: इस दृष्टिकोण से भी योगाभ्यास के समय वाचक कर्म करना श्रेष्ठता के शिखर पर ले जाने वाला नहीं है।

उपर्युक्त दोनों मौलिक बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि योगाभ्यास करते समय मौन रहना श्रेष्ठ है। इनके अतिरिक्त, एक और महत्वपूर्ण बात को समझना भी जरूरी है। हम जो शब्द मुख से बोलते हैं, वे वाचा में व्यक्त होने से पहले तो संकल्प रूप में होते हैं अर्थात् ध्वनि-रहित शब्द की अवस्था में हमारे मन से शक्ति-तरंगों के रूप में निकलते हैं। वह शक्ति हमारी जिह्वा, हमारे तालव्य, हमारे दान्तों, ओष्ठों, नासिका इत्यादि के प्रयोग से विशेष प्रकार के शब्द गुंजारित अथवा उच्चारित करती है। तो निश्चय ही वह ध्वनि-रहित शब्द हमारे ध्वनि-पूरित शब्दों के भी

जन्म-दाता हैं और उनसे अधिक शक्तिशाली भी हैं। भाव रूप में शब्द अधिक शक्तिशाली होते हैं; तभी तो मुख द्वारा प्रगट होने के अतिरिक्त मनुष्य उस भाव में कई बार कांपने लगता है, मुस्काने लगता है, हाथों को हिला-हिला कर और साथ-साथ आंखों द्वारा रो कर भी भाव प्रगट करने की कोशिश करता है। तो जबकि मूक-भाषा अथवा भाव रूप में शब्द अधिक शक्तिशाली हैं, यहाँ तक कि भाषा के अतिरिक्त शरीर के सभी अन्य अंग-प्रत्यंग मिल कर भी उन्हें पूरी तरह प्रकट नहीं कर पाते, तब क्या मौन भाषा में ईश्वरीय स्मृति अर्थात् भाव में ही ईश्वरीय स्मृति अधिक शक्तिशाली एवं सिद्धि-कर न होगी? अवश्य होगी। तभी तो कहा गया है कि वाणी चाँदी-तुल्य है, मौन सोने-तुल्य (Speech is silver, Silence is gold), यह भी कहा गया है कि वाणी भाव की अभिव्यक्ति के लिये असमर्थ साधन हैं *1। तब क्यों न मौन भाव से ईश्वरीय स्मृति का आनन्द लिया जाये और शक्ति को भी खर्च करने की बजाय उसका संचय किया जाय तथा सशक्त रीति ध्वनि तरंग की बजाय प्रभु से विचार तरंग अथवा भाव-तरंग से मेल स्थापित किया जाय?

पुनश्च, बोलने की तो आखिर सीमा (Limit) है। मनुष्य आधा घण्टा भजन करेगा, एक घण्टा उच्चारण करेगा, दो घण्टा जाप कर लेगा, बस न ? परन्तु विचार तो चलता ही रह सकता है, संकल्प तो उठते ही रहते हैं। अत: परमात्मा से हमारा स्थायी योग तो मनोयोग ही हो सकता है, अर्थात् वह तो बुद्धि में स्मृति के रूप में ही हो सकता है। तो लगातार *2 सम्बन्ध, अटूट जोड़, ध्रुव समाधि तो स्मृति द्वारा ही हो सकती है क्योंकि उसमें किसी कर्मेन्द्रिय का प्रयोग नहीं होता।

अन्यश्च, हम प्रभु की प्रीति के जो भजन गाना चाहते हैं या कीर्तन करना चाहते हैं, उसका प्रयोजन क्या है? क्या उसके पीछे हमारा यह आशय है कि परमात्मा हमारी प्रीति को जान कर हम पर कृपा करें? यदि परमात्मा सर्वव्यापक है जैसा कि भक्त लोग मानते हैं, तब तो वे हमारे मनोभाव को जानते ही हैं, तब आवाज़ करने की क्या ज़रूरत है? परमात्मा को सर्व देशीय सत्ता मानने वाले तो उसे 'सर्वव्यापक' मानते ही इस कारण से हैं कि वह सर्वत्र होने से वह सबके मन के संकल्प को जान सकेगा; अत: उनके मन्तव्य के अनुसार जब परमात्मा उनके मनोजगत में विराजमान है और द्रष्टा है, उससे कुछ भी छिपा नहीं है तो अन्तश्चेतना की बजाय बाह्य आलाप क्या एक प्रकार की

---

*1 Speech is our impotent instrument for expression.

*2 यह लगातार शब्द दो अर्थों में लिया जा सकता है – एक तो तार लगाना अर्थात् कनैक्शन जोड़ना और दूसरा 'निरन्तर'। ईश्वरीय स्मृति में उन दोनों गुणों का समावेश हैं।

बाह्यमुखता तथा अपने ही सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं है? यदि कोई परमात्मा को परलोक अथवा ब्रह्मलोक का वासी मानता है तो उस लोक की इस मनुष्यलोक से एक मौलिक भिन्नता ही यह है कि वह वाणी से परे है, वहाँ न कोई क्रिया है, न जाति, न वचन है, न भजन। वैज्ञानिकों के मतानुसार भी वाणी या ध्वनि (Sound) का अपना एक क्षेत्र है; उसके बाहर वह ध्वनि नहीं रहती बल्कि जाती है। तब भी तो परलोक तक हमारी वाणी पहुँच नहीं सकेगी। मरने अर्थात् शरीर छोड़ने के बाद ही तो आत्मा का परलोक गमन हो सकता है, तब शरीर ही के भाग मुख से विनसृत वाणी कैसे परलोक में पहुँचेगी; अत: प्रयोजन की सिद्धि तो शान्ति-पूर्वक, अलाप-रहित स्मृति ही से होगी।

संक्षेप में यह मालूम रहे कि जब हम ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने के लिये कहते हैं तो हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि हम प्रभु की याद में कोई भजन गायें या कीर्तन करें या किसी 'शब्द' का आलाप अथवा जाप करें या किसी मन्त्र का स्मरण (सिमरण) करें। बल्कि, हमारा भावार्थ यह है कि हम स्वरूप स्मृति तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति में रहें। तोता रटन की आवश्यकता नहीं है, न ही आवाज़ों की दुनिया में जाने की ज़रूरत है। आज कल, जबकि संसार में पहले से ही आवाज का अधिक्य (Noise Pollution) है, हमें तो कम तथा धीमा बोल कर समाज की सेवा करनी है और बुद्धि द्वारा परमात्मा से प्रीति करनी है तथा उसकी स्मृति में तल्लीन होना है। जबकि परमात्मा से हमारा पिता-पुत्र, सखा-सखा इत्यादि जैसे घनिष्ट सम्बन्ध हैं, तब उसके लिये शोर करने की ज़रूरत क्या है? क्या प्रेमिका प्रेमी को जब याद करती है तो आलाप करती है? क्या पुत्र पिता को याद करता है तो कोई भजन गाता है? नहीं, नहीं। यह तो जिसके मन में प्रीति की चिंगारी लग जाती है, उस अनोखी आग का स्वाद वही जानता है। वह बुझाये नहीं बुझती। उसकी आंखें प्रभु-स्मृति से उस ही में डूबी होती हैं, उसके मन में तो बस उस ही की धुन (न कि ध्वनि) लगी होती है और प्रीति के प्याले की मस्ती उस पर ऐसी सवार होती है कि उसके क्या कहने! योग करने वाला तो अन्तर्ध्यान होता है, अन्तर्मुख होता है, अन्त: स्थित होता है, वह संसार को देखते हुए भी नहीं देखता। वह लग्न में मग्न होता है, वाणी में कोई स्थायी रीति से मग्न नहीं हो सकता।

इससे कोई यह न समझ ले कि हम भजन या कीर्तन के विरुद्ध हैं। नहीं, नहीं। हम तो भजन और कीर्तन के श्रेष्ठ स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं। कीर्तन शब्द का अर्थ तो प्रभु का यश गाना है; उस यश को तो हमें अपने कर्मों द्वारा प्रत्यक्ष करना है। यदि हमारे कर्म प्रभु की आज्ञाओं के अनुरूप श्रेष्ठ एवं पवित्र नहीं होंगे तो केवल गाना-बजाना तो गोया ज़बानी जमा-खर्च हो जायेगा, वह तो प्रभु की कीर्ति के बजाय जप कीर्ति हो जायेगी।

आज संसार में नास्तिकता इसीलिये ही तो फैली है कि प्रभु का कीर्तन करने के साथ-साथ लोगों के कर्म श्रेष्ठ नहीं हैं, जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग मानते हैं कि प्रभु-मग्न होना भी एक दिखावा अथवा नीति रीति है। कर्मों का महत्व होने के कारण ही कहा गया है कि कर्म वाणी से ऊंचा है। लोक में भी पिता की कीर्ति पुत्र के सदाचार के फलस्वरूप फैलती है, न कि मौखिक रूप से यशोगान से। यही बात पारमार्थिक सत्य भी है।

प्रभु का सही भजन-कीर्तन या शब्द आलाप तो यही है कि हम दूसरों को उसके स्वरूप का परिचय दें तथा प्रभु की स्मृति में स्थित होने का सहज मार्ग बता कर उन्हें भी सदाचारी बनायें। इसमें हम तभी सफल होंगे जब हमारे अपने कर्म अच्छे होंगे और कर्म श्रेष्ठ तभी होंगे जब हम स्मृति रूप अजपा-जाप (न कि स्मरण) के अभ्यासी होंगे।

1* Actions speak louder than words.

मन्त्र, मूर्ति और माला

भारत में, धार्मिक क्रिया-कलापों के लिये प्राय: किसी मन्त्र का सहारा अवश्य लेते हैं। विशेष तौर पर ईश्वरीय स्मृति का अभ्यास करते समय तो मन्त्र का प्रयोग अनिवार्य-सा समझा जाता है। कोई श्री कृष्ण का भक्त हो तो ' ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', कोई श्री नारायण का श्रद्धालु हो तो 'ॐ नमो नारायणाय' का जाप करता है और किसी के इष्ट 'शिव' हों तो वह 'ॐ नमो शिवाय' का अभ्यास करता है। जो लोग निराकार उपासी हैं या किसी विशेष सम्प्रदाय में विश्वास नहीं करते, वे गायत्री मन्त्र का पाठ या जाप करते हैं। भारत में यह रिवाज है कि जब कोई व्यक्ति अपने गुरु से दीक्षा लेता है तो गुरु उसके कान में मन्त्र फूँकता है और वह व्यक्ति जीवन पर्यन्त उस मन्त्र का जाप करता है। सन्त मत के महन्त या 'गुरु' अपने शिष्य का संस्कृत भाषा में कोई मन्त्र न देकर किसी प्रादेशिक अथवा देशीय भाषा में उसे 'शब्द' अथवा 'नाम' स्मरणार्थ देते हैं।

ध्यान देने के योग्य बात यह है कि प्राय: सभी लोग 'मन्त्र' अथवा 'नाम' को गुप्त रखते हैं। वे इसे किसी को बताते नहीं हैं। पुनश्च, जिस व्यक्ति से वे यह मन्त्र लेते हैं, उसे ही वे अपना 'गुरु' मानते हैं और जीवन पर्यन्त वे मन्त्र या गुरु को बदलते नहीं हैं। अत: भारत में मन्त्र के प्रति कुछ ऐसी भावना बनी होने से आज हम जब किसी को योगाभ्यास के लिये प्रेरित करते हैं तो वे हम से पूछते हैं कि ईश्वरीय स्मृति के अभ्यास के लिए कौनसे मन्त्र का जाप किया जाय?

'मन्त्र' शब्द का अर्थ और मन्त्र का प्रयोजन

मन्त्र की आवश्यकता है भी या नहीं — पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये। 'मन्त्र' शब्द का अर्थ है — परामर्श, सम्मति या राय । इसी अर्थ में राजा को परामर्श देने वाले व्यक्तियों को 'मन्त्री' कहा जाता है। प्रजातन्त्र में देश का राष्ट्रपति, प्रजा द्वारा चुने हुए जिन व्यक्तियों के परामर्श के अनुसार कार्य करता है उन व्यक्तियों को भी 'मन्त्री' कहा जाता है। सभाओं के लिये भी मन्त्री नियुक्त अथवा निर्वाचित होते हैं क्योंकि वे प्रधान को मन्त्रणा देते हैं।

इस अर्थ को ध्यान में रखते हुए, इस निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन नहीं होगा कि

किसी अनुभवी अथवा विचारवान व्यक्ति से जो राय मिले उसे तो आचरण में लाना चाहिए, उसका पुन: पुन: उच्चारण करना अथवा उसकी मानसिक पुनरावृत्ति (Mental Repitition) तो वैसे ही है जैसे कि किसी डाक्टर से दवा के लिये नुस्खा या लिपि (Prescription) लेने पर, डाक्टर द्वारा बताई दवा न लेकर नुस्खे ही का मानसिक पाठ करते रहना। परामर्श अथवा सम्मति का तो अनुकरण, न कि पुन: पुन: अनुस्मरण करने की आवश्यकता है। मन्त्र का तो भाव अथवा अर्थ बुद्धि में ग्रहण करके यत्नशील होना ही ठीक बात है, परन्तु आज हो रहा है इसके विपरीत ही। आज मन्त्र, श्लोक, दोहे, चौपाई – सभी का केवल पाठ ही हो रहा है। मनुष्य 'शान्ति पाठ' करते हुए – 'ऊं शान्ति द्यो शान्ति पृथ्वी.....' इत्यादि का उच्चारण करता है और पाठ करके उठते ही घर वालों से झगड़ा अर्थात् 'अशान्ति पाठ' प्रारम्भ कर देता है। वह गीता में इस अर्थ वाला श्लोक पढ़ता है – भगवान् ने कहा, "हे अर्जुन, काम, क्रोध, और लोभ नरक के द्वार हैं..." परन्तु नित्यप्रति पाठ के बाद दुकान में या दफ्तर में लोभवश मिलावट, रिश्वत इत्यादि भ्रष्ट आचरण करता है और क्रोध भी जी-भर कर करता है और रात्रि को 'काम' नाम वाले नरक के द्वार से भी गुज़रता है। दूसरे दिन फिर प्रात: पाठ भी कर लेता है – 'हे अर्जुन, काम, क्रोध, लोभ ये तीनों नरक के द्वार हैं !" वह आरती करता है – "विषय-विकार मिटाओ पाप हरो देवा ...." अथवा "मैं मूरख, खल, कामी, कृपा करो भरता..." और कामी तथा खल भी बना रहता है!!

तोता रटन

यह तो ऐसा ही है जैसे तोता रटन। कहते हैं कि एक मनुष्य ने तोता पाल रखा था। वह प्रात: कुछ समय उस से बातें किया करता था और उसके पिंजरे का दरवाज़ा खोल देता था। एक दिन वह तोता पानी वाले नल पर जा बैठा और, परिणामत: उसके पर भीग गये। मालिक ने उसके पर पोंछकर उसे पिंजरे में डाल दिया। तोते का नाम था – 'गँगू राम'। मालिक, प्रति दिन, प्रात: उससे जब बात करता तो कहता – "गंगू राम! नल पर न बैठना...गंगू राम! नल पर न बैठना...।" गँगू राम भी उस स्नेही मालिक के वचन को, उसके परामर्श को, उसके 'मन्त्र' को दुहरा देता। एक दिन जब मालिक ने उसके पिंजरे का द्वार खोला तो गँगू राम फिर नल पर जा बैठा। वह फिर पानी में भीग गया और साथ-साथ कहता भी रहा – "गँगू राम! नल पर न बैठना"। यही हाल आज मनुष्य का भी है।

विचार कीजिए कि एक व्यक्ति वासुदेव को ही भगवान् मान कर 'ऊं नमो भगवते

वासुदेवाय' का जाप कर रहा है। इस मन्त्र का अर्थ यह है कि – ''मैं वासुदेव भगवान् को नमस्कार करता हूँ।'' सोचने की बात है कि नमस्कार तो वही करता है जो पहले मन से उसे स्वीकार करता है। जो स्वीकार नहीं करता, वह क्या झुकेगा और स्वीकार करने का अर्थ तो आत्मसात करना (अर्थात् 'अपनाना') है क्योंकि 'स्व' का अर्थ 'आत्मा' है। अत: यदि हम किसी को अपनाते नहीं, उसकी शिक्षाओं को आत्मा में बिठाते नहीं, उसे अपने मन का मालिक नहीं मानते, तब तो गोया हम उसे 'दूर से ही नमस्कार' करते हैं !! यह तो वैसे ही हुआ जैसे कि पंचायत को कहना कि – ''हम आप को नमस्कार करते हैं, परन्तु आपकी बात नहीं मानेंगे।''

कहते हैं कि एक व्यक्ति का छत्त से बरसाती पानी निकालने का जो परनाला था, वह गली में पड़ता था, उससे प्राय: पानी गिरा करता था और आने-जाने वाले लोगों पर गंदे पानी के छींटे पड़ते थे। एक बार पंचायत के लोग इकट्ठे होकर उस व्यक्ति के पास गये। वह व्यक्ति उनसे मिलते ही बोला – ''नमस्कार भगवन् नमस्कार! आज तो हमारे घर में पंचायत सरकार आ गयी है। कहिये क्या आज्ञा है?'' पंचायत ने कहा – ''आप से हमारा एक निवेदन है, एक राय है। यह जो आपका परनाला है, इसे या तो यहाँ से हटाओ या इसे ढकवा दो क्योंकि इससे गंदा पानी गिरता है, आने-जाने वालों पर छींटे पड़ते हैं और उनके कपड़े खराब होते हैं तथा उनका नहाया-धोया भी बिगड़ता है।'' मन्त्री महोदय ने मन्त्रणा तो दी। परन्तु वह व्यक्ति बोला – ''पंचों की बात सिर-माथे पर परन्तु परनाला यहीं रहेगा।'' देखिए पंचों को नमस्कार तो किया, उनकी मन्त्रणा की बात को सिर-माथे पर भी माना परन्तु गंदा परनाला यदि वैसे ही टपकता-बहता रहेगा तो लोगों के सिर-माथे पर तो परनाला ही रहा! ठीक यही हाल उनका है जो भगवान् को नमस्कार भी करते हैं और काम-क्रोध-लोभ का परनाला भी हटाते नहीं हैं! तब उस मन्त्र का क्या प्रयोजन? अत: यही निष्कर्ष निकला कि मन से भगवान् को परमश्रद्धेय एवं परम हितैषी स्वीकार करके उनकी आज्ञाओं या मन्त्रणा के अनुरूप जीवन को बनाना ही सही रूप में मन्त्र सिद्ध करना है।

मन्त्र का प्रयोजन

आप देखेंगे कि मन्त्र के बारे में लोग प्राय: चार सावधानियाँ बरतते हैं। एक तो वे मन्त्र को पवित्र मानते हैं और पवित्रता देने वाला भी मानते हैं। तभी तो नहा-धोकर, पवित्र होकर, पवित्र स्थान पर बैठकर वे उसका जप करते हैं और मन की शुद्धि के लिये ही वे मन्त्र की मानसिक पुनरावृत्ति करते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि पवित्र बनना ही

मन्त्र का प्रयोजन है। परन्तु हम देखते हैं कि आज संसार में अनगिनत गुरु हैं और कोटि-कोटि श्रद्धालु शिष्य हैं जो कि मन्त्र का प्रयोग करते हैं परन्तु फिर भी मानसिक पवित्रता, जो कि आचार-व्यवहार की शुद्धि की नींव है, दिनों-दिन मिटती जा रही है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य ने 'मन्त्र' के सही स्वरूप को या अभ्यास को समझा नहीं है अथवा सर्वोत्कृष्ट मन्त्र अभी पाया नहीं है जिससे कि मन शुद्ध हो जाय, वचन पवित्र हो जाएं और कर्म सुकर्म अथवा श्रेष्ठ हो जाएं।

दूसरी बात यह कि मन्त्र का प्रयोग करने वाले लोग उसे गोपनीय मानते हैं और गुप्त रखते हैं। वे गुरु से मिले मन्त्र अथवा शब्द को दूसरों को बताते नहीं हैं, उसे प्रख्यात नहीं करते हैं क्योंकि उन्हें यह कहा गया है कि यदि वे मन्त्र को बताएंगे तो मन्त्र में वह प्रभाव एवं शक्ति नहीं रहेगी अथवा उस द्वारा वह सिद्धि प्राप्त नहीं होगी जो होनी चाहिए। इससे स्पष्ट है कि वास्तव में मन्त्र को गोपनीय तो इसीलिए माना गया है कि वह बुद्धि में ही समझने की चीज़ है। परन्तु लोगों ने 'गुप्त' शब्द का यह गलत अर्थ लिया है कि मन्त्र दूसरों को बताना ही नहीं है। वास्तव में अच्छी बात तो दूसरों को बतानी चाहिए; उसे न बताना तो अच्छाई को संसार से लोप करना अथवा स्वार्थी होकर, यानि परोपकार की भावना को छोड़कर, दूसरों को उसके लाभ से वन्चित करना है। मनुष्य दिन-भर दूसरों की निन्दा-चुगली तथा व्यर्थ की बातें तो खुले-आम करता है, तब मन्त्र, जो कि संसार के कल्याण की चीज़ है, उसे गुप्त रखने का क्या अर्थ?

मन्त्र के विषय में आप तीसरी बात यह देखेंगे कि लोगों में यह आस्था है कि उससे सिद्धि प्राप्त होती है। उसके प्रयोग से कार्य संवर जाते हैं और मनुष्य को लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परन्तु आज हम देखते हैं कि मनुष्य को न केवल मुक्ति का लक्ष्य प्राप्त हो रहा है, न जीवन्मुक्ति का। यदि मुक्ति की प्राप्ति हो रही होती तो मनुष्य-गणना कम होती जानी चाहिये थी और मुक्ति से पहले तो इस शरीर में मनुष्य का जीवन पवित्र बन जाना चाहिये था। ऐसा तो कोई परिवर्तन होता मालूम नहीं हो रहा है। जीवन्मुक्ति की प्राप्ति से पूर्व भी मनुष्य में इसी जीवन में दिव्य गुणों की उपलब्धि दिखाई देनी चाहिए। आज वह भी तो नहीं दीखती : तभी तो दिनोंदिन समाज तमोप्रधान हो रहा है, यहाँ लोगों के स्वभाव में तनाव, उग्रता तथा मनोविकार का प्राबल्य ही होता दिखाई देता है।

मन्त्र का सही स्वरूप और सही अभ्यास

ऊपर, हम मन्त्र के विषय में जो चर्चा कर आये हैं, उसकी भूमिका में यह समझना हज होगा कि मन्त्र के अर्थ में स्थित होना अर्थात् मन्त्र के भाव के अनुसार आत्म-स्थिति

बना लेना ही उसका वास्तविक अभ्यास है। उदाहरण के तौर पर 'ओम् नमो शिवाय' — यह जो मन्त्र है इसे ही लीजिये। इसका भावार्थ तो यही है कि जो कल्याणस्वरूप, मंगलकारी, परमपिता परमात्मा हैं, उनको मेरा नमस्कार है। अब इस मन्त्र के अनुरूप आत्म-स्थिति बनाने से हमारा अभिप्राय यह है कि हम मन को ब्रह्मलोक (शिव लोक) के वासी ज्योति-बिन्दु परमात्मा शिव की ओर एकाग्र कर दें और उस मंगलकारी पिता के गुणों का मनन करते हुए उसके रसास्वादन में स्थिर हो जायें। हम मन्त्र के अक्षरों को रटने की बजाय, इनका जो अर्थ है उसे बुद्धि में धारण कर के, हम भाव-विभोर हृदय से, प्रेम-निमग्न होकर, उस परमपिता की स्मृति (न कि स्मरण) में स्थित हो जायें — ऐसी तन्मयता से टिक जायें कि, बस, उसी रस में डूब जायें।

इस बात को हम और विस्तार से स्पष्ट करते हैं। 'ओम् नमो शिवाय'— यह जो मन्त्र है, इसे लीजिये। इस मन्त्र से हमें मन्त्रणा तो यह मिलती है कि — हे मनुष्यो, तुम्हारा कल्याण अन्य कोई नहीं कर सकता, बल्कि एक परमात्मा ही कर सकते हैं क्योंकि वही परमपवित्र हैं, सर्वशक्तिमान् हैं, ज्ञान के सागर, आनन्द के सागर, पाप-कटेश्वर तथा मुक्तेश्वर भी हैं। मनुष्य तो मतलबी (स्वार्थी) हैं, अल्पज्ञ हैं, कालाधीन हैं, मरण-शील हैं, असमर्थ तथा अपवित्र भी हैं, इनसे कल्याण अर्थात् मुक्ति-जीवन्मुक्ति की आशा व्यर्थ है। मृत्युन्जय एवं अमरनाथ भी केवल शिव ही हैं, मात्र वे ही सत्य भी हैं और सुन्दर भी और उन्हीं से काल-कण्टक दूर हैं। अत:, हे मानव तू उस प्रभु शिव ही को नमस्कार कर, उस ही की शरण ले, उस ही द्वारा बताये मार्ग पर चल, तू सर्व भावेन उसी का हो जा, तभी तेरा भी पूर्ण कल्याण होगा।

तो इस मन्त्र के पीछे जो भाव है उस भाव को बुद्धि में धारण करके, उससे प्रेरित होकर, उद्वेलित होकर, स्वाभाविक रूप से स्नेहउद्रेक से मात-पिता शिव ही से मनोमिलन मनाना बुद्धि रूपी चक्ष से शिव लोक के वासी ज्योति-बिन्दु शिव को देखते हुए मन ही मन उसी की स्मृति में रहना ही मन्त्र के अर्थ स्वरूप में स्थित होना है। अर्थ में स्वरूप को स्थित करके शिव परमात्मा को इस प्रकार सम्बोधित करना - "हे परमपिता, परम सद्‌गुरु, आप ही मुझ वत्स के कल्याणकर्ता हैं — अब मैं इस रहस्य को समझ चुका हूँ और सर्व भाव से आपका हो चुका हूँ और आपकी आज्ञाओं के अनुसार चलने का व्रत लेकर जीवन-यात्रा कर रहा हूँ...... आप मुझे आनन्द, शान्ति, पवित्रता दे रहे हैं......।" यह है उस मंत्र के अर्थस्वरूप में 'रमण' करना, उसके अर्थ का 'मनन-चिन्तन' करते-करते उसमें स्थिति प्राप्त कर लेना एवं 'स्थित-प्रज्ञ' हो जाना। इसमें सिमरने या रटने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि स्वाभाविक रूप से परमस्नेही, मृदुल माता-पिता 'शिव' के

प्रति अर्पणमयता, प्रेम तथा भावना के उद्‌गारों में उमड़-घुमड़ जाना समाया हुआ है। इसका तो रस ही न्यारा है। इस में संस्कृत का ज्ञान नहीं है, न ही पण्डिताई है। इस में तो प्रेम है, भावना है, मन की समर्पणमयता है, एक अटूट सम्बन्ध एवं निकटता का खिंचाव है।

सही मंत्र और सही मूर्त्ति

संसार में गुरुओं ने जितने भी 'मंत्र' अपने शिष्यों या अनुयायियों को दिये हुए हैं, उन सभी का अर्थ तो यही है कि – "मैं भगवान् (या भगवती) को नमस्कार करता हूँ।" गुरु लोग पहले से ही शिष्य के स्वभाव को तथा उसकी भावना को जान लेते हैं और उसे "राम....राम....राम" जपने के लिये या 'ओम् नमो भगवते वासुदेवाय' जपने के लिये मंत्र दे देते हैं। जो व्यक्ति जिस देवता, देवी या भगवान् को इष्ट मानता हो, उसकी रुचि के अनुसार ही 'गुरु' उसी 'इष्ट' से सम्बन्धित मंत्र दे देता है। यह तो बड़ी विडम्बना है क्योंकि भगवान् का वास्तविक परिचय भी तो होना चाहिये, परिचय के बिना किसी को भी भगवान् मानकर उसका जाप करना तो आगे ताँगा (टाँगा) और पीछे घोड़ा (Cart before the horse) बांधने की-सी बात करना है। मानने से पहले तो जानना ज़रूरी होता है, कोरा मानना तो गोया अन्ध-श्रद्धा का आधार लेना है।

यदि कोई यह कहे कि हम तो राम, कृष्ण, नारायण, शिव – सभी को एक भगवान् के ही अनेक रूप मानते हैं, तब यह तो गोया जानने से पहले ही मानना हुआ। उन्होंने कैसे जाना कि सभी भगवान् के ही रूप हैं? अवश्य ही किसी गुरु ने उन्हें ऐसा बताया। गुरु को किसने बताया? उत्तर मिलेगा कि उसके गुरु ने बताया और उसके आधार पर हमने भी मान लिया। मनुष्य तो अल्पज्ञ है, कर्म-बन्धन में जकड़ा हुआ है, जन्म-मरणाधीन है, वह उस पारलौकिक सत्ता को यथा-सत्य कैसे जान सकता है? यदि कहा जाय कि प्रारम्भ में स्वयं भगवान् ने ही अपना परिचय दिया था, तब प्रश्न उठता है कि वह भगवान् कौन हैं जिस ने परिचय दिया था? तब तो सभी मनुष्यों को चाहिये कि उस एक ही को भगवान् मानें।

यदि कोई कहे कि राम, कृष्ण, शंकर इत्यादि तो बाह्य कायिक एवं नश्वर नाम-रूप हैं, परमात्मा तो एक शक्ति अथवा प्रकाश है, तो प्रश्न उठेगा कि उन कायिक एवं नश्वर नामों एवं रूपों को याद करने का क्या प्रयोजन? याद तो परमात्मा-सत्ता को करना चाहिये। यदि कोई कहे कि इनके कायिक नाम और रूप भी अविनाशी हैं, तब एक तो काया को अविनाशी मानना भूल है और, दूसरे, तब तो गोया यह अर्थ हुआ कि ये एक

की बजाय अनेक भगवान् मानते हैं और जब वे अनेक भगवान् मानते हैं तो उनमें कोई अन्तर भी होगा ही। यदि कोई कहे कि नाम और रूप से कोई अन्तर नहीं पड़ता, मुख्य चीज़ तो मनुष्य की भावना, श्रद्धा या प्रभु-प्रीति ही है तो प्रश्न उठेगा कि 'प्रभु कौन है?' — यह जाने बिना उससे प्रीति या उसमें श्रद्धा कैसी? और, प्रीति दैहिक आकृति से तो करनी नहीं है, प्रीति तो परमात्मा-सत्ता से करनी है जो हमारे मात-पिता हैं। सारी सृष्टि के मात-पिता तो एक ही हैं, किसी सम्प्रदाय का एक और दूसरे का दूसरा होना तो असत्य मान्यता है।

अत: उस एक ज्योतिस्वरूप पिता ही से मन को युक्त करना है। योगी को तो जाति, सम्प्रदाय इत्यादि की सीमाओं से ऊपर उठकर निष्पक्ष बनना होता है और एक सत्य को ही ग्रहण करना होता है तथा बुद्धि और हृदय, ज्ञान और प्रेम दोनों को साथ लेकर चलना होता है। इन सभी प्रकार के दैहिक धर्मों एवं बन्धनों से योगी आज़ाद होता है। सच्चे योगी का योग एक ज्योतिस्वरूप, अकाय परमात्मा ही से होता है। श्री राम, श्री कृष्ण, श्री नारायण, शंकर इत्यादि तो देवता हैं और श्री लक्ष्मी आदि देवियाँ हैं। परमात्मा तो इन सभी का भी रचयिता, ज्योतिस्वरूप, काया-माया रहित, ज्योति-बिन्दु ही है। सभी का इष्ट वह एक ही होना चाहिये क्योंकि उस एक ही से मिलने की सबको चाह है। उस एक को न जानने के कारण आज अनेक मंत्रों का लोग जप करते हैं और अनेक पार्थिव अथवा मानसिक मूर्तियों से प्रीति जुटाते हैं। श्री कृष्ण, श्री राम इत्यादि में जो दिव्य गुण थे, हमें उन गुणों को धारण करना है, परन्तु, योग तो परमपिता परमात्मा ही से लगाना है। उस परमपिता की आज्ञा है कि — 'हे वत्सो'! मैं अव्यक्तमूर्त्त हूँ, मन को मुझ में लगाओ, एक मेरी ही शरण में आओ क्योंकि योग और क्षेम देने वाला, पापों और तापों को मिटाने वाला मैं एक ही हूँ।'' गोया यही सद्गुरु परमात्मा द्वारा दिया गया मंत्र अर्थात् मंत्रणा (advice) है। इसके अनुसार बुद्धि में उस ज्योति-बिन्दु परमात्मा की स्मृति बनी रहे, मन में उसी से लग्न लगी रहे, चित्त उसी के प्रेम में मुग्ध हुआ उसी में मग्न रहे — यही मंत्र का वास्तविक अभ्यास है और उस अव्यक्तमूर्त, ज्योति-बिन्दु का रूप ही वास्तविक मूर्त है जिससे मन को युक्त करना चाहिए।

मन्त्र जपने वालों का ध्यान मन्त्र की ओर

इस प्रकार का अभ्यास 'स्मृति' कहाता है। विशेष शब्दों से बना हुआ मन्त्र जपने की बजाय, भावनापूर्ण तथा परिचय-सहित प्रभु से हम स्वाभाविक रीति से मन में कुछ भी वार्ता करें, वह अधिक स्वाभाविक भी है और सूक्ष्म भी। विशेष मन्त्र का उच्चारण करने

वाले का ध्यान शब्दों की ओर रहता है। इससे उसका ध्यान प्रभु की ओर पूर्ण रीति से न होकर बंटा हुआ-सा होता है, जबकि स्वाभाविक स्नेह, सहज भाव से होने वाली प्रभु-स्मृति में पूरा ध्यान ज्योति-स्वरूप प्रभु ही की ओर रहता है; इसलिए उसमें विचार-तरंगें सीधी लक्ष्य को जाकर स्पर्श करती हैं और योग की धारा अभंग, अखण्ड, अमिश्रित एवं एकांगी होती है।

योग प्रभु से लगाना है, न कि मन्त्र से

यदि मन्त्र उच्चारण या स्मरण करने वाला कोई व्यक्ति हमारे इस कथन का निषेध करते हुए कहता है कि – ''मंत्र स्मरण में हमारा ध्यान मंत्र की ओर रंचक भी नहीं रहता बल्कि पूर्णत: इष्ट ही की ओर रहता है, तब फिर मंत्र की आवश्यकता ही क्या है? मन्त्र का स्मरण करने वाले लोग मन्त्र की प्राय: यही तो आवश्यकता बताते हैं कि मन को टिकाने के लिये यह सहायक होता है। यदि यह सहायक नहीं है, तब तो इसकी आवश्यकता ही न रही। यदि यह सहायक है तो स्पष्ट है कि मन का ध्यान बँट जाता है, जिस क्षणांश (Split Second) में मन प्रभु पर टिका है, उतना समय वह मंत्र भंग हुआ मानिये और जिस क्षणांश में मन मन्त्र पर आश्रित होता है, उस क्षणांश में वह प्रभु से हटा होता है; तब वह मनुष्य योग-स्थिति में नहीं होता; गोया तब प्रभु से योग होने की बजाय उसका योग मन्त्र से होता है। दूसरी बात यह है कि यदि मन्त्र एक सहज क्रिया (Reflection) की तरह स्वत: ही होता रहता है, अर्थात् उसमें ध्यान रंच-मात्र भी नहीं देना पड़ता, तब तो उसमें कोई रस ही न रहा, न कोई भाव रहा। वह तो हमारे अवधान (attention) या 'धारणा' और 'ध्यान' से रहित होने के कारण समाधि अथवा ईश्वरानुभूति देने वाला नहीं हो सकता। तब उसका क्या लाभ?

कुछ लोग कहते हैं कि - ''मन्त्र के उच्चारण अथवा स्मरण से विशेष प्रकार की तरंगें (Waves) अथवा प्रकम्पन (Vibrations) वायुमण्डल में प्रवाहित होते हैं जोकि वायुमण्डल में आध्यात्मिकता, शान्ति तथा उल्लास पैदा कर देते हैं और मंत्र की शब्द-रचना एवं अक्षर-चयना ऐसा होता है कि उससे विशेष प्रकार की सिद्धि होती है तथा उससे इष्ट की कृपा होती है।'' 'शब्दों का विशेष प्रभाव होता है'– इससे हम इन्कार नहीं करते। यह तो आज सभी जानते हैं कि संगीत का प्रभाव पुष्पों और पौधों पर भी पड़ता है, दूध देने वाले पशुओं पर भी ऐसा प्रभाव पड़ता है कि संगीत के आधार पर वे कुछ अधिक दूध देते हैं। संगीत द्वारा कारखानों में कार्य करने वाले व्यक्तियों की कार्य-क्षमता (Efficiency) भी बढ़ जाती है। किन्तु, इस प्रसंग में ध्यान देने के योग्य बात

यह है कि मुख्य रूप से यह प्रभाव गीत द्वारा उभारे गये आवेगों (Sentiments) अथवा भावों के कारण से होता है। कला कोई भी हो, वह मनुष्य के भाव-पक्ष (Emotions,) तथा प्रेम, उत्साह इत्यादि से सम्बन्धित होती है। अत: वास्तविक मंत्र तो प्रेम ही है जो कि आत्मा को परमात्मा की लग्न में मग्न कर देता है। प्रेम ही दो आत्माओं को जोड़ने वाली चीज़ है। आत्मा और परमात्मा के मिलाप के लिये परिचय और प्रेम ही साधन है।

प्रेम ही सच्चा मन्त्र है

पति-पत्नी, पुत्र-पिता, मित्र सम्बन्धी जब एक-दूसरे से प्रेम-सूत्र में बंध जाते हैं तो उन्हें स्वत: और सहज ही एक-दूसरे की याद आती है, वे याद के लिये किसी मन्त्र का जाप नहीं करते। उनको तो अपने प्रिय की धुन लग जाती है। प्रिय की याद तो भुलाये नहीं भूलती। हाँ, यदि प्रेम ही न हो तो मनुष्य व्यर्थ के सहारे ढूँढ़ता है; तब वह कृत्रिम साधन अपनाता है, जैसे कि कोई कुरूप नारी मुख को कृत्रिम साधनों से सुन्दर बनाने की कोशिश करती है। परन्तु, परमात्मा के दरबार में मन की सफाई और सच्चाई ही चलती है, कृत्रिमता नहीं चलती। अत: आवश्यकता मन्त्र की नहीं, आवश्यकता प्रेम को प्रदीप्त करने की है और उसी के लिये ज्ञान की लौ की ज़रूरत है ताकि आत्मा में बुझा हुआ यह भाव फिर से जागृत हो जाय कि प्रभु के सिवाय अन्य कोई पार लगाने वाला कोई सुख-शान्ति का असीम भण्डार है ही नहीं और कि विषय विकार शान्ति देने वाले नहीं हैं। जब यह चिनगारी सुलग जोयेगी तब प्रेम बुझाये नहीं बुझेगा। तब मन्त्र को कौन पूछेगा? आत्मा तो परम रस में डूबी (डूबा) होगी।

याद रहे कि शब्दों की झंकार प्रभु के दरबार तक नहीं पहुँचती। वातावरण में संगीत-लहरी तो पहले ही से बहुत है; शताब्दियों से लोग गाते आये हैं। आवश्यकता तो प्रेम की है, प्रेम से जो तरंगे वातावरण में जायेंगी, उसी से संसार बदलेगा — शेर और गाय भी एक घाट पानी पियेंगे और मनुष्य का संतप्त हृदय, विकारों से त्रस्त आत्मन् शीतल एवं शान्त हो जायेगा। प्रेम न उत्पन्न करने वाले शब्द तो, रसहीन गन्ने-जैसे हैं, थोथे हैं और इनसे उत्पन्न होने वाले प्रकम्पन तो वायुमण्डल में कृत्रिमता और उदासीनता फैलाते हैं। जिस भावना से मनुष्य के मन में प्रेम का उद्रेक हो और आत्मा परमात्मा पर मुग्ध हो जाय, वही तो मंत्र है; वह मंत्र किन्हीं विशेष शब्दों का नहीं होता बल्कि उसकी भाषा तो हृदय के उद्‌गार हैं।

चित्र और मूर्ति

प्रेम-पूरित हृदय से, अव्यक्तमूर्त अर्थात् दिव्य प्रकाशमय बिन्दु रूप है जिसका — उस प्रियतम की, न की उसकी प्रतिमा की याद में मन को डुबा देना ही योग है। प्राय: योग-प्रचारक योगाभिलाषियों को कहते हैं कि — "इष्ट की मूर्ति पर मन को एकाग्र करो।" परन्तु, हम बता आये हैं कि पार्थिव या अव्यक्त किसी भी देह पर मनको एकाग्र करना तो देह-अभिमानी बनना है, याद हमें ज्योति-बिन्दु ही की करनी है। यहाँ कोई तर्क कर सकता है कि — "हम पत्थर से बनी मूर्ति तो केवल आधार ही के तौर पर रखते हैं; उसमें हम देखते तो ज्योतिर्मय काया वाले चेतन भगवान् ही को हैं। मूर्ति को हम मूर्ति मानते ही नहीं। हम तो उसमें भगवान् का वास मानने के कारण उसे भगवान् ही की भावना से देखते है।"

परन्तु, प्रश्न यह है कि यदि भगवान सर्वत्र हैं, तब तो मूर्ति बनाने की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि सर्वव्यापक सत्ता की तो मूर्ति बन नहीं सकती। पुनश्च, तब तो पत्थर को कोई शारीरिक आकार तथा अलंकार देने की भी आवश्यकता नहीं बल्कि यों ही पत्थर को भी स्थापित किया जा सकता है। भगवान् को विशेष देह और गेह में मानना तो गोया उसे नाम-धाम वाला मानना है। यदि यह कहा जाय कि सर्वव्यापक परमात्मा ने यह कायिक रूप धारण किया है; जैसे कि जल बर्फ़ का रूप धारण कर लेता है या चीनी खिलौनों का रूप धारण कर लेती है, तो भी बात नहीं बनती क्योंकि सर्वव्यापक-तत्व तो उसे कहा जा सकता है जिससे कोई भी स्थान खाली न हो। और, जिससे कोई स्थान खाली न हो वह भला रूप धारण कैसे करेगा? एक चीज़ के रूप को अन्य पदार्थों के रूप से विलग करने के लिये तो एक भिन्न पदार्थ चाहिये जो कि उसकी रूप रेखा या सीमा निर्धारित करे और ऐसे पदार्थ के लिये जगह कहाँ? पुनश्च, पानी तो बर्फ बन सकता है क्योंकि वह दूसरे तत्व, शीत, से संवेलित होता है, चीनी भी पहले ताप से और फिर शीत से सहधर्मी होकर रूप धारण करती है और वे दोनों सर्वव्यापी भी नहीं है। परन्तु, परमात्मा तो नित्य एक स्व-धर्म में ही स्थित हैं और यदि वे सर्वव्यापी हैं तो, न उनका रूप परिवर्तन हो सकता है न गुण-परिवर्तन। अत: ये प्रतिमायें परमात्मा की नहीं हैं, न ही परमात्मा सर्वव्यापक है, ये तो देवियों और देवताओं की प्रतिमायें हैं और हमें तो योग 'देवों के भी देव,' परमात्मा से लगाना है जो कि ज्योति-बिन्दु हैं।

क्या मूर्ति पर ध्यान योग के लिये सहायक है?

जो योग-प्रचारक किसी मूर्ति पर मन को एकाग्र करने का निर्देश देते हैं वे उसके

लिये रीति-नीति स्पष्ट करते हुए कहते हैं – ''पहले इष्ट के चरण-कमलों पर ध्यान एकाग्र करते हुए, धीरे-धीरे उनके मुख-मण्डल तथा शीश की ओर ध्यान जमाना...। फिर, आंखे बन्द करके मन में उनकी आकृति-प्रकृति पर भाव को टिकाना। मन से उस चिन्मय मूर्त्ति के प्रति अनुनय-विनय तथा आत्म-निवेदन करना...।''

यह जो विधि-विधान बताया गया है, इससे स्पष्ट है कि किसी मूर्ति के समस्त अंगों पर तत्क्षण तो ध्यान टिक ही नहीं सकता। एक-एक अंग पर, एक-एक शरीर-भाग पर मन को स्थित करना पड़ता है क्योंकि मन का यह स्वभाव है कि वह एक समय एक ही चीज़ पर नहीं, न ही एक चीज़ के भी बहुत छोटे से भाग पर टिक सकता है। यह बात प्राचीन ऋषियों ने भी स्वीकार की है; तभी तो उन्होंने मन को अणु रूप माना है। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों को भी इसी सिद्धान्त में विश्वास है कि मन का अवधान (Attention) एक समय में एक ही भाग पर हो सकता है, परन्तु मन की गति इतनी तीव्र है कि वह क्षणों में समस्त शरीर पर दृष्टि डालकर एक ही चित्र बना लेता है। इस क्रिया में मन को इतना तो कम समय लगता है कि जिसको हम जान भी नहीं पाते। जानें भी कैसे? जानने वाला मन तो इस क्रिया में लगा होता है, तब जानेगा कौन? यह तो अलग ही प्रश्न है, परन्तु इस सन्दर्भ में यहाँ यह तो स्पष्ट हो गया कि मन को सभी कायिक अवयवों (Bodily Organs) का तत्काल ही दर्शन नहीं होता और उसका पूरा ध्यान (Concentration) तो शरीर के एक अंग के भी अल्पतम भाग पर होता है।

आप इस लेख को यहीं पढ़ना बन्द करके लाखों बार देखी तथा चिन्तन की गई किसी शारीरिक आकृति (श्रीकृष्ण या श्री राम या विष्णु चतुर्भुज) का चिन्तन कीजिये। आप एक ही समय (एक ही क्षणांश) में सारे शरीर को मानस-चक्षु द्वारा नहीं देख सकेंगे। चलिये, अब आप केवल मुख-मण्डल पर ही ध्यान जमाइये। इस चिन्तन में भी जब नेत्रों पर ध्यान केन्द्रित होगा तब ओष्ठों पर या कानों पर नहीं होगा। हाँ, भागकर मन कानों को देखकर नेत्रों पर वापस आ सकता है। अच्छा, नेत्रों पर ही मन को केन्द्रित करने का यत्न कीजिए। जब मन नेत्र के गोलक में गोल तली (आने) पर टिका होगा तब उसे पलकों या भौंहों का दर्शन नहीं होगा। इस प्रकार, आप परीक्षण कीजिये। आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि वास्तव में मन एक क्षणांश में एक ही अणु-सम सूक्ष्म भाग का दर्शन कर सकता है, बाकी आसपास के भाग को वेगवान मन अत्यन्त शीघ्रता से अस्पष्ट (Vague) रूप में देख सकता है।

तो प्रश्न यह है कि जब मन एक क्षणांश में एक ही अणु-जितने परिणाम वाली सत्ता का दर्शन कर सकता है तब मूर्ति का क्या लाभ? इससे तो अच्छी, सही एवं

स्वाभाविक विधि यही है कि वह ज्योति-बिन्दु परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करे।

मनुष्य को कौन समझाये ! जबकि बिन्दु से बड़े किसी रूप का दर्शन अथवा साक्षात् मन को हो ही नहीं सकता, तब फालतू ही भूल-भुलैया में पड़ने की क्या आवश्यकता है। केन्द्र के समान बिन्दु पर ही मन टिक सकता है, इसलिए मन के संवरण को 'केन्द्रिभूत होना' या 'केन्द्रित होना' कहते हैं। अंग्रेजी भाषा में भी एकाग्रता के लिये कॉन्सेन्ट्रेशन (Concentration) अर्थात् केन्द्रोन्मुख होना अथवा केन्द्र पर टिकना — ऐसे अर्थ वाला शब्द प्रयोग होता है। 'एकाग्रता' का भी यह भाव है। मन की एक-तानता का भी यही अर्थ निकलता है कि विचार एक धारा की भाँति एक ही ओर को जायें, इधर-उधर न बिखरें। अत: जबकि प्रभु के स्वरूप में एकाग्रता, ईश्वरीय स्वरूप में तन्मयता अथवा परमपिता परमात्मा में मन का केन्द्रिकरण ही हमारे मनोरथ की सिद्धि का साधन है तब दायें-बायें छोड़कर सीधे इस ही का अवलम्बन लेना चाहिये और इसके लिये एक ज्योति-बिन्दु आत्मा-पति परमात्मा में मन का जमाव प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिये।

परमात्मा को छोड़कर अन्य से योग धार्मिक जगत का व्यभिचार

परमात्मा का वास्तविक स्वरूप जिससे ही सम्बन्ध जोड़ना है, उस पर मन को केन्द्रिभूत करने का अभ्यास छोड़कर कायिक काल्पनिक एवं अनेक अंगों के संघातमय रूप पर मन को टिकाना तो 'कायिक योग' हुआ,'आध्यात्मिक' तो न हुआ और यथा-तथ्य भी न हुआ। क्या कोई पत्नी पति के रूप को याद करने की बजाय किसी क, ख, ग, घ व्यक्ति का अर्थात् अन्य पुरुष का ध्यान किया करती है? वह तो पतिव्रता नारी ही नहीं कहला सकती जिसके मन में प्रियतम को छोड़कर अन्य ही कोई पति रूप में बसता हो। इसी प्रकार, एक परमात्मा के अत्यन्त उज्ज्वल, ज्योतिर्मय सुहावने रूप को छोड़कर पर-पुरुषों को पति मनोनीत करके मन का पलड़ा उनसे बाँधना तो धार्मिक जगत् में हो रहा सूक्ष्म व्यभिचार है। सीता के तो एक राम हैं, सावित्री के एक सत्यवान हैं; उन्हें न जानने के कारण, अज्ञानता के घूँघट से ढकी आत्मा जिस-किसी पुरुष की मुखाकृति पर लट्टू हो जाय, जिसमें कोई थोड़ा अच्छा गुण दिखाई दे, उसे अपना पति मान ले तो उसे उसकी 'मानसिक आंखों के मोतिया' का ही प्रभाव मानेंगे।

जो सभी का आधार है, उसकी याद के लिये आधार

हमारा कर्तव्य तो स्नेह-भाव से सत्य की ओर संकेत करना है। फिर भी यदि कोई

कहे कि – "ज्योति बिन्दु रूप पर मेरा तो मन टिकता नहीं है," तो हम समझते हैं कि उसका मनवा अभी प्रभु-प्रेम में पगा नहीं है, उसके नेत्रों में अभी ज्ञान-अन्जन लगा नहीं है, उसके मन मन्दिर में दीपक अभी जगा नहीं है। यदि जन्म-जन्मान्तर से ऐसी टेव पड़ी हुई है कि अब मन उस प्रियतम का परिचय मिलने पर भी उसे नहीं पा सकता उसके प्यार से प्लावित नहीं हो पाता तो मजबूर होकर, सर्व आत्माओं के आधार उस परमपिता की याद में मन के स्थायित्व के लिये भी कोई आधार बताना ही पड़ेगा। यों मन को परमधाम तक उड़ान भरने के लिये कोई सीढ़ी तो नहीं चाहिये क्योंकि मन को तो पर लगे हुए हैं और विचित्र प्रभु को याद करने के लिये उसे स्थूल कोई चित्र भी नहीं चाहिये क्योंकि वह तो चिन्तनशील है; तो भी, जैसे बाल-हठ या राज-हठ पूरा करना पड़ता है, वैसे ही किन्हीं योगाभिलाषियों का हठ पूरा करने के लिये हम यथोचित साधन बनाते हैं। चित्र उसकी याद दिलाता है जिसका वह चित्र हो। अत: उस ज्योति-बिन्दु की याद के लिये यदि कोई आधार चाहिये ही, तब उस परमपिता शिव के बिन्दु रूप का वृहदाकार वाला चित्र, जिसमें कि बिन्दु अंकित हो या बिजली के प्रकाशमान होने वाला ट्रान्सलाईट या कोई साकेट (Socket) लगा लेना चाहिये। तथापि यत्न यह करना चाहिये कि उस सर्वाधार की याद के लिये अधिक समय तक यह आधार न बना रहे बल्कि सीधे उस पिता ही से योग जुट जाय।

बिन्दु-जैसी शिव प्रतिमा के ऊपर मन्दिरों में पानी का एक मटका रखा रहता है और उस पर जल का एक-एक बिन्दु टपकता रहता है। यह योगाभ्यास का प्रतीक है। कलश बुद्धि का प्रतीक है और जल ज्ञान का। भाव यह है कि मन परमात्मा शिव पर टिका हो और बुद्धि द्वारा एक-एक ज्ञान-बिन्दु (Point of knowledge) परमपिता शिव की ओर जाता रहे। यथा, 'हे परमात्मन्," "आप ज्ञान के सागर हैं।" फिर दूसरा बिन्दु 'टपकना' चाहिये - "आप प्रेम के सागर हैं।" फिर तीसरा ज्ञान-बिन्दु पड़ना चाहिये – फिर और ज्ञान बिन्दु प्रवाहित "आप ही सद्गति के एक मात्र दाता हैं।" इस प्रकार, एक के बाद एक ज्ञान बिन्दुओं की तार लग जाय। इसी को लगातार याद कहते हैं।

माला

इन्हीं ज्ञान बिन्दुओं अथवा ज्ञान-मणियों से बनी हुई और लगातार रूपी तार में पिरोई हुई माला ही वास्तविक माला है और इस प्रकार की स्मृति ही अजपा-जाप है। जो इस प्रकार की माला को फेरता है उसी का ही मन का मनका फिरता है, उसे 'करका मनका' फेरने की आवश्यकता नहीं रहती। 'कर का मनका' फेरना प्रीति की रीति नहीं है,

यह दो दैहिक कर्म है, इसमें मन की लगन कम है, कर का कर्म प्रधान है। फिर, माला फेरने वालों को यह भी नहीं मालूम कि माला के १०८ मणिके उन आत्माओं के प्रतीक हैं जिन्होंने मन का मणिका फेर कर माया पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी और याद रूपी तार द्वारा परमात्मा शिव से जुट गये थे, जिस शिव का प्रतीक माला में सबसे ऊपर 'फूल' है जोकि सभी से न्यारा और प्यारा है। फूल के नीचे 'मेरु' है जो कि युग्म-मनका है — यह ब्रह्मा और सरस्वती का प्रतीक है जिन्होंने ऐसा योग साधा कि 'मेरु पर्वत' की तरह अचल अवस्था को प्राप्त हो गये और शिव के निकटतम स्थिति को प्राप्त हुए। उनके द्वारा जिन्होंने शिव से अनन्य प्रीति की जिनके मन में ईश्वर की स्मृति ही फिरती रही, उन्हीं को आज मनका मानकर लोग परमात्मा को याद करते हैं। इसीलिये माला को 'सिमरणी' भी कहा जाता है क्योंकि यह ध्रुव स्मृति वालों का स्मारक रूप है। परन्तु इससे तो हमें प्रेरणा मिलनी चाहिये कि हम भी ऐसी अनन्य प्रीति प्रभु से जोड़ें, मन की तार शिव से ऐसे जुटायें कि मन का 'मनका' बन जाय और याद की तार से माला रूप हो जाय!

योगाभ्यास की रूप-रेखा

आज बहुत-से मनुष्य कहते हैं कि – ''योग द्वारा आत्मिक सुख अनुभव करने के लिए हमारे मन में भी इच्छा तो बहुत होती है परन्तु जब कभी हम परमपिता परमात्मा की अनन्य एवं मधुर स्मृति में स्थित होने का अभ्यास करने बैठते हैं तो हमारा मन इधर-उधर भटक जाता है और योग का जो उच्च आनन्द मिलना चाहिये तथा जीवन में जो अलौकिक परिवर्तन होना चाहिये वह नहीं होता।'' ऐसी ही योगाकांक्षी आत्माओं के लिए हम परमपिता परमात्मा शिव द्वारा बताई गई तथा अपने अनुभव में आई हुई कुछ युक्तियों का उल्लेख करते हैं जो कि सरल परन्तु बहुत ही लाभकारी हैं। । उक्ति प्रसिद्ध है कि – ''युक्ति से ही मुक्ति मिलती है।'' अत: हमारा निश्चय है कि इन तथा अन्यान्य ऐसी ईश्वरीय युक्तियों को अपनाने से मनुष्य प्रभु-मिलन का सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है और एक उच्च कोटि का योगी बन कर अपने सर्वोत्तम लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

योग की आधार शिला है -- आत्मिक स्मृति (Soul-Consciousness)

मनुष्य का मन योगाभ्यास में इसलिये नहीं टिकता कि मनुष्य अभ्यास करते समय स्वयं को 'देह' मान बैठा होता है। इसलिए उसका मन देह के नातों की ओर जाता है। आज कोई मनुष्य तो कहता है कि ''मैं व्यापारी हूँ'', कोई कहता है कि मैं ''सरकार के अमुक विभाग का 'अधिकारी' (अफसर) हूँ'', अन्य कोई कहता है कि ''मैं कर्मचारी हूँ''। कोई अपने को 'पंजाबी' मानता है, कोई 'बंगाली' और कोई स्वयं को पुरुष या वृद्ध मानता है तो कोई बालक। इस प्रकार, सभी देह के नाम, रूप, धन्धे, देश, भाषा आदि के अभिमानी हैं। जैसे एक छोटी-सी मकड़ी स्वयं में से एक बहुत बड़ा जाला निकाल कर स्वयं ही उसमें फंस जाती है, वैसे ही आज के मनुष्यों का हाल है। वे स्वयं ही देह से सम्बन्धित अनेक संकल्पों के जाल को फैला कर स्वयं ही उसमें फँस जाते हैं और फिर उसमें से निकल हीं नहीं पाते और परेशान होते हैं। इस प्रकार वे भोगी ही बने रहते हैं। उनका मन सारा दिन संसार के बखेड़ों में और प्रकृति के पिंजरे में ही घूमता रहता है और इस परिणामस्वरूप वे परमपिता परमात्मा की मधुर स्मृति का रस लेकर

स्थायी हर्ष की प्राप्ति नहीं कर सकते। अत: जिस मनुष्य को योगी जीवन की चाह है, उसे चाहिये कि सब से पहले तो यह निश्चय करे कि ''मैं शरीर से न्यारी एक ज्योति-बिन्दु, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा हूँ। यह देह तो मेरा घर है, मैं इसका मालिक अथवा इसमें रहने वाला 'रहवासी' हूँ, मेरा अपना अस्तित्व इससे अलग है। अथवा, यह देह रूपी वेशभूषा तो मुझे इस सृष्टि रूपी विराट लीला में अपना पार्ट (Part) बजाने के लिये ही मिली है, इसको धारण करने वाला मैं आत्मा तो वास्तव में परमधाम की वासी हूँ। देह रूप वस्त्र को धारण करने से पहले तो मैं अशरीरी अर्थात् तारे के समान एक ज्योति-बिन्दु मात्र ही था और वही मेरा निज स्वरूप है।

इस प्रकार, अन्य किसी नर-नारी की ओर देखते समय, उनसे बात करते समय, उनके साथ भोजन करते समय अथवा अन्य कोई धन्धा करते समय भी उसे इसी स्मृति में स्थित होना चाहिये कि – ''इन आंखों द्वारा देखने वाली, मुख द्वारा बोलने वाली, कानों द्वारा सुनने वाली, जीभ द्वारा चखने वाली या शरीर द्वारा अन्यान्य कर्म करने वाली मैं अनादि और चेतन आत्मा इन कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों रूपी साधनों अथवा सेवकों से अलग इनका स्वामी हूँ।''

देह में रहते हुए स्वयं को विदेही अथवा अशरीरी निश्चय करने रूप यह युक्ति बड़ी अनमोल है। इसी के आधार पर योग की सारी मंज़िल खड़ी है अथवा, यों कहें कि यह ही योग की आधार-शिला है (Foundation Stone) अथवा पहली-पहली सीढ़ी अथवा उसका 'क' 'ख' है। इसी युक्ति का बारम्बार अभ्यास किये बिना योग रूपी मंज़िल की उच्च अट्टालिका पर चढ़ने का स्वप्न कभी भी साकार नहीं हो सकता। आखिर देह रूपी कलेवर को एक दिन छोड़ना तो है ही परन्तु अभी से उससे न्यारे होने के अभ्यास के फलस्वरूप न तो वर्तमान काल में मनुष्य से विकर्म होते हैं और न ही वह दु:ख का भागी बनता है क्योंकि इस अभ्यास से देह-अभिमान जो कि सभी विकारों तथा पापों का मूल है, मनुष्य का पीछा छोड़ जाता है।

''मैं ज्योति-बिन्दु आत्मा हूँ'' – इस स्मृति का अभ्यास योग का पहला कदम है

पुनश्च, योग तो आत्मा और परमपिता परमात्मा ही के बीच सम्बन्ध (Connection) जोड़ने ही का दूसरा नाम है और वह सम्बन्ध तो तभी जुट सकता है जबकि मनुष्य पहले स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करे, क्योंकि वह सम्बन्ध आध्यात्मिक (Spiritual) है, न कि शारीरिक। जैसे पावर हाऊस की तार से घर की बिजली की तार जोड़ने के लिये तार

के ऊपर का रबड़ उतारना पड़ता है तभी बिजली का करेंट आता है, वैसे ही आत्मा का सम्बन्ध (Connection) परमात्मा से जोड़ने के लिये देह रूप रबड़ को भूलना पड़ता है अथवा उससे अलग होना पड़ता है। इसे ही आत्मा-अभिमान (Soul-Conscious) होना या 'प्रत्यहार' कहा गया है।

अत: इस प्रकार स्वयं को शरीर से भिन्न एक ज्योति-बिन्दु 'आत्मा' निश्चय (Soul-Conscious) करना ही योग की पहली परन्तु सर्वश्रेष्ठ युक्ति है। जन्म-जन्मान्तर देह के सम्बन्धियों से बरतते-बरतते इस आत्मा का देह-अभिमान बहुत ही पक्का हो चुका है और सचमुच यही कारण है कि आज जब वह स्नेही अपने परमपिता परमात्मा की स्मृति का अथवा मनोमिलन का शुभ पुरुषार्थ करती है तो देह और देह के धन्धों तथा नातेदारों का भान, अभिमान अथवा याद उसे पुन: पुन: वापस इसी देह तथा स्थूल लोक की अनुभूति में खींच लाती है। अत: अब मनुष्य को चाहिये कि आत्मनिष्ठ हो क्योंकि योग-निष्ठ होने की यही युक्ति है। बड़े से बड़े बैंक के ख़ज़ाने की चाबी हाथ लग जाने से अथवा बड़ी से बड़ी लाटरी (Lottery) मिल जाने से इतना उच्च भाग्य नहीं बनता और न इतना अतुल ख़ज़ाना ही मिलता जितना कि देही-निश्चय रूप चाबी को मन रूपी हाथ में पकड़ कर योग रूपी तिजोरी खोलने से मिलता है।

''मैं परमपिता परमात्मा का बालक हूँ'' – इस स्मृति में स्थिति ही योग अभ्यास है

हम ऊपर बता आए हैं कि स्वयं को आत्मा निश्चय करने से ही मनुष्य का मन परमात्मा की स्मृति में टिक सकता है। परन्तु आगे जानने के योग्य बात यह है कि केवल 'प्रभु-प्रभु' अथवा 'ईश्वर-ईश्वर' कहने से ही मन मीठा नहीं होता। बल्कि ''परमात्मा हमारा परमप्रिय परमपिता है और हम उसकी अविनाशी सन्तान हैं'', इस सम्बन्ध को मन में बिठाने से ही परमात्मा की स्मृति स्थिर हो सकती है क्योंकि सम्बन्ध के बिना सही स्मृति और खुशी हो ही नहीं सकती।

सम्बन्ध ही से मनुष्य को प्राप्ति होती है और प्राप्ति से ही मनुष्य को खुशी होती है, अत: अतुल प्राप्ति का विचार ही मनुष्य को योग रूपी पुरुषार्थ के लिये प्रोत्साहित करता है।

अत: जब मन में यह भाव समाया होगा कि परमात्मा, जो कि त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान, ज्ञान का सागर, शान्ति का सागर और आनन्द का सागर है तथा मुक्ति और जीवन्मुक्ति का दाता है, वही मेरा परमपिता है, तो मनुष्य को मन में यह विचार आयेगा कि परमात्मा को तो अवश्य ही याद करना चाहिये क्योंकि उसके साथ सम्बन्ध

रखने से ही तो मुझे मुक्ति और जीवन्मुक्ति की अथवा अविनाशी सुख और शान्ति रूप ईश्वरीय सम्पत्ति की सर्वोत्तम प्राप्ति होगी। अत: परमात्मा को पिता के सम्बन्ध से याद करने से मनुष्य को मुक्ति और स्वर्ग का स्वराज्य रूपी ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार का विचार आयेगा और इसकी प्राप्ति के लिये उसका मन परमपिता की स्मृति में स्थित होकर सुखी होगा।

आज मनुष्य का मन परमात्मा की स्मृति में इसी कारण स्थिति नहीं प्राप्त कर सकता कि उसे पता ही नहीं है कि परमात्मा तो मेरा परमप्रिय परमपिता है, मेरा तो उसकी सम्पत्ति पर अधिकार है और कि उस सम्बन्ध को छोड़ने के कारण ही मैं उस अधिकार को भी गँवा बैठा हूँ। अत: अब इस रहस्य को जानकर मनुष्य को इसी स्मृति में रहना चाहिये कि मैं तो "परमात्मा का बालक सो मालिक हूँ"।

ईश्वरीय स्मृति ही 'ईश्वर-प्रणिधान ' है

ईश्वरीय स्मृति में रहने से उसे एक अनोखा नशा-सा चढ़ा रहेगा, उस पर एक विचित्र मस्ती-सी छाई रहेगी और उसे अथाह खुशी होगी। इस खुशी का अनुभव उसे फिर स्वत: ही परमपिता की स्मृति के लिये आकर्षित करेगा। इस स्मृति के अभ्यास से ही चित्त की अन्य वृत्तियों का निरोध होता है। स्वयं को परमापिता परमात्मा की सन्तान निश्चय करके, उसी लगन में मग्न होना ही 'ईश्वर-प्रणिधान' कहा गया है।

वैराग्य अथवा उपराम वृत्ति का तरीका

योग-निष्ठ स्थिति चाहने वाले मनुष्य को सोचना चाहिए कि आत्मा तो वास्तव में ब्रह्मलोक अथवा परमधाम की निवासी है। वह शुरु में परमपिता परमात्मा शिव के साथ मुक्त अवस्था में ब्रह्म लोक ही में वास करती थी। वहाँ से ही वह इस सृष्टि रूपी रंग-मंच पर खेल खेलने अथवा इस विराट नाटक में अपना पार्ट करने के लिये आयी थी। खेलते-खेलते अब तो कलियुग का भी अन्त आ पहुँचा है। अत: अब तो मुझे वापस परमधाम अथवा मुक्तिधाम जाना है। अब तो इस संसार में मैं कुछ ही दिन का मुसाफिर या मेहमान हूँ।

सभी लोग जानते हैं कि जब कोई नाटक पूरा होता है तब उसमें भाग लेने वाले ऐक्टर अपने-अपने पार्ट को वेश के उतार कर, अपने पहले वाले वास्तविक रूप में आ जाते हैं। इसी प्रकार, हरेक मनुष्य को सोचना चाहिये कि शरीर रूपी वस्त्र को उतार कर अब तो मुझ आत्मा रूपी ऐक्टर को भी वापस ब्रह्मलोक अथवा मुक्तिधाम में जाना है। मैं तो स्वयं 'ज्योति-बिन्दु' हूँ और शरीर से न्यारा हूँ और मुझे अपने ज्योतिलोक में लौट

जाना है जो कि सूर्य, चाँद और तारागण के पार है। अब जो ऐटम बम, हाईड्रोजन बम आदि-आदि अस्त्र बन चुके हैं, उन द्वारा तथा प्राकृतिक आपदाओं आदि के द्वारा इस मनुष्य-सृष्टि का तो शीघ्र ही महाविनाश होने वाला है। अतः अब तो इस संसार को हम आत्माओं ने यों भी छोड़ना ही है। यह संसार तो वैसे भी अब 'माया नगरी' बन चुका है और मुझे तो अब 'प्रभु नगरी' (ब्रह्मलोक) में जाना है।

इस प्रकार, यह जो संकल्प है कि मुझे तो अब इस माया नगरी को छोड़कर प्रभु-नगरी में जाना ही है, उससे मनुष्य का मन इस संसार से उपराम होकर सहज ही परमपिता परमात्मा की स्मृति में लग जाता है। सही वैराग्य के लिये यही सर्वोत्तम युक्ति है। जाने की धुन वाले मनुष्य को इस संसार की ममता नहीं खींच सकती। हम इस संसार में देखते हैं कि जब किसी मनुष्य के मन में यह संकल्प दृढ़ होता है कि अब तो मुझे अमुक नगर में जाना है तो उसका मन उस नगर की ओर अथवा स्टेशन की ओर लग जाता है और वह अपनी बुद्धि को घर गृहस्थ से हटा कर सामान को लपेटने-समेटने और तैयारी करने में ही लग जाता है। जब कोई मनुष्य प्रातः घड़ी में यह देखता है कि नौ बज चुके हैं, मुझे दफ़्तर (अथवा दुकान) जाना है तो उसका मन घर से और नातेदारों से हटकर दफ़्तर की ओर चलने लग जाता है और पुनः सायंकाल को घड़ी देख कर जब उसे यह मालूम होता है कि अब घर जाने का समय हो चुका है तो उसके मन में बस यही संकल्प चलने लगता है कि अब तो मुझे घर जाना है। ठीक इसी प्रकार यदि सृष्टि-घड़ी में देखा जाय तो अब कलियुग का अन्त होने के कारण सभी आत्माओं के वापस परमधाम जाने का समय आ पहुँचा है। अतः अब हमारे मन में यही संकल्प चलना चाहिये कि अब तो मुझे परमधाम में अपने परमपिता के पास लौट जाना है। इस संकल्प से मनुष्य का मन इस संसार के नातेदारों से हटकर सहज ही परमपिता की मधुर स्मृति मे टिक सकेगा। इसे ही तो 'प्रत्याहार' (देह और जगत् से मन को मोड़ना), 'धारणा' (मन को एक स्थान पर बान्धना) और ध्यान परमात्मा में स्थित करना कहा गया है।

आज मनुष्यात्माएं मुक्ति के लिये परमपिता परमात्मा से प्रार्थना तो करती हैं और अनेक प्रकार से पुरुषार्थ भी करती हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि मुक्तिधाम कहाँ है और कि अब तो सभी आत्माओं के मुक्तिधाम लौटने का समय आ पहुँचा है। अतः यह ज्ञान न होने के कारण उनका मन तो इसी स्थूल संसार ही के विषय-पदार्थों में आसक्त है अर्थात् बन्धा हुआ है। यही कारण है कि वह उड़ कर परमपिता परमात्मा की ओर नहीं जा सकता और यहाँ के विषय पदार्थो से उसकी ममता नहीं मिटती। परन्तु जबकि हम इस बात को मानते हैं कि हम इस संसार में मुसाफ़िर (यात्री) हैं और कि हमें

तो परमधाम अथवा बैकुण्ठधाम में जाना है, तो अब हमारा मन उधर ही लग जाता है क्योंकि मनुष्य को जिधर जाना हो उसका मन तो उसी लक्षित स्थान की ओर ही रहता है। इस संसार से वैराग्य या उपरामता का यही साधन है और यही मन की एकाग्रता की सर्वोत्तम विधि है।

पुनश्च, हम यह भी देखते हैं कि जब मनुष्य अमरनाथ अथवा सोमनाथ अथवा हरिद्वार की यात्रा पर जाते हैं तो मार्ग में 'अमरनाथ की जय', 'सोमनाथ की जय' अथवा 'जय गंगा मैय्या' की, इस प्रकार के नारे लगाते जाते हैं। उनके मन की आंखों के सामने अमरनाथ, सोमनाथ अथवा गंगा मैय्या ही घूमा करती है। ठीक इसी प्रकार, हमारे मन के सामने भी अब मुक्तिधाम अर्थात् ब्रह्मलोक और उसके वासी मुक्तेश्वर परमपिता परमात्मा शिव ही होने चाहियें। हमें मुख से कोई जयघोष नहीं करना है क्योंकि हम तो ऐसे देश में जा रहे हैं अथवा जाना चाहते हैं जोकि वाणी से परे है, परन्तु हमारे मन में अपने लक्ष्य की सूक्ष्म स्मृति तो रहनी ही चाहिये और जहाँ से हम इस संसार में आए हैं, वह अपना वास्तविक धाम (ब्रह्मलोक) तो याद रहना ही चाहिये। यहाँ से अन्तरिक्ष यान (Space Ships) द्वारा जो व्यक्ति ऊपर जाते हैं उन्हें वहाँ भी यह याद रहता है कि हम नीचे पृथ्वी से यहाँ अन्तरिक्ष में आये हैं और हमें वहाँ लौट जाना है और वे आखिर लौट भी आते हैं। इसी प्रकार, हम आत्माओं को भी तो यह याद रहना चाहिये कि हम परमधाम (ब्रह्मलोक) से आये हैं और हमें वहाँ वापस लौट जाना है और हमारी यात्रा अशरीरी अवस्था अथवा 'आत्मा-निश्चय' ही से हो सकती है क्योंकि जिस धाम में हम जाना चाहते हैं, वहाँ देह-सहित कोई नहीं जा सकता। इस प्रकार स्वयं को यात्री मानना और मन को ज्योति-लोक की ओर टिकाना भी योग-निष्ठ होने के लिये सहज युक्ति है।

ऊपर हमने योगाभ्यास के मूल विधान अथवा रूप-रेखा का स्पष्टीकरण किया है। योग में मन को एकाग्र तो करना ही होता है। यह एकाग्रता होनी भी एक परमात्मा ही पर चाहिये, तभी तो उसे योग (प्रभु से मनोमिलन) कहा जा सकेगा। परमात्मा के ऊपर मन को एकाग्र करने के लिये भी मन को कहीं तो टिकाना पड़ेगा और संसार से मन को मोड़ने के लिये भी अवश्य ही मन को संसार से बाहर कोई ठिकाना देना पड़ेगा। अतः यह कैसी अद्भुत युक्ति है कि स्वयं को एक ज्योति का तारा अथवा ज्योति-बिन्दु (ज्योतिकण) निश्चय करते हुए, मन को सूर्य एवं तारागण के परे ब्रह्मलोक में ज्योति-बिन्दु परमात्मा पर, प्रेम-विभोर अवस्था में एकाग्र किया जाय। तभी तो गीता में भी भगवान् ने कहा है कि ''सूर्य, चाँद तथा तारागण का प्रकाश जहाँ नहीं पहुँचता , वहाँ

मेरा परमधाम है'' और पतंजलि ने भी कम-से-कम यह तो बताया ही है कि परमात्मा एक सर्वश्रेष्ठ आत्मा है, ज्योतिस्वरूप है, सुख-द:ख से न्यारा है और उसकी स्मृति में एकाग्रता (ईश्वर प्रणिधान) होनी चाहिये।'' अत: योगाभ्यास की रूप-रेखा यह है कि पहले तो स्वयं को (भृकुटि में रहने वाली) एक ज्योति-बिन्दु 'आत्मा' मानो। तब मन को सूर्य-चाँद से पार ब्रह्मलोक में (जहाँ लाल-सुनहरे रंग की ज्योति ही ज्योति है) ले जाकर, शान्ति के सागर ज्योति-बिन्दु परमात्मा पर मन को एकाग्र करो। इस में 'प्रत्याहार' (देह से न्यारापन), धारणा (मन को एक स्थान पर बान्धना) तथा 'ध्यान' (Concentration) ö सभी सम्मिलित हैं। तब भी यदि मन न टिके और संकल्प चलें तो उन संकल्पों को ज्ञान के संकल्पों से हटाओ। अब उसकी रूप-रेखा बताते हैं।

ज्ञान का मनन (Meditation)

मनुष्य का मन दिन-भर कुछ-न-कुछ तो सोचता-विचारता रहता ही है। परन्तु देह अथवा संसार-सम्बन्धी, स्थूल बातों का मनन करने से मनुष्य की अवस्था व्यक्त ही बनी रहती है और वह ईश्वर-चिन्तन अथवा ज्ञान के मनन का अत्युत्तम लाभ नहीं ले सकता। अत: योग की अभिलाषा वाले मनुष्य को चाहिए कि वह ईश्वरीय ज्ञान का मनन-चिन्तन करता रहे क्योंकि इस प्रकार के मनन से ही वह संसार से उपरामचित्त होकर ईश्वर से मंगल मिलन मना सकेगा और योग का रसास्वादन कर सकेगा।

इस उद्देश्य को लेकर उसे इस प्रकार विचार-मंथन करते रहना चाहिए कि "मैं आत्मा परमधाम से इस सृष्टि-मंच पर सतयुग में आयी थी, तब मैं पूर्ण पवित्र थी। इसलिए मैं उस युग में पूर्णत: सुखी थी। इस प्रकार मैंने सोलह कला सम्पूर्ण, सम्पूर्ण निर्विकार, मर्यादा पुरुषोत्तम और सम्पूर्ण अहिंसक सूर्यवंशी कुल में कुल ८ जन्म लिए और सतयुगी सुखमयी सृष्टि अर्थात् स्वर्ग का राज्य-भाग्य भोगा। उस देवता कुल में सुख-शान्ति की प्रालब्ध भोगने के बाद मैंने १२-१३ जन्म त्रेतायुग में चौदह कला सम्पूर्ण, चन्द्रवंशी क्षत्रिय कुल में लेकर सुख-शान्ति सम्पन्न व्यतीत किये। फिर, द्वापर युग में वैश्य कुल में तथा कलियुग में शूद्र कुल में मैंने ६३ जन्म दु:ख के लिये। अब मैं प्रजापिता ब्रह्मा के मुख से इस ईश्वरीय ज्ञान को सुन कर मुख-वंशी सर्वोत्त्म ब्राह्मण कुल का एक ब्राह्मण अथवा ब्रह्माकुमार या ब्रह्माकुमारी हूँ। अब मुझे पावन बनना है और दूसरों को भी परमपिता परमात्मा का परिचय देकर पावन तथा देही-अभिमानी (Soul-conscious) बनाना है। फिर निकट भविष्य में ऐटॉमिक विश्व युद्ध आदि द्वारा होने वाले महाविनाश के बाद तो मुझे पुन: सतयुगी सुखधाम अथवा बैकुण्ठ में २१ जन्मों के

लिए सम्पूर्ण सुख भोगना है। अहा, पुनरावृत्त होने वाला यह विराट सृष्टि-नाटक कैसा अद्‌भुत और रमणीक है जिसमें हर कोई अपना पार्ट कर रहा है ! अब तो इस नाटक के सभी एक्टर अर्थात् सभी पार्टधारी आत्माएं इस मंच पर अपना-अपना पार्ट पूरा कर चुकी हैं और अब इसके रचयिता तथा निर्देशक परमपिता शिव सभी आत्माओं को योग-युक्त कर वापस अपने मधुर धाम को ले चलने के लिए आये हैं....।''

इस प्रकार ज्ञान मंथन करते रहने से अथवा ''स्वदर्शन चक्र'' चलाते रहने से विकारों रूपी असुरों का गला कट जायेगा और मन में माया के तूफान आने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाएगी। ज्ञानं के मनन-चिन्तन के कारण मन को अवकाश ही नहीं मिलेगा कि वह विकारी अथवा व्यर्थ चिन्तन करे और इसके फलस्वरूप वह ज्ञान-निष्ठ तथा स्वरूप-निष्ठ होकर ''जैसा विचार, वैसा आचार'' की उक्ति के अनुसार श्रेष्ठाचारी बन जायेगा। मन की ऐसी भूमिका वाले व्यक्ति के लिए योगस्थ होना ऐसा ही सहज है जैसा कि बिजली का स्विच ऑन करके अर्थात् बटन दबाकर प्रकाश करना। जो मनुष्य दिन-भर अपने मन रूपी बैल को ज्ञान रूपी जुए में नहीं जोतता और ईश्वर चिन्तन रूपी क्षेत्र में उससे कार्य नहीं लेता, उसमें हर्ष की कभी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जो व्यक्ति सारा दिन परमपिता परमात्मा शिव को भुलाकर तथा ज्ञान को घर की अलमारी में बन्द करके रख देता है और अज्ञानी होकर व्यवहार करता है वह कभी भी योगी नहीं बन सकता — यह निश्चित है। ऐसे मनुष्य के लिए योग-स्थित होना ऐसा ही कठिन है जैसे अत्यन्त कमजोर निगाह (नेत्र) वाले व्यक्ति के लिए सुई की आंख में से धागा निकालना। अतः जैसे गाय घास चर कर फिर जुगाली करती रहती है, मनुष्य को चाहिए कि वह प्रतिदिन ईश्वरीय ज्ञान का श्रवण करके दिन-भर चलते-फिरते भी उसका मनन-चिन्तन करता रहे। जैसे पत्थर नदी में लहरों के साथ टकराते-टकराते घिस कर शालिग्राम बन जाता है और तब भक्त लोग उसे पूजा के स्थान के योग्य मानते हैं, वैसे ही ज्ञान की उमंगों और तरंगों में लहरा कर ही मन के विकार रूपी कोने घिसेंगे और वह शीघ्र ही शालीग्राम अथवा पूज्य बन जायेगा क्योंकि इस रीति से उस पर माया का वार ही नहीं होगा।

ज्ञान का मंथन तथा मनन (Meditation) ही तो योग रूपी दीपक का घृत है। अतः ज्ञान-मंथन न करने से योग रूपी दीपक की ईश्वर-प्रेम रूपी लौ का बुझ जाना स्वाभाविक ही है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि सारा दिन, उठते-बैठते अपने स्वरूप का तथा परमपिता परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान के किसी नुक्ते का मनन करके स्वयं को व्यस्त रखे, वर्ना जैसे खाली घर में कबूतर घोंसला बना लेते हैं और पशु-पक्षी ठिकाना कर लेते

हैं, वैसे ही जिस मनुष्य की बुद्धि ज्ञान से खाली होगी, उसके मन में अज्ञान रूपी पशु, माया रूपी भूत, विकारों रूपी परिन्दे ही डेरा डाल कर भय या दु:ख को पैदा करेंगे।

योग में एकाग्रता का अभ्यास करते समय भी यदि कोई संकल्प आये तो उसे भी ज्ञान के इन संकल्पों से हटा कर पुन: मन को एकाग्र किया जा सकता है। यह है योगाभ्यास की रूप-रेखा।

दो शब्द

गाय जब जुगाली करती है, तभी उसके चारे से दूध बनता है। इसी प्रकार, ज्ञानवान व्यक्ति जब ज्ञान का मनन करता है तभी वह उसका रसास्वादन कर सकता है। दूध को भी मथानी से बिलौने पर ही उस से मक्खन निकलता है जिसे 'नवनीत' भी कहा जाता है। ठीक इसी तरह ज्ञान का मन्थन करने से ही आत्मा को बल मिलता है, तब भाव भी मालूम होते हैं और नये रहस्यों का भी साक्षात्कार होता है।

यदि कोई मनुष्य अपने जेवरों को तिजोरी में बन्द रक्खे रहे तो उसके मन में खुशी का प्रादुर्भाव नहीं रहता। जब वह उस तिजोरी को खोल कर, धन और जेवर को देखता है तो उसे खुशी होती है। ऐसे ही ज्ञानवान मनुष्य भी मन्थन द्वारा ज्ञान-रत्नों को देखने से खुशी अनुभव करता है।

योग मार्ग में सगन, लग्न और मग्न

सांसारिक रीति के अनुसार कन्या का अपने वर के साथ पहले-पहले जो नाता जोड़ा जाता है, उसे 'सगाई'(Engagement) कहते हैं। उसी प्रकार, आत्मा की परमात्मा से जो सगाई होती है, उसका नाम 'योग' है। 'योग' की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि योग मार्ग बहुत ही सहज है क्योंकि यह तो प्राणों के पति परमात्मा को वरण करने ही का नाम है। आत्मा के पति तो हैं भी केवल एक परमात्मा ही, अत: उन्हें पहचान कर उन से सहज रीति से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ना ही योग-युक्त होना है। परन्तु पण्डितों ने पण्डिताई में पड़ कर 'योग' की बहुत ही कठिन परभाषाएं और व्याख्याएं की हैं और प्राणायाम, आसन आदि-आदि को योग के साधन बतला कर योग को जन-साधारण के लिये अथवा प्रवृत्ति मार्ग एवं घर-गृहस्थी वालों के लिए एक हौआ बना दिया है। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जैसे कन्या को अपने वर से नाता जोड़ने के लिए कोई प्राणायाम या आसन आदि नहीं करना पड़ता उसी प्रकार 'योग' के लिए भी घण्टों एक ही आसन पर बैठने की अथवा प्राणायाम द्वारा श्वासों की गति को नियंत्रित (Control) करने की आवश्यकता नहीं है। बल्कि जैसे कन्या सच्चे मन से अपने भावी पति ही की हो जाती है, वैसे ही योगी भी अपने हृदय रूपी आसन पर अपने प्राणों के पति परमात्मा को विराजमान करता है तथा श्वास-प्रश्वास में उस प्रियतम प्रभु की याद में लवलीन हुआ रहता है।

सच तो यह है कि जो लोग योग के लिए प्राणायाम और आसनों की आवश्यकता बताते हैं तथा आंखों को मूंद कर अचेत पत्थर की भाँति बैठे रहने का उपदेश करते हैं, उनके वचनों से सिद्ध है कि उनका मन अभी प्रभु के प्रेम में अच्छी तरह डूबा नहीं है, उनकी आंखों में प्रीतम प्रभु के अतिरिक्त अभी कुछ और ही बसता है और उनके श्वासों में अभी कुछ और आशाएं हैं। वर्ना, जैसे भारत की कोई कन्या एक पुरुष से सगाई हो जाने के बाद अन्य पुरुषों को देखते हुए भी उन्हें पर-पुरुष मानती है अथवा बहन-भाई की दृष्टि से देखती है, अर्थात् उसकी आंखें खुली होते हुए भी उसकी बुद्धि भटकती नहीं है, ठीक वैसे ही जिस मनुष्यात्मा ने सचमुच परमात्मा को पति रूप में वरण किया है, उसकी बुद्धि भी दूसरे-दूसरे लोगों की ओर भटक नहीं सकती, चाहे उसके नेत्र खुले क्यों न हों और चाहे उसके प्राण अनिरुद्ध क्यों न हों।

योग मार्ग में सगन

भारत में यह रिवाज है कि कन्या को वर के नाम, रूप, देश, गुण, धन्धे, स्वभाव आदि का परिचय कराया जाता है और, यदि हो सके, तो उसका फोटो या चित्र भी दिखाया जाता है। फिर कन्या की स्वीकृति लेकर वर के पास सगन भेजा जाता है। यह सगन सगाई की बात पक्की हो जाने का सूचक माना जाता है। इसी प्रकार, आत्मा की भी परमात्मा के साथ सगाई करने के लिए सब से पहले तो आत्मा को परमात्मा के दिव्य नाम, दिव्य रूप, दिव्य धाम, दिव्य कर्तव्य और ईश्वरीय गुणों आदि का परिचय (ज्ञान) कराने की आवश्यकता है। उसे भी अव्यक्त-मूर्त, विचित्र, ज्योति-बिन्दु परमात्मा का दिव्य-चित्र दिखाया जाता है। अब आत्मा जान लेती है कि परमात्मा का दिव्य नाम 'शिव' है, उसका दिव्य रूप अति सुन्दर और मन-मोहक 'ज्योति-बिन्दु' है जिसके चित्र भारत में 'शिवलिंग' नाम से मिलते हैं, उसका धाम शिवलोक, ब्रहमलोक अथवा परलोक है। वह सब ईश्वरीय गुणों का अविनाशी भण्डार है, वह ज्ञान का सागर, प्रेम का सागर और सर्वशक्तिमान है और तीनों लोकों का नाथ है और सर्व भाव से उस ही की हो जाने से मेरा जीवन सदा सुखी होगा, तो उसका मन परमात्मा को वरण कर लेता है, उसके प्रति अपना प्रेम समर्पित कर देता है। उसकी बुद्धि परमात्मा की ओर आकर्षित हो जाती है। फिर, चूंकि उसे ज्ञान द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि ऐसा गुणवान, ऐसा शक्तिशाली, ऐसा प्रेमी, ऐसा सुखदाता, ऐसा सुहाग और कोई नहीं, इसलिए उसका मन एक परमात्मा की स्नेह-युक्त याद में टिक कर एक-टिक हो जाता है और उसकी बुद्धि का भटकना बन्द हो जाता है।

अत: परमपिता परमात्मा का यथावत् एवं पूर्ण परिचय (ज्ञान) प्राप्त करना ही योग मार्ग का सगन है। परमात्मा का ज्ञान प्राप्त किये बिना आत्मा की सगाई अयथार्थ है क्योंकि उसकी बुद्धि पर-पुरुषों से हट कर उस एक प्रीतम परमात्मा की ओर एकटिक नहीं हो सकती और मन से वह उसी एक को अव्यभिचारी एवं यथार्थ रूप से वरण भी नहीं कर सकती। अत: परमपिता परमात्मा से योग-युक्त होने के लिए सब से पहले तो आत्मा को परमात्मा का परिचय प्राप्त करना चाहिए। तभी उसका मन अन्यान्य ओर से हटकर एक ईश्वर की ओर लगेगा, वर्ना बुद्धि योग ठीक प्रकार से लग ही नहीं सकेगा।

योग में मग्न

परमपिता परमात्मा का परिचय होने के बाद मनुष्यात्मा की लग्न परमात्मा से लग जाती है। फिर वह लग्न में मग्न होने का पुरुषार्थ करती है। ईश्वर की लग्न में मग्न होना

ही योग-स्थित होना है। जैसे सगाई होने के बाद ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों-त्यों कन्या की लग्न अपने वर के प्रति बढ़ती जाती है और वह समझती है कि अब मुझे पिहर घर से पति के घर जाना है, वैसे ही दिनों-दिन आत्मा की लग्न भी परमात्मा से बढ़ती जानी चाहिए, आत्मा को भी यह समझना चाहिए कि अब मुझे देह तथा देह के नातों से मुक्त होकर शिवलोक (ब्रह्मलोक) को जाना है। योगी की पलकों में परमात्मा ही का प्यार समाया होना चाहिए, उसके हृदय में हर दम उस हरि-हर अर्थात् दुःख-हर्ता, सुख कर्ता की स्मृति होनी चाहिए। परमात्मा की याद में उसके रोम-रोम पुल्कित, चित्त हर्षित और मन आनन्दित हो उठना चाहिए। जैसे विवाह के दिन निकट आने पर, कार्य करते हुए भी कन्या का मन अपने पति ही की ओर लगा रहता है अथवा जैसे कोई नव-वधु अपने पति के दफ्तर चले जाने पर भी उसी की याद में रहती है, उसके लौट आने तक उसके मार्ग में आँखें बिछाए रहती है, उसकी राह देखते हुए वह अपना दिन व्यतीत करती है; उसको भोजन खिलाने के बाद स्वयं खाना खाती है और फिर सोते हुए भी उसी के स्वप्न लेती है, वैसे ही सच्चे योगी का मन भी उस ज्योतिस्वरूप, परमप्रिय परमात्मा की मस्ती में मस्त रहता है, उसके नेत्रों में उस ही की तस्वीर समायी रहती है। उसका मन एक परमात्मा ही पर न्यौछावर होता है। वह सोता है तो आत्मा के साजन अशरीरी परमात्मा के साथ, उठता है तो उसी की ओर उसका मन जाता है। उसे तो बस एक यही धुन लगी रहती है कि – "मैं उस परमात्मा ही की सजनी हूँ।" जैसे पतंगा शमा की रोशनी पर फिदा हो जाने के सिवा रह नहीं सकता, वैसे ही सच्चा योगी भी उस जागती-ज्योति अथवा चेतन शमा परमात्मा पर फिदा हो जाता है।

ईश्वर की लग्न एक सुहावनी अग्नि के समान है जिसे मनुष्य आत्मसात करना चाहता है। जैसे-जैसे लग्न बढ़ती जाती है वैसे-वैसे यह आध्यात्मिक अग्नि भी बढ़ती जाती है। इस लग्न रूपी अग्नि में आत्मा पवित्र हो जाती है, उसके संस्कारों का मैल धुल जाता है और चित्त एक ऐसी शक्ति और साथ-साथ ऐसा सुख अनुभव करता है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता। लग्न में मग्न होने का अनुभव एक अनोखा अनुभव है। इस लग्न रूपी अग्नि में मनुष्यात्मा के जन्म-जन्मान्तर के विकर्म दग्ध हो जाते हैं। इस योग रूपी अग्नि को जगाने के लिए तो ज्ञान रूपी घृत, मन रूपी बाती और प्रेम अथवा लग्न रूपी अग्नि चाहिए। इसके लिए किसी मंत्र, यंत्र, हठ या जप की आवश्यकता नहीं है बल्कि मन की लग्न ही इसका मंत्र है, लग्न में मग्न होना ही तन्त्र है और हार्दिक याद ही अजपा जाप है।

स्पष्ट है कि योग कोई कठिन या कष्ट-साध्य क्रिया नहीं है बल्कि यह तो बहुत ही

सहज और आनन्ददायक लग्न ही का नाम है। ज्ञान के आधार पर परमात्मा की लग्न में मग्न होना ही सहज योग है। अथवा, जैसे कन्या सगाई हो जाने पर अपने वर की वफादार होकर रहती है और स्वयं को अपने वर की वस्तु समझ कर सच्चे दिल से एक उस ही की होकर रहती है, उसी प्रकार, अब स्वयं को आत्मा मान कर, ज्ञान द्वारा अपने मन का नाता परमात्मा से जोड़ना अथवा बुद्धि की सगाई परमात्मा से करना ही योग है।

पुनश्च, जैसे कन्या विवाह के लिये स्वयं को अनेकानेक प्रकार के श्रृंगारों तथा भूषणों से सुसज्जित करती है, माथे पर बिन्दी देती है और सुन्दर दिखाई देने के लिये साधन या यत्न करती है, ठीक उसी प्रकार परमपिता परमात्मा से लग्न लगाने के अतिरिक्त, आत्मा को दिव्य गुणों रूपी श्रृंगार से सजाना भी है। आत्मा के लिए देही-निश्चय (Soul-Consciousness), अन्तर्मुखता, गम्भीरता, नम्रता, हर्षितमुखता आदि श्रृंगारों को तैयार करना और पवित्रता रूपी सौन्दर्य से आकर्षक बनाना ही आत्मा के लिए तैयारी करना है। आजकल तो वर किसी कन्या को अंगीकार करने से पहले पूछते हैं कि कन्या ने शिक्षा किस श्रेणी तक प्राप्त की है, वह हुनर अथवा कला कौनसी जानती है, उस में किसी प्रकार की कुरूपता, कोई दाग या बुरी आदत तो नहीं है और उसके साथ सोने के श्रृंगार कौन-कौनसे होंगे। परन्तु परमात्मा रूपी वर आत्मा को स्वीकार करने से पहले यह देखते हैं कि आत्मा ने ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा कहां तक प्राप्त की है, उसने दिव्य गुण कहाँ तक धारण किये हैं, उस ने दूसरों को भी आत्मा-परमात्मा का परिचय देकर उनकी सेवा करने की कला का कहाँ तक अभ्यास किया है, उसमें काम-क्रोधादि का कोई दाग या माया के कारण कोई कुरूपता तो नहीं है अर्थात् उसका गुण, धर्म, स्वभाव और प्रेम कैसा है? अतएव परमपिता परमात्मा का वरण करने के लिए हमारे लिए दैवी गुणों को धारण करना जरूरी है।

कहावत है कि ''कानी के विवाह में विघ्न ढेर'' होते हैं। परन्तु केवल कानापन या शारीरिक कुरूपता या कमी ही विवाह में विघ्न रूप नहीं बनता, बल्कि प्राय: देखा जाता है कि कन्या की शिक्षा की कमी, उसके धन या श्रृंगार की कमी और कोई बुरी आदत अथवा स्वभाव की वक्रता भी उसके विवाह के कार्य में विघ्न रूप हो जाया करता है। ठीक इसी प्रकार, यदि आत्मा में भी विकारों की कुरूपता हो, मन की कोई वक्रता या कुटिलता हो, ईश्वरीय ज्ञान तथा दिव्य गुणों रूप धन एवं श्रृंगार की कमी हो तो जब वह परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होना चाहता है तो उसका मन जमता नहीं है। उसके विकार अथवा दिव्य गुणों की कमी उसके लिये विघ्न रूप हो जाते हैं। वे उसकी योग-स्थिति अथवा योग-निष्ठा में सहायक नहीं होते बल्कि बाधक होते हैं। मनुष्य की

बुद्धि जन्म-जन्मान्तर से लक्ष्य-बोध से रहित होने के कारण चंचल हो चुकी है और वह एक-टिक न होकर भटकती ही रहती है। अतः अब हमें चाहिए कि मुक्ति तथा जीवनमुक्ति का यथार्थ बोध प्राप्त कर के, लक्ष्य को ठीक रीति से जान कर, परमपिता परमात्मा को ठीक रीति से पहचान कर हम आत्मा का दिव्य गुणों से श्रृंगार करें, इसके विकारों को मिटायें और बुद्धि की सगाई अव्यभिचारी रूप से उस परमपिता परमात्मा से करें। यही ईश्वरीय प्रीति की रीति है, योग-स्थित होने की यह विधि है।

अब जैसे आदि सनातन धर्म वालों के यहाँ पर रिवाज है कि ब्राह्मण ही सगाई का कार्य सम्पन्न करते हैं और विवाह पढ़ते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा की सगाई भी सच्चे ब्राह्मण ही करा सकते हैं। 'सच्चे ब्राह्मणों' से हमारा अभिप्राय आजकल के देह-अभिमानी और विकारी 'ब्राह्मणों' से नहीं है बल्कि स्वयं प्रजापिता ब्रह्मा के मुख द्वारा रचे हुए संगम-युगी ब्राह्मणों से है। प्रसिद्ध है कि परमपिता परमात्मा शिव का विवाह प्रजापिता ब्रह्मा ने तथा उस द्वारा रचे हुए पवित्र ब्राह्मणों ने किया। अब वही संगम-युग पुनरावृत्त हो रहा है। परमपिता परमात्मा शिव एक साधारण मनुष्य-तन में अवतरित होकर स्वयं ही अपने दिव्य नाम, रूप, गुण, कर्तव्यों आदि का तथा इस सर्वोत्तम परन्तु प्रायः लुप्त योग का ज्ञान दे रहे हैं। उस मनुष्य का नाम उन्होंने 'प्रजापिता ब्रह्मा' रखा है और उसके मुख द्वारा उन्होंने पवित्र ब्राह्मणों की रचना भी की है। उन्हीं के द्वारा अब आत्माएं निराकार परमात्मा से योग-युक्त हो सकती हैं और हो रही हैं। अन्य कोई मनुष्य यह योग नहीं सिखा सकता।

फिर जैसे विवाह के समय, अग्नि प्रज्ज्वलित करके वर के हाथ में वधू अपना हाथ देती है, उसके पल्ले से अपना पल्लु बान्धती है और उसके पीछे-पीछे कदम पर कदम रखते हुए चलती है, ठीक वैसे ही योगी भी ज्ञानाग्नि को प्रज्ज्वलित करके अपना हाथ परमात्मा के हाथ में देता है, अर्थात् उसके अर्पणमय होता है तथा उसके साथ सच्चा तथा वफादार होकर रहने का वचन देता है। वह भी अपना पल्ला परमात्मा से बान्ध करके उसके पीछे-पीछे चलता है अर्थात् परमात्मा की दी हुई आज्ञाओं पर आचरण करता है, नियमों का पालन तथा अनुकरण करता है और सम्बन्ध को स्थायी रखने का प्रण लेता है। जब आत्मा इस प्रकार परमपिता परमात्मा से अपने मन का नाता जोड़ती है, बुद्धि की सगाई करती है अथवा चित्त को उसके अर्पण करके उसे वर लेती है तो जैसे संसारिक रीति में वर अपनी वधू को अपने घर ले जाता है और अपना सारा घर उसके अर्पण कर देता है, वैसे ही परमात्मा शिव भी आत्मा को अपने परमधाम अर्थात् मुक्तिधाम में ले जाते हैं और बाद में उसे बैकुण्ठ का राज्य-भाग दे देते हैं।

सहज राजयोग की मानसिक भूमिका

योग का विषय बहुत ही मधुर विषय है। 'योग' शब्द को सुनते ही मनुष्य का मन उड़कर परमपिता परमात्मा के पास पहुँचने की चेष्टा करने लगता है। योग के द्वारा जो ईश्वरीय आनन्द प्राप्त होता है और मनुष्य के मन में एक अलौकिक मस्ती रहती है, उसका अनुभव करने की इच्छा तो बहुत मनुष्यों को होती है परन्तु योग के लिए मन की भूमिका अथवा धारणा ठीक न बनी होने के क़ारण वे ईश्वरीय सुख और प्यार के अनुभव से तथा मन की सच्ची शान्ति से वंचित रह जाते हैं और जीवन के अनमोल क्षणों को व्यर्थ ही गँवा देते हैं।

वास्तव में परमप्रिय परमपिता परमात्मा से मिलने अर्थात् उनसे योग-युक्त होने का भी सभी को अधिकार है और योग-युक्त होना कठिन भी नहीं है। योग में स्थित होने और जीवन में सच्चे सुख-शान्ति का अनुभव करने के लिए मुख्य रूप से छः बातें आवश्यक हैं। इनको धारण करने से मन की ऐसी भूमिका बन जाती है अथवा चित्त की ऐसी अवस्था हो जाती है कि अभ्यास सहज होता है।

१. निश्चय

इन छः बातों में सबसे पहला स्थान निश्चय को प्राप्त है — क्योंकि मनुष्य का 'निश्चय' ही उसके मन, वचन और कर्म का नेता है। मनुष्य जब बुद्धि से किसी चीज़ को अच्छा या बुरा निश्चय कर लेता है, तब उसका मन उस चीज़ को प्राप्त करने या छोड़ने का चिन्तन करता रहता है और उसे प्राप्त करने या छोड़ने के विचार से ही वह कर्म अथवा पुरुषार्थ भी करता है। अतः योगाभ्यास, जो कि मन को ईश्वर की ओर लगाने ही का दूसरा नाम है, तभी हो सकता है जब मनुष्य योगी जीवन को ही अपना लक्ष्य निश्चय करे, परमात्मा की लग्न में मग्न होने के पुरुषार्थ को ही अपना पुरुषार्थ निश्चय करे और स्वयं को अव्यक्त, आत्मा निश्चय करे। अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि जिस मनुष्य को निम्नलिखित ७ बातों में निश्चय होता है, वही योगी हो सकता है अथवा उस ही का योगाभ्यास सुविधा से, निर्विघ्न रूप से तथा निरन्तर ठीक चलता रहता है।

(क) विषय विकारों वाले जीवन में सच्चा सुख नहीं

सबसे पहले तो मनुष्य को यह निश्चय होना चाहिए कि भोगी जीवन अथवा विकारी जीवन तो कोई जीवन नहीं है बल्कि विकारी जीवन का तो मिनट-मिनट ही मृत्यु के तुल्य है क्योंकि उसका परिणाम बड़ा खराब और बुरा है। जब तक मनुष्य विकारों वाले जीवन को ही जीवन माने हुए है तब तक तो वह ईश्वरीय आनन्द का रस ले ही नहीं सकता। अत: घर-गृहस्थ में रहते हुए भी मनुष्य जब इन विकारों को विष समझने लगता है और यह निश्चय करने लगता है कि विकार तो आदि-मध्य-अन्त दु:ख देने वाले हैं और योग ही अमृत है, प्रभु की स्मृति ही सुखदायक है, तब ही योगाभ्यास के लिए उसकी भूमिका अनुकूल बनती है। जब मनुष्य यह निश्चय करता है कि भोगी का जीवन तो रोग और शोक का जीवन अथवा क्षणभंगुर और फीके सुख का जीवन है, इसलिए अब इन विकारों से छूटने का पुरुषार्थ करूँगा और विषय-वैतरणी में डूबते हुए अपने जीवन के बेड़े को निकालने का पुरुषार्थ करूँगा — तब वह योग की ओर आगे बढ़ सकता है।

(ख) परमात्मा और उससे प्राप्ति में अटल निश्चय

अज्ञानी मनुष्य स्वयं को 'देह' निश्चय करके दैहिक सम्बन्धों के भान में ही रहता है और देह के ही माता-पिता से केवल एक आध जन्म के लिए ही अल्प सम्पत्ति अथवा सुख का जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त करता है। परन्तु योग का तो आधार ही "आत्मा-निश्चय" है। योगी स्वयं को आत्मा-निश्चय करने से और परमपिता परमात्मा की सन्तान निश्चय करने से ही अविनाशी सुख-शान्ति अथवा राज्य-भाग्य का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार प्राप्त कर लेता है। नास्तिक मनुष्य परमात्मा के अस्तित्व में निश्चय न होने के कारण ईश्वरीय आनन्द से वंचित रहता है और स्वयं को ही शिव अथवा परमात्मा निश्चय करने वाला मिथ्या-ज्ञानी परमपिता परमात्मा से जन्म-सिद्ध अधिकार लेने का पुरुषार्थ ही नहीं करता। अत: योगाभ्यास, जिसका अर्थ ही है सम्बन्ध (Connection) जोड़ना, तब हो सकता है जब आत्मा और परमात्मा को अलग-अलग मान कर आनन्द के सागर, शान्ति के सागर सर्वशक्तिमान तथा कल्याणकारी परमात्मा को माता-पिता, बन्धुश्च सखा अथवा शिक्षक और गुरु निश्चय किया जाय।

(ग) पवित्रता और शान्ति ही आत्मा का स्वधर्म

आज कोई मनुष्य स्वयं को हिन्दू, कोई मुसलमान, कोई ईसाई और कोई किसी

अन्य धर्म को मानता है। परन्तु योगी तो पवित्रता और शान्ति को ही अपना 'स्वधर्म' निश्चय करता है अथवा वह आदि सनातन देवी-देवता धर्म को अपना धर्म मानकर पवित्र, शान्त और दैवी गुण सम्पन्न बनने का पुरुषार्थ करता है।

(घ) एक बल, एक भरोसा

ज्ञान-रहित भक्त तो अपने शास्त्र, गुरु, कर्म-काण्ड इत्यादि को ही कल्याणकारी समझकर उसमें लगा रहता है परन्तु जो योग का अभ्यास करना चाहता है वह केवल परमपिता परमात्मा ही को कल्याणकारी मानकर, उसमें ही अपना मन लगाता है, उसे कर्म-काण्ड आदि-आदि थोथे लगते हैं। वह इन सब आधारों को छोड़कर एक परमपिता परमात्मा ही का आश्रय लेता है, सच्चे हृदय से उन्हीं की शरण में जाता है। वह लौकिक गुरुओं और पोथों के भरोसे पर नहीं चलता बल्कि निराकार परमात्मा ही के ''एक बल, एक भरोसे'' पर चलता है; क्योंकि वह समझ जाता है कि काम, क्रोध इत्यादि बली विकारों पर विजय प्राप्त कराने का बल एक सर्वशक्तिमान परमात्मा में ही है, अन्य किसी में नहीं। उसका मन इन सबसे हट जाता है और अत्यन्त स्नेह से एक परमपिता परमात्मा से जुट जाता है अथवा जुटना चाहता है। वह मन-मत, शास्त्र-मत, गुरु-मत इत्यादि की तुलना में एक निराकार परमपिता ही के मत को सर्वश्रेष्ठ निश्चय करता है और, संसार के लोग चाहे कितना भी रोकते और टोकते रहें, वह मस्त कलन्दर की तरह एक प्रभु ही का हो जाता है। इसी वृत्ति को ही ''सर्वोत्तम संन्यास-वृत्ति'' कहते हैं क्योंकि भगवे कपड़े वाले संन्यासी तो केवल घर-बार और वस्त्रों ही का संन्यास करते हैं परन्तु थोथी पण्डिताई से उनका मोह नहीं टूटता किन्तु सच्चा संन्यासी तो मित्र-सम्बन्धियों के बीच रहते हुए भी ममता का संन्यास करता है और उसका मन और कहीं न जाकर एक मात्र परमात्मा ही की ओर जाता है।

(ङ) 'परमात्मा की सतयुगी रचना सुखदायी' में विश्वास

मिथ्याज्ञानी मनुष्य यह मानता है कि सुख और दुःख — दोनों परमात्मा ही देते हैं। परन्तु योगी सदा इसी निश्चय में रहता है कि परमात्मा तो कल्याणकारी हैं, वह तो सुखदाता और शान्तिदाता हैं, वह तो दुःख-भंजन हैं, वह किसी को भी दुःख नहीं देते। दुःख तो 'रावण' अर्थात् माया देती है अर्थात् मनुष्य के अपने किए हुए पापों ही का परिणाम है। परमात्मा तो 'मुक्ति' और 'जीवन्मुक्ति' के दाता हैं, वही तो 'सद्गति' दाता हैं। यह जो दुःख, दरिद्रता और दुर्गति की दुनिया है इसके रचयिता परमपिता परमात्मा नहीं हैं बल्कि वे तो सम्पूर्ण सुख और शान्ति वाली दुनिया के रचयिता हैं; जिसे सतयुग

की दुनिया, स्वर्ग, जीवन्मुक्त दुनिया अथवा वैकुण्ठ कहते हैं। परमात्मा तो मनुष्यात्मा को दु:खी दुनिया से दूर मुक्तिधाम (ब्रह्मलोक) में, जहाँ से ही मनुष्यात्माएं यहाँ आई हैं, वापस ले जाते हैं। अत: अज्ञानी मनुष्य जिन परिस्थितियों में भगवान् को भी बुरा-भला कहता है, उस पर दोष धरता है, योगी निस्संकल्प रहता है और परमात्मा को और मुक्तिधाम तथा जीवनमुक्तिधाम को अधिक याद करता है क्योंकि उसका यह अटूट निश्चय होता है कि सभी संकट अपने ही विकर्मों के कारण सामने आते हैं और परमात्मा तो संकट-मोचन हैं, उन्हें तो खूब दिल से प्यार करना चाहिए, कारण कि वही तो इनसे छुड़ाने वाले हैं और वही तो मुक्तिधाम और जीवन्मुक्तिधाम में ले चलने वाले हैं।

(च) भावी अथवा नियति में निश्चय

अज्ञानी मनुष्य छोटी-सी आपदा आने पर अथवा कुछ भी विपरीत परिस्थिति होने पर घबरा जाता है, दु:खी होने लग जाता है और अपने शान्ति रूपी स्वधर्म को छोड़ देता है। परन्तु योगी का यह निश्चय दृढ़ रहता है कि हमें कर्म ही करना चाहिए, उसके फल के लिए आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। योगी जानता और मानता है कि भावी बनी हुई है, अथवा इस सृष्टि रूपी विराट नाटक की एक नियति (Pre-ordained plan) है, उसके अनुसार ही सब कुछ हो रहा है, अत: चिन्ता करना, व्याकुल होना, दु:खी होना मूर्खता है। वह जानता है कि परमात्मा ही की याद में रहने से बिगड़ी भी संवर जाती है अथवा सहन करने की शक्ति मिलती है। अत: वह व्यथित न होकर योग-युक्त होता है। वह ''हाय-हाय'' न करके 'हरि-हरि' करता है, ''मरा-मरा'' न बोलकर ''राम-राम'' की स्मृति में रहता है, वह रोता नहीं बल्कि योग द्वारा अपने पापों को धोता है, वह सृष्टि के आदि, मध्य, अन्त के राज़ को समझकर ना-राज़ (नाराज़) नहीं होता। जो मनुष्य भावी अथवा नियति (Pre-determined or Pre-ordained Plan of this Drama) में निश्चय नहीं करता, उसकी अवस्था अडोल नहीं हो सकती, उसकी समाधि सहज और सुदृढ़ नहीं हो सकती, उसका योग अटूट और अखण्ड अथवा निरन्तर और निर्विघ्न नहीं हो सकता। संसार के कलह-क्लेश अथवा हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति उस ही के लिए विघ्नता का रूप धारण करते हैं जो इस संसार के विधि-विधान को अथवा इसकी भावी और नियति को नहीं जानता, वर्ना जो इसमें निश्चय रखता है, वह एकरस अवस्था में रहता है, उसका मन योग के सिंहासन से कभी नीचे नहीं उतरता, उसकी निष्ठा कभी भंग नहीं होती। बल्कि, उसका मन एक परमात्मा पर एक-चित्त हो जाता है और हुआ ही रहता है।

(छ) परिवर्तन और परिणाम में निश्चय

योगी जीवन का आनन्द चाहने वाले मनुष्य का यह निश्चय भी अटूट रहना चाहिए कि इस संसार की सभी चीज़ें नश्वर हैं, यहाँ के सभी पदार्थ परिवर्तनीय हैं। अज्ञानी मनुष्य इस बात को भूल जाता है अथवा वह इस बात को व्यवहार में नहीं लाता। इसीलिए जब उसका कोई सम्बन्धी शरीर छोड़ता है तो वह रोने लगता है; वह यह याद नहीं रखता कि परिवर्तन तो इस संसार के पत्ते-पत्ते पर लिखा हुआ है, परिणाम अथवा विनाश तो इस लोक की बूँद-बूँद पर अंकित है। इसका नाम ही 'संसार' अर्थात् चलने वाला अथवा 'जगत्' अर्थात् 'गति वाला' है। यहाँ कोई भी चीज़ जैसी-की-तैसी नहीं खड़ी है बल्कि सब-कुछ बदलता जा रहा है और चलता चल रहा है। जो मनुष्य योगी होता है वह इस बात को याद रखता है और इसलिए हानि-लाभ अथवा निन्दा-स्तुति की परिस्थिति में एक-समान रहता है क्योंकि उसका यह निश्चय होता है कि यह परिस्थिति भी परिवर्तन के चक्कर में आएगी ही, यह भी रहनी नहीं है। वह संसार को परिणामी और क्षणभुंगर मानकर अपने मन को अपरिवर्तनीय, सदा एकरस परमपिता परमात्मा ही में टिका कर सुख लेने का पुरुषार्थ करता है। वह समय को व्यर्थ नहीं खोता क्योंकि वह जानता है कि उसका शरीर भी परिवर्तनशील और परिणामी है और किसी समय भी उसका अन्त हो सकता है। अत: वह शरीरान्त से पहले प्रभु का प्यार, परमात्मा का प्रेम अथवा उससे पवित्रता का लाभ उठाते रहने की धुन में लगा रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योगाभ्यास में निश्चय का बड़ा महत्व है। कहावत है कि मनुष्य का जैसा निश्चय (Faith) हो, वैसा ही उसका रूप (Form) होता है। निश्चय-भेद होने के कारण ही मनुष्य, मनुष्य में अथवा देवता और देवता में भेद हो जाता है। इसलिए, गीता के भगवान् के महावाक्य हैं कि मनुष्य का जैसा निश्चय हो, वैसा ही वह स्वयं होता है। अत: ऊपर जो रहस्य स्पष्ट किये गए हैं, जब उनके अनुसार मनुष्य इसी निश्चय में स्थित होता है कि "मैं तो आत्मा हूँ, त्रिलोकीनाथ सर्वशक्तिमान्, ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम के सागर परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ, पवित्रता और शान्ति ही मेरा स्वधर्म है अथवा देवी-देवता धर्म अर्थात् दिव्य गुणों की धारणा ही मेरा धर्म (कर्त्तव्य) है और यह संसार तो एक परिवर्तित होते रहने वाला विराट् नाटक है जोकि एक बनी-बनाई भावी के अनुसार चलता ही रहता है। मैं जो इसमें अपना पार्ट करने के लिए परमधाम से ही आया हूँ और मुझे यहाँ से लौट ही जाना है, सच्चा सुख तो एक परमपिता परमात्मा ही की स्मृति से अथवा उन द्वारा रची हुई सतयुगी सृष्टि ही में है और योगी जीवन ही सर्वश्रेष्ठ है" — तो इस निश्चय से वह समयान्तर में पूर्ण

पवित्र, शान्त-सुखी और देवी अथवा देवता पद प्राप्त कर लेता है।

२. समर्पणमयता

ऊपर ७ बातों में निश्चय होने की जो बात स्पष्ट की गई है, उसके अतिरिक्त योगाभ्यास के लिए समर्पणमयता की भी आवश्यकता है। आज तन,मन,धन में आसक्ति होने के कारण ही मनुष्य देह-अभिमानी और सम्पत्ति-अभिमानी है। अत: जब मनुष्य अपना तन, मन, धन परमात्मा ही का समझता है तभी वह नष्टोमोह: स्मृतिर्लब्धा: होता है अर्थात् तब ही उसकी आसक्ति मिटती है और बुद्धि में परमात्मा की स्मृति टिक पाती है। जब मनुष्य सर्व भाव से परमात्मा पर न्यौछावर हो जाता है तो परमात्मा भी त्रिलोकी सहित उस पर न्यौछावर हो जाते हैं और तभी मनुष्य आनन्दित होता है। लोग राजा जनक का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब उन्होंने अपना सर्वस्व अष्टावक्र को समर्पित कर दिया तभी उनका मन एकाग्र हुआ।

अत: जब तक अपने पुत्र-कलत्र, धन-धान्य, तन और तबेले में आसक्ति है तब तक योग का रसास्वादन नहीं हो सकता। योगाभ्यास से आसक्ति नष्ट होती है परन्तु आसक्ति मिटने से ही योग ठीक और शक्तिशाली होता है। दोनों बातें एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अत: योगाभ्यास की इच्छा वाले मनुष्य को यह जानना चाहिए कि हमें घर-बार का या वस्त्रों का संन्यास नहीं करना बल्कि इनसे आसक्ति का संन्यास करना है। केवल इनसे ही आसक्ति का त्याग नहीं करना बल्कि अपने तन से भी आसक्ति को हटाना है और इस सृष्टि को बुद्धि से भुलना है और इसकी बजाय परमपिता परमात्मा से अपना सम्बन्ध जुटाना है और मुक्तिधाम तथा स्वर्ग ही की तरफ अपना मुख करना है।

३. बुद्धि का सन्तुलन और स्मृति

प्राय: लोग समझते हैं कि योग बहुत कठिन चीज़ है। परन्तु वास्तव में स्मृति ही सहज समाधि है। जब मन अपने देह के भी भान को भूलकर बिन्दु-सदृश्य ज्योतिस्वरूप परमपिता परमात्मा की स्मृति में टिक जाता है तो मनुष्यात्मा का परमपिता परमात्मा से योग होता है। 'स्मृति' से हमारा अभिप्राय किसी मन्त्र का सिमरण या किसी रूप का ध्यान करना नहीं है, बल्कि सर्वोत्तम गुणोंवाले जो परमपिता शिव हैं, उन्हीं से युक्त होना है। जितना-जितना कोई मनुष्य नष्टोमोह: होता है, उतना-उतना ही उसकी स्मृति ध्रुव और अव्यभिचारी अर्थात् शुद्ध होती है। परमपिता परमात्मा की शुद्ध स्मृति में रहने से आत्मा

शुद्ध होती है और शुद्ध आत्मा ही मुक्ति धाम (ब्रह्मलोक) तथा जीवन्मुक्तिधाम (वैकुण्ठ) में जाती है। परमात्मा की स्मृति में यदि अन्यान्य जीवों या पदार्थों की याद भी मिश्रित हो जाती है तो उसका बुद्धि-योग शुद्ध अथवा अव्यभिचारी न होने से उसकी स्थिति और वृत्ति भी अशुद्ध होती है और गति भी तदानुसार ही होती है। क्योंकि स्मृति से ही स्थिति, कृत्ति और कृति का सम्बन्ध है। अत: स्मृति को ठीक तरह ईश्वर में लगाने से संसार की स्थिति भी बदल जाती है।

आपने देखा होगा कि जब कोई मनुष्य किसी बीमारी के कारण अथवा किसी सदमे या अत्यन्त वृद्धावस्था के कारण स्मृति खो बैठता है तो वह अनाप-शनाप बकने लगता है और लड़ने-झगड़ने तथा उल्टे-सुल्टे कर्म करने लगता है। ठीक इसी प्रकार, जब मनुष्य को आत्मा की तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति नहीं रहती तब उसका भी बोलना-चालना, रहना-करना दैवी मर्यादा के अनुकूल नहीं रहता। अत: आप ही सोचिये कि वृत्ति को भी परिवर्तित करने के लिए स्मृति का कितना महत्व है! वास्तव में स्मृति ही से परमात्मा का सहारा मिल सकता है, स्मृति ही से सहनशीलता आती है, स्मृति ही से सत्यस्वरूप परमात्मा का संग होता है। स्मृति मानो एक ऐसा इंजेक्शन है जिसके द्वारा मनुष्य को सर्वशक्तिमान परमात्मा से शक्ति भी मिलती है और जिससे कि मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के विकर्म रूपी कीटाणु नाश हो जाते हैं।

४. आहार की शद्धि

परन्तु ऐसी मिलावट-रहित, शुद्ध और ध्रुव स्मृति में स्थिति प्राप्त करने के लिए मनुष्य को अपने आहार पर खास ध्यान देना चाहिए क्योंकि आहार का मनुष्य के विचार से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। मनुष्य जैसा आहार खाता है, उसका वैसा ही सत्त्व बनता है और सतोगुणी अर्थात् पवित्र भोजन करने से उसकी बुद्धि पर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है अर्थात् उसके मन की एकाग्रता भी वैसे ही विषयों पर होती है।

५. सरलता और समत्व

सरलचित्त मनुष्य ही निस्संकल्प हो सकता है, सरल चित्त वाले मनुष्य की बुद्धि उधेड़-बुन में नहीं रहती। अत: योग के लिए मन की सरलता बहुत आवश्यक है। जो व्यक्ति कुटिल है, चाहे वह कितना ही बुद्धिमान हो, उसके योग का अभ्यास पूर्ण रूप से साफ नहीं हो सकता। सरलता पर ही साहिब राज़ी है, सरलता से ही सफलता मिलती है। मनुष्य का चतुर अथवा युक्ति-युक्त होना बुरा नहीं है परन्तु मन का चपल होना अथवा

बुद्धि का कुटिल होना मनुष्य को हेराफेरी में ही लगाये रखता है और परिणामस्वरूप मनुष्य के संकल्प परमपिता परमात्मा की ओर लगने की बजाय इधर-उधर चलते रहते हैं। अत: मनुष्य को सरलचित्त और समत्व बुद्धि वाला बनने का अभ्यास करना चाहिए।

६. ब्रह्मचर्य

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता, उसके स्वभाव में समत्व आना अथवा उसका स्मृति में स्थित होना बहुत मुश्किल है। योगाभ्यास का अर्थ ही परमपवित्र परमात्मा पर मन को एकाग्र करना और ईश्वरीय गुणों अथवा सम्बन्ध का मनन करना है, इससे स्पष्ट है कि जो मनुष्य अपवित्रता की बात सोचता है अथवा आसुरी कर्म का मनन करता है, वह तो योगी के लक्ष्य से विपरीत ही लक्ष्य अपनाकर भोगी ही बनने का पुरुषार्थ करता है।

यह निश्चित बात है कि ब्रह्मचर्य के बिना मनुष्य में न स्मृति स्थिर हो सकती है और न सहनशीलता तथा समत्व ही आ सकता है।

योग में स्थिति प्राप्त करने के लिये सहायक ज्ञान बिन्दु

यह बात प्रसिद्ध है कि योग में स्थित होने से मनुष्य को आनन्द की प्राप्ति होती है। इसलिये बहुत लोगों के मन में यह शुभ इच्छा बनी रहती है कि योग सीखें ताकि प्रभु-मिलन का आनन्द भी प्राप्त करें और रोग तथा शोक से भी दूर हों। परन्तु वे समझते हैं कि योग में स्थित होना सहज नहीं है। अत: वे निराश होकर बैठ जाते हैं। परिणामस्वरूप वे भोगी बने रहते हैं। आत्मा के स्वरूप में तथा परमपिता परमात्मा की स्मृति में स्थित होने की बजाय उनकी स्थिति देह में होती है। उनकी वृत्तियाँ विषयों की ओर भागती हैं परन्तु सारी आयु विषयों को भोगने पर भी उनकी तृष्णा नहीं मिटती। बल्कि ''आप भया बूढ़ा, तृष्णा भई जवान'', वाली उक्ति उन पर घटती है। वे भोगों को क्या भोगते हैं, वास्तव में तो भोग ही उन मनुष्यों का 'उपभोग' कर जाते हैं। उनकी इच्छायें बढ़ती जाती हैं और वे स्वयं कमज़ोर होते जाते हैं। इसलिए अन्त में भोगी लोगों को पश्चाताप में हाथ मसलने पड़ते हैं।

देखा जाय तो वास्तव में योग में स्थित होना कोई बहुत कठिन कार्य नहीं है बल्कि भोगी जीवन की हानियों और योगी जीवन के लाभों को ठीक-ठीक समझ कर केवल मन और दृष्टि को बदलने ही की आवश्यकता है। यदि भोगी और योगी के श्रवण-मनन, बोल-चाल, दृष्टि-वृत्ति, स्मृति-स्थिति इत्यादि के अन्तर को जानकर परमपिता परमात्मा की ज्ञान-युक्त स्मृति का अभ्यास किया जाय तो मनुष्य सहज ही योगी बन सकता है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि भोगी जीवन में जो रोग और योगी जीवन में जो स्वास्थ्य और आनन्द है, उनको तोले और मन की आँखें खोले और अब योगी बने।

भोगी और योगी में अन्तर

भोगी का मन कर्मेन्द्रियों के वशीभूत होकर कभी कर्ण-रस, कभी अन्न-रस, कभी धन-रस, कभी मान-रस और कभी शान-रस के पीछे निरन्तर भागता ही रहता है। परन्तु योगी के लिए संसार में केवल एक ही रस है। भले ही योगी भी भोजन आदि करता है परन्तु वह एक परमात्मा की ही लग्न में मग्न अथवा मस्त रहता है। योगी देह में रहते

हुये भी 'विदेही' होता है। उसे कर्मेन्द्रियों के विषय आकर्षित या वशीभूत नहीं करते।

योगी का ध्यान एक ही स्थान (परमधाम) पर रहता है, इसलिए वह एक ही स्थिति में रहता है। योगी अपने मन को एक परमात्मा ही का ठिकाना देता है, परन्तु भोगी का मन बे-ठिकाना होकर कभी इधर, कभी उधर भटकता रहता है। इसलिए उसकी स्थिति डाँवाडोल रहती है और वृत्ति चंचल होती है। इस प्रकार, योगी और भोगी की मति में बहुत अन्तर है। योगी की मति (बुद्धि) ईश्वर में और भोगी की विषयों को भोगने में होती है। इस कारण योगी की गति सद्‌गति और भोगी की गति दुर्गति होती है। योगी की मति (बुद्धि) ईश्वरीय मत पर आधारित और भोगी की माया-मत पर आधारित होती है।

इसके परिणामस्वरूप, योगी का बोलना, चलना, सुनना, सब कुछ न्यारा और प्यारा होता है। योगी के बारे में यह बात प्रसिद्ध है कि वह 'अन-हद नाद' सुनता है। परन्तु, 'अन-हद नाद' से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि वह अपने अन्दर कोई ध्वनि सुनता रहता है, जैसे कि कई हठयोगी लोग मानते हैं, बल्कि हमारा भाव यह है कि योगी जब संसार में कोई शब्द सुनता है तो वह उसका अर्थ अलौकिक रीति और हदों से ऊपर (अन - हद) उठकर करता है। उदाहरण के रूप में, भोगी 'भाई' शब्द का संकुचित और लौकिक अर्थ लेकर दैहिक भाइयों को ही अपना भाई समझता है परन्तु योगी इस हद से उठकर सारी सृष्टि की मनुष्यात्माओं को अपना भाई मानता है।

योगी की दृष्टि में भी भोगी की अपेक्षा कुछ और ही बसता है। योगी की एक आँख मुक्ति पर और दूसरी जीवन्मुक्ति पर लगी रहती है, परन्तु भोगी का ध्यान इस विकारी संसार में तथा दैहिक नातेदारों की मोह-ममता में अथवा निन्दा-स्तुति में ही डोलता रहता है। वह इन्द्रियों के विषय-विकारों ही को ढूँढ़ता और देखता रहता है। योगी इस कलियुगी विकारी दुनिया को मानो देखते हुए भी नहीं देखता।

इसी प्रकार, योगी भले ही पाँव से तो इसी संसार में ही चलता-फिरता रहता है परन्तु उसका मन परमधाम ही की ओर चलता है। वह जानता है कि मैं परमधाम से आया हूँ और मुझे वहाँ ही लौटकर जाना है। अत: उसका मन शान्त और उपराम रहता है। परन्तु भोगी का मन वहाँ जाता है जहाँ मुख स्वादिष्ट व्यन्जनों का भोग कर सकता हो, आँखे चमक-दमक को देख सकती हों, कान गाना बजाना सुनकर विकार-युक्त 'सुख' दे सकते हों, भोगी को इस मृत्यु लोक की 'विषय-चाश्नी' के सिवा कुछ सूझता ही नहीं। अत: वह रोग-शोक को भोगता हुआ अन्त में मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

इन सभी बातों से स्पष्ट है कि योगी संसार में रहते हुए भी संसार के स्थूलत्व से मन को हटाकर, उसे परमपिता परमात्मा ही पर 'एक-टिक' करता है। परन्तु भोगी मनुष्यों

की स्थिति 'एक-टिक' नहीं रहती, कारण कि वे जिन विषयों-व्यक्तियों से योग लगाते हैं, वे स्वयं भी अचल नहीं हैं। भोगियों को ज्ञान और भान ही चंचल वस्तुओं का है जब कि योगी को ज्ञान और ध्यान ही अचल परमात्मा का रहता है। अत: योगी और भोगी के इस अन्तर को जानकर तथा परमात्मा, परमधाम, मुक्ति, जीवन्मुक्ति आदि का ज्ञान प्राप्त करके दृष्टि और स्मृति को परमात्मा की ओर लगाने से योगाभ्यास सहज हो जाता है।

योग में स्थिति कैसे हो?

आज परमात्मा के मानने वाले बहुधा लोग कहते हैं कि सभी जीव-प्राणी परमात्मा ही के रूप हैं। इस बात पर अच्छी तरह विचार करने से आप इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि सभी को परमात्मा के नाना रूप मानने से तो मन को एकाग्र करने का प्रश्न ही नहीं उठता। योग में स्थिति प्राप्त करने के लिए तो मन को अनेकत्व से निकाल कर एक परमपिता परमात्मा पर ही एकाग्र करना होता है। अत: पहले तो यह जानना चाहिए कि परमात्मा विभु (सर्व व्यापक) नहीं है बल्कि अणु-सम है, एक ज्योति-बिन्दु है, वह एक है, उसका रूप एक है, उसका धाम एक है और उस एक ही की स्मृति में 'एक-टिक' स्थित होना ही योगाभ्यास करना है। उस एक परमात्मा ही में टिकने वाला 'ज्ञान' ऐसा अंकुश है जो कि मन-रूपी मीनाक्ष हाथी को ठीक रास्ते पर ले जा सकता है। उस ज्ञान के अतिरिक्त अन्य जितने भी तथा-कथित ज्ञान हैं उनसे आत्मा की योग में स्थिति नहीं हो सकती।

अत: योग में सहज रीति स्थित होने के लिए पहले तो परमप्रिय परमात्मा के नाम 'शिव', रूप 'बिन्दु-सम ज्योतिलिंगम्', धाम 'ब्रह्म लोक', सम्बन्ध 'परमपिता' इत्यादि का निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। योग में स्थिति ध्रुव तभी होगी जब ज्ञान की नींव पक्की होगी। जैसे दीपक पर चिमनी (Chimney) चढ़ी होने से दीपक की लौ बुझती नहीं है; वैसे ही योग के साथ ज्ञान होने से आत्मा की ज्योति भी बुझती नहीं है।

योग में स्थिति के लिए अभ्यास की आवश्यकता

कोई मनुष्य कह सकता है कि – ''परमपिता परमात्मा का यह वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने पर भी मेरा मन तो फिर भी भोगों ही की ओर भागता है; इसके लिए मुझे क्या करना चाहिए?'' इसका समाधान यह है कि योग का अभ्यास बार-बार करना चाहिए। योग में दृढ़ स्थिति प्राप्त करने के लिए कोई कठिन क्रिया, कोई आसन, कोई प्राणायाम इत्यादि करने की आवश्यकता नहीं है परन्तु परमपिता परमात्मा की स्मृति के अभ्यास ही की परम आवश्यकता है। इस अभ्यास से पुराने संस्कार ढीले होते जायेंगे,

उनका वेग घटता जायेगा और मन को ईश्वरीय स्मृति की टेव पड़ती जायेगी और उसे ईश्वरीय आनन्द का अनुभव आकर्षित करने लगेगा। अत: मन की उच्छृंखलता से घबराकर अभ्यास को छोड़ना कभी नहीं चाहिए, बल्कि अभ्यास को जारी रखना चाहिए। थोड़े ही समय में मन ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने लगेगा।

कुछ ही समय में यह अभ्यास इतना परिपक्व हो जाएगा कि निद्रा में भी परमात्मा के ही सुन्दर स्वप्न आयेंगे। जैसे लोभी मनुष्य को नींद में भी पैसा याद आता है, कामी व्यक्ति को स्वप्न भी स्त्री ही के आते हैं वैसे ही योगी को स्वप्न में भी परमप्रिय परमात्मा ही की याद आयेगी। इस पर हमें एक दृष्टांत याद आता है-

एक बार कपड़े का एक व्यापारी दिन-भर कपड़ा बेचने के धन्धे से थक कर रात को चादर तान कर सो गया। अभी सोये हुए उसे कुछ ही समय हुआ था कि वह खर्राटे लेने लगा। खर्राटों की आवाज़ सुनकर उसी कमरे में उसकी बूढ़ी माता जाग गई। इतने में ही उसे महसूस हुआ कि उसका बच्चा नींद में ही अपने ऊपर की चादर को दो हाथों के बीच खैंचकर वैसे ही फाड़ रहा है जैसे कि कपड़े के दुकानदार कपड़ा फाड़ा करते हैं। उसने तुरन्त आवाज़ दी – "अरे बेटा, यह क्या करता है? तू चादर क्यों फाड़ रहा है? बेटा, तुम्हें निद्रा में भी दुकान की, ग्राहकों की और कपड़े के थानों ही की याद आती है?"

बेटा करवट बदलते हुए बुड़बुड़ाया – "माँ तू मेरे दुकान के कामों में दखल न दिया कर। अब ग्राहकों का समय है। मुझे कपड़ा बेचने दे।"

ठीक इसी तरह यदि हम ईश्वर की स्मृति में रहने का धन्धा अथवा अभ्यास करें और विषयों के आकर्षणों को इसमें हस्तक्षेप न करने दें तो जागृत अवस्था की तो बात ही अलग रही, स्वप्न में भी हमें आध्यात्मिक और आनन्ददायक दृश्य ही दिखाई देंगे।

अभ्यास में विकल्प और विघ्न

कई लोग कहते हैं कि –"अभ्यास करने की मन्सा से ही हम प्रात: काल को उठकर बैठते हैं परन्तु मन बहुत तूफान मचाता है। अनेक प्रकार के विकल्पों से चित्त परेशान होने लगता है और अभ्यास हो ही नहीं पाता।" वे पूछते हैं कि – "अभ्यास में स्थिरता लाने की क्या युक्ति है? हमारे जो मायावी संस्कार हमें अपनी ओर खींचते हैं, उनको हम कैसे हटायें? ईश्वरीय स्मृति में जो आनन्द मिलता है और जो शक्ति प्राप्त होती है, उसका स्थायी अनुभव हम पायें कैसे? हमारे इन विकल्पों का कारण और उसका निवारण क्या है?"

बात यह है कि मन को जो अपनी पुरानी टेव पड़ी हुई है, वह तो उसी के अनुसार ही चलता है। अब उसे ईश्वर की ओर लगाने के लिए चार मुख्य बातों का ख्याल रखना चाहिए। एक तो यह कि ये मायावी विकल्प तभी तक आयेंगे जब तक स्वयं को इस लोक का वासी समझेंगे। अत: युक्ति यह है कि आप इस निश्चय में टिकें कि – "मैं आत्मा परमधाम का निवासी हूँ अथवा मैं परमधाम से इस सृष्टि मंच पर कुछ पार्ट बजाने आया हूँ। बस, मुझे तो अब शीघ्र ही यहाँ से लौटकर उस ज्योति लोक में, उस शान्ति धाम में, उस पवित्र पुरी में अथवा उस प्रभु के देश में लौटना है। यह माया नगरी मेरी नगरी नहीं है, यह तो परदेश है।" जब आप परमधाम अथवा परलोक की स्मृति में रहेंगे तो स्थिति भी पारलौकिक अथवा अलौकिक हो जायेगी और इस कलियुगी मायावी संसार के विकल्प मन को नहीं सतायेंगे। इसलिए हमने योगी और भोगी का अन्तर बताते हुए पहले ही कहा है कि योगी की एक आँख मुक्ति-धाम पर और एक जीवन्मुक्ति धाम पर टिकी रहती है अथवा योगी परमधाम की ओर चलता है।

दिन-भर के संकल्पों पर ध्यान

दूसरी बात यह है कि मनुष्य का जिस प्रकार चिन्तन सारे दिन में चलता है वैसे ही संकल्प योग का विशेष अभ्यास करने के समय भी उसके मन में चला करते हैं। अत: इस बात की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है कि दिन में भी चलते-फिरते बार-बार योग का अभ्यास करते रहना चाहिये।

मरजीवा जन्म लेना

तीसरी एक आवश्यक बात यह है कि मरजीवा बनने के बिना योग में स्थिति प्राप्त करना लगभग असम्भव ही है। 'मरजीवा' बनने का अर्थ है जीते हुए 'मरकर नया (आध्यात्मिक) जन्म लेना'। जब कोई मनुष्य मरता और दूसरे स्थान पर जन्म लेता है तो उसे पूर्व जन्म की सभी बातें भूल जाती हैं और अब नये सम्बन्धियों से उसका नया नाता जुड़ता है। इसी प्रकार, अब अपने विकारी और अज्ञान-काल के कृत्यों को भुलाकर अपने दैहिक नातेदारों की ममता को भी छोड़कर परमपिता परमात्मा से याद का नाता जोड़ना ही 'मरजीवा जन्म' लेना है। ऐसा मरजीवा जन्म योगाभ्यास के लिए आवश्यक है।

बीती को बिसारना

योगाकांक्षी के लिए "बीती सो बीती देखो, दुनिया न जीती देखो"। ऐसा

दृष्टिकोण आवश्यक है। इससे उसका मन अनासक्त हो जाएगा। भले ही वह संसार में कार्य-व्यवहार करेगा और गृहस्थ व्यवहार निभायेगा, परन्तु उसे इनमें कोई रस नहीं आयेगा बल्कि वह स्वयं को परमपिता परमात्मा ही का एक छोटा-सा और भोला-सा बच्चा मानते हुए सरल स्वभाव से, ब्रह्मचर्य-व्रत में, आत्मिक दृष्टि को लेकर चलेगा और योग अवस्था में आनन्द की अनुभूति करेगा।

दो शब्द

आज मनुष्य ब्रह्मचर्य के महत्व को पूरी तरह न जानने के कारण तेजोभंग होता रहता है और स्खलन के कारण उसका शरीर रोगों का घर बना रहता है। ईश्वर-दर्शन की बजाय वह डाक्टर-दर्शन ही करता रहता है और अमृतपान की बजाय दवा-पान में ही लगा रहता है। शारीरिक शक्ति को नष्ट कर के वह बुढ़ापे का आह्वान करता है और कमज़ोरी अनुभव करने के कारण विटॉमिन, पौष्टिक पदार्थ या शराब-कबाब की ओर भागता है। शक्ति के खज़ाने को गंवा कर फिर उसे भरने के लिये खर्च करता है और उस बढ़े हुए खर्च को पूरा करने के लिए भ्रष्टाचारपूर्ण तरीकों से धन इकट्ठे करने का यत्न करता है। इस प्रकार वह एक कुचक्र में फँस जाता है। जैसे पानी का बांध बांधने से उस द्वारा बिजली पैदा करके देश की उत्पादन शक्ति बढ़ती है और पानी भी देहातों को डुबोने की बजाय खेतों को हरा-भरा कर के देश को समृद्धिशाली बनाने के रचनात्मक कार्य में काम आता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य उत्तम साहित्य-रचना, कला-कौशल या विद्या-वृद्धि इत्यादि के रूप में कल्याणकारी कर्त्तव्यों को सम्पन्न कर सकता है।

गीता में कहा गया है, काम-वासना से मनुष्य में क्रोध पैदा होता है और क्रोध से ही मनुष्य की बुद्धि भ्रमित हो जाती है। यदि इस दृष्टिकोण से देखा जाए तो आज समाज में जो हिंसात्मक आन्दोलन हैं या उग्रवादियों द्वारा तोड़-फोड़ है, उसका मूल कारण भी मनुष्य में ब्रह्मचर्य के पालन का अभाव है।

☞ **'ब्रह्मचर्य'** पर विस्तृत जानकारी हेतु प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित पुस्तक – **''ब्रह्मयर्च व्रत का पालन और काम विकार पर विजय''** का अध्यन करें।

योग-युक्त अवस्था

योग-युक्त अवस्था ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ है, क्योंकि इस द्वारा ही मनुष्यात्मा अपने परे-से-परे अव्यक्त एवं कर्मातीत धाम के समीप आ सकती है और इस द्वारा ही परमात्मा की अव्यक्त प्रेरणाओं को पकड़ सकती है। जो आत्मा योग-युक्त अवस्था में नहीं है, उससे भूल होना सम्भव है।

योग-युक्त अवस्था में रहना ही मानो परमात्मा की प्रेरणा का पूरा पालन करना है। सारी दुनिया बुद्धिमानों की राय (मत) पर चलना चाहती है परन्तु बुद्धिमानों का भी बुद्धि-दाता जो परमात्मा है उसकी राय पर चलने की तो एकमात्र युक्ति है ही योग-युक्त अवस्था को धारण करना क्योंकि उस अवस्था में स्थित हुए बिना कोई भी मनुष्य परमात्मा की प्रेरणा ले ही नहीं सकता है।

व्यक्त भाव में, अर्थात् देह-भान में तो माया (पाँच विकारों) का ही प्रवेश होता है। अत: पूर्ण निर्दोष बनने के लिए अपनी इस शान्त और अन्तर्मुखी अर्थात् योग-युक्त अवस्था में स्थित रहते रहना चाहिए। क्योंकि परमपिता परमात्मा सूक्ष्म-आकार में जिस देश के निवासी हैं, उसमें है ही अन्तर्मुखता और शान्ति का प्रभाव। जब मनुष्यात्मा उस अव्यक्त अवस्था में टिक कर वाणी बोलेगी तो उसके वाक्य यथार्थ और सत्य ही निकलेंगे और उसकी मानसिक अवस्था से मधु के समान मिठास अथवा कस्तूरी के समान खुशबू आवेगी। जबकि दैवी गुणों से सजना ही मनुष्य का लक्ष्य है तो योग की तार को न टूटने देना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। इसी योग-युक्त अवस्था के रास्ते से ही तो मनुष्यात्मा अव्यक्त-मूर्त परमात्मा के अव्यक्त धाम की यात्रा कर सकेगी। सूक्ष्म को सूक्ष्म ही रीति से तो पाया जा सकता है। कर्मातीत अवस्था को कर्मातीत बनने के अभ्यास से ही तो प्राप्त किया जा सकता है। अतएव योग-युक्त अवस्था की टेव डालना ही सच्चे पुरुषार्थी का वास्तविक पुरुषार्थ है।

योग-युक्त अवस्था ही कवच

योग-युक्त अवस्था ही तो कवच है जोकि माया (मनोविकारों) के सभी वारों से बचाने के काम आता है। अब इस मायापुरी का वातावरण तो है ही तमोप्रधान। इस कारण योग-युक्त अवस्था में रहने से ही हर हालत में बचाव और कल्याण है क्योंकि इसी

सर्वोत्तम अवस्था से ही मनुष्यात्मा यहाँ ही मानो सूक्ष्म देश का जैसा वातावरण बना सकेगी। इसीलिए सदा योग की कुटिया में गुप्त तपस्या करते ही रहना चाहिए।

योगावस्था से ही याद भेजना सम्भव

इस अव्यक्त योग-युक्त अवस्था से ही मनुष्य परमपिता परमात्मा की ओर अपनी याद परमधाम तक भेज सकता है क्योंकि जो जितना सूक्ष्म है वह 'तंतु-बिना तार' के रास्ते शीघ्र ही अव्यक्त स्वरूप परमात्मा के पास पहुँचता है। व्यक्त तो व्यक्त देश में ही प्रत्यक्ष होता है। परन्तु सूक्ष्म देश में तो फिर भी सूक्ष्म ही प्रगट होता है। अब दुनिया वाले तो व्यक्ति (देह इत्यादि) के भान में आकर परमात्मा को अनेक व्यक्त यज्ञ, जप, तप, पूजा, पाठादि के तरीकों से पाने का अयथार्थ पुरुषार्थ करते हो, क्योंकि वे इस गुह्य भेद को जानते ही नहीं कि सूक्ष्म आत्मा सूक्ष्म (परमात्मा) के पास अपनी याद मन या बुद्धि-योग ही के अव्यक्त रास्ते से भेज सकती है। इस गुह्य युक्ति से अपरिचित होने के कारण उनको उस अनोखे जीवन का अनुभव ही नहीं है जो कि योगावस्था अथवा अव्यक्त अवस्था में स्थित होने वाली आत्माओं को अब परमपिता परमात्मा द्वारा अनुभव हो रहा है। अत: अब जो कोई भी योग, अर्थात् अव्यक्त प्रभु की अव्यक्त याद गँवा बैठता है, वह अपनी ही कमाई में घाटा डालता है। मानो कि वह अभी पूरा सजग नहीं हुआ है। या, उसे अभी इस अविनाशी कमाई की खुमारी चढ़ी ही नहीं है।

योगावस्था में ही दैवी स्वराज्य छिपा है

मनुष्यात्माएँ जगने और जगाने का और मौलाई भस्ती में रहने का पुरुषार्थ अब ही कर सकती हैं क्योंकि इतना समय तो माया द्वारा आत्मा की ज्योति बुझी रहने के कारण उसमें शक्ति ही नहीं रही थी। परन्तु अब भी किसी आत्मा की ज्योति निरन्तर जगी तब रह सकती है जबकि वह आत्मा योग-युक्त अवस्था को धारण करे, क्योंकि योग की अवस्था होती बत है जब कोई सदा-जागती-ज्योति ज्योतिर्बिन्दु परमात्मा की निरन्तर याद में रहता है। इसलिए सावधान होकर माया के विघ्नों से बचने के लिए अपनी इस योग अवस्था पर पहरा देते रहना चाहिए क्योंकि इसी गुप्त साइलेन्स पावर (Silence Power; शान्ति बल) में ही 'भविष्य का दैवी स्वराज्य' छिपा हुआ है। जैसे कोई मनुष्य अपनी अनमोल और प्रिय वस्तु को दिल से लगाये रहता है और उसे अपने पास से छूटने नहीं देता है, वैसी ही इस अवस्था को हर हालत में पूरी तरह सम्भाले रखना चाहिए। दिन प्रतिदिन आप योग-अवस्था की जितनी गुह्यता में और गुप्त ताकत में जाते

रहेंगे उतना ही आपके नज़दिक सुख के स्वराज्य की प्रालब्ध भी स्वयं ही आती जायेगी। उसके लिए कोई दूसरा अन्य पुरुषार्थ नहीं है।

योगावस्था की जौहर भरी तलवार

भले ही इस स्वराज्य की प्राप्ति में असुर विघ्न डालते रहेंगे और अनेक प्रकार की परीक्षाएं भी आती रहेंगी परन्तु निश्चय मानिये कि यदि आप योगावस्था की जौहर-भरी तलवार मज़बूती से पकडे रखेंगे तो कोई भी घाव लग नहीं सकेगा बल्कि अन्त में आप की योगावस्था की सूक्ष्म शक्ति के प्रभाव से सब शान्त होते जाएँगे। इसलिए योगावस्था को ही सभी परीक्षाओं से पार होने की सहज और सरल युक्ति मानना चाहिए। सभी संकट अथवा आपदाएँ अनायास ही ऐसी योगावस्था वाले मनुष्य के सामने टिक न सकेंगी, क्योंकि योगी को सर्वशक्तिमान् परमात्मा का सहारा प्राप्त होता है।

योगी के अलंकार

विष्णु चतुर्भुज के हाथ में शंख, चक्र, गदा और पद्म - ये चार अलंकार दिखाये जाते हैं। शंख पवित्र-वाणी का, स्व-दर्शन चक्र तथा सृष्टि-चक्र आत्मा के ज्ञान का, 'कमल' पवित्र जीवन का तथा 'गदा' माया पर विजय का प्रतीक है। यदि हम इन अलंकारों को धारण करें तो माया हमसे दूर भाग जायगी।

योग-मार्ग में विघ्न और उनका निवारण

जैसे सांसारिक प्रेम में प्रेमिका और प्रेमी के मिलन में कई विघ्न आ खड़े हाते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा के मिलन अथवा योग में भी अनेकानेक प्रकार के विघ्न आते हैं क्योंकि इस में मनुष्य के अपने ही जन्म-जन्मान्तर के दृढ़ संस्कार बाधा रूप बन जाते हैं। परन्तु थोड़ी ही हिम्मत से ये विघ्न सहज ही दूर भी हो जाते हैं क्योंकि एक तो हिम्मत करने वाले को शुभ पुरुषार्थ में सर्वशक्तिमान् परमपिता शिव स्वयं मदद और मार्ग-प्रदर्शन देते हौ और दूसरे, ईश्वरीय ज्ञान के आधार पर मनुष्य पहले से ही जान सकता है कि कौन-से विघ्न का आना सम्भव है और उन्हें कैसे दूर करना चाहिए। अत: मनुष्य की बुद्धि में जितनी पराकाष्ठा में ईश्वरीय ज्ञान होगा और जितनी दृढ़ता से वह योग-मार्ग पर चलता रहेगा उतना ही सहज और शीघ्र वह अपने विघ्नों को पार कर सकेगा तथा दूसरों को भी सहायता दे सकेगा। एक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'विघ्न' केवल विघ्न ही नहीं है बल्कि ईश्वरीय ज्ञान के परीक्षार्थ प्रश्न-पत्र (Question Paper) हैं। जो जितना अधिक और जितने विकराल विघ्नों को पार करता है, वह उतना ही उच्च ज्ञानी तथा योगी है। अत: चाहिए तो यह कि हम इन विघ्नों को पश्न-पत्र मानें और अपनी ईश्वरीय पढ़ाई के बल पर उनमें अच्छी तरह पास हों परन्तु यदि किसी को ये विघ्न के रूप ही में भासते हैं तो वह उनका निवारण किस प्रकार करे, इस समस्या पर अब हम विचार करेंगे। योग-मार्ग में विघ्न के अनेक नाम-रूप और प्रकार हो सकते हैं परन्तु प्रारम्भ से बाद तक मुख्य रूपसे अथवा मोटे-मोटे रूप में जो विघ्न प्राय: आते हैं, हम यहाँ उनके निवारणार्थ उन युक्तियों का उल्लेख करेंगे जो कि परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा के मुखार्विन्द द्वारा हमें इस पुरुषार्थी जीवन में समय समय पर समझाई हैं।

देह के सम्बन्धियें के प्रति आकर्षण अथवा उनकी याद

"योग-निष्ठ" होने का अर्थ है स्वयं को देह और देह के सम्बन्धों से न्यारी, कर्मातीत आत्मा निश्चय करके एक परमपिता परमात्मा ही की अनन्य, अमिश्रित (Unmixed), अखण्ड और आनन्दमय स्मृति में बैठना। परन्तु मनुष्य को जन्म-जन्मान्तर से अपने देह का भान और अभिमान है उसका मन बारबार अपने देह के

सम्बन्धों की ओर भागता है क्योंकि उसे मोहममता की रस्सियाँ और नाम-रूपका आकर्षण उस और खींचता है। अभी मनुष्य योग-युक्त होकर आनन्द का अनुभव करने ही लगता है और चाहता है कि बस इसी अशरीरी आत्मिक स्थिति का रस लेता रहूँ परन्तु उसके मन को जो टेव पड़ी हुई है, वह उसे पुन:पुन: देह के सम्बन्धों में से कभी बच्चे की, कभी माता की, कभी पति की, कभी किसी अन्य की लग्न, याद, सम्बन्ध आदि की ओर खींच कर ले जाती है।

स्मृति के मार्ग-परिवर्तन की विधि

योगाभ्यास के समय जब मनुष्य के सामने ऐसा विघ्न आता है तो अपने आत्मा रूपी दीपक को ईश्वरीय याद में जगता रखने के लिये उसमें ज्ञान रूपी घृत डालते रहना चाहिये। उसे ज्ञान-मंथन करते हुए यह सोचना चाहिए कि "मौ तो देह से न्यारा हूँ, फिर यह नाते मुझ आत्मा को अब कैसे बाँध सकते हैं? मेरे मन की आँख के सामने सम्बन्धियों के जो चित्र आ रहे हैं ये भी तो देहों के चित्र हैं, देहों रूपी वस्त्रों को धारण करने वाले ये सम्बन्धी भी तो वास्तव में ज्योति-बिन्दु आत्माएं ही हैं। अत: उनके साथ भी मेरा नाता तो वास्तव में आत्मिक नाता है। और हम सभी का अविनाशी और सच्चा नाता तो एक परमपिता परमात्मा ही के साथ है। उस नाते से तो वे भी परमात्मा की सन्तान हैं, मैं भी परमपिता परमात्मा ही की सन्तान हूँ। इस से भिन्न और जो भी नाते हैं, वे सभी तो क्षणभंगुर, विनाशी, प्रकृति के देहों पर आधारित हैं, उन से उपराम होकर अब मुझे एक परमपिता परमात्मा ही की मधुर स्मृति में टिकना है क्योंकि अब योगाभ्यास के समय उन दैहिक सम्बन्धों को याद करने का तो कोई प्रयोजन ही नहीं है।" अत: योगाभ्यास करते समय जब-कभी किसी सम्बन्धी का चित्र मन रूपी पट पर आये तो मनुष्य को चाहिये कि उसके स्थान पर `o' अर्थात् बिन्दु रूप आत्मा का चित्र लाकर उसे परमपिता परमात्मा की सन्तान निश्चय करके पुन: अपने मन को स्थानान्तरित (Transfer) करके परमपिता परमात्मा ही की और ले जाये और पुन: ईश्वरीय स्मृति का आनन्द ले।

इसी प्रकार, चलते-फिरते, उठते-बैठते, कार्य-व्यवहार करते हुए भी उसकी आँखों के सामने जब मित्र सम्बन्धी आदि आयें तो मनुष्य को चाहिये कि उनके देह को भी उनके वस्त्र मानते हुए, उसके बीच लिपटी हुई ज्योति-बिन्दु रूप आत्मा `o' को देखे और किसी से बोलते-चालते भी इसी स्मृति का अभ्यास करता रहे कि "यह ज्योति-बिन्दु आत्मा `o' ही मुख द्वारा बोल रही है, मैं ज्योति-बिन्दु आत्मा `o' ही कान द्वारा सुन रही हूँ, हम दोनों आत्माएँ परमपिता परमात्मा ही की सन्तान हैं।" इस प्रकार के परुषार्थ

अथवा अभ्यास से शीघ्र ही आत्मा स्वरूपनिष्ठ तथा योग-निष्ठ हो जायेगी। देह और देह के सम्बन्धों की बजाय अब उसे आत्मा तथा परमात्मा ही की स्मृति रहने लगेगी। देह के सम्बन्धियों के आकर्षण ढीले पड़ते जायेंगे और उसकी प्रीति अब गति और सद्‌गति के दाता तथा स्वर्ग के राज्य और भाग्य के वरदाता माता-पिता परमात्म ही से जुट जायेगी।

"सांसारिक नाते सभी कर्म-बन्धन के नाते हैं, मुझे तो अब बन्धन-मुक्त होकर कर्मातीत बनना है और अपने सभी नाते परमपिता परमात्मा ही से जोड़ने हैं"-इस स्मृति का अभ्यास करते रहने से मनुष्य को रस्सियाँ नहीं बांधेगी और वह कर्मातीत अवस्था को तथा बन्धन के दाग़ से रहित एकान्तिक योगस्थिति को प्राप्त कर लेगा। "अब तो सृष्टि का महाविनाश निकट है और ये सभी शारीरिक नाते, शरीर ही के साथ मिट जाने हैं, अत: मुझे परमात्मा ही को याद करना चाहिये ताकि 'अन्ते या मति सा एव गति' की उक्ती के अनुसार मेरी गति परमात्मा के धाम में हो जाय" - ऐसा मनन करने से मनुष्य का मन इन विनाशी नातों से उपराम हो जायेगा और अपना अटूट नाता परमपिता परमात्मा ही से जोड़ लेगा।

२. सिनेमा सांसारिक खेल-तमाशों अथवा मनोरन्जन के साधनों का आकर्षण

कुछ मनुष्यों को ऐसा अभ्यास पड़ा होता है कि वे खेल-तमाशों ही में जीवन का सुख मानते हैं। वास्तव में उनका यह विचार एकांकी दृष्टि अथवा संकुचित ज्ञान के कारण होता है। अत: अब परमपिता परमात्मा शिव ने जो ईश्वरीय ज्ञान तथा विशाल दृष्टिकोण दिया है, उसके आधार पर मनुष्य को सोचना चाहिये कि-"यह तो सारी मनुष्य सृष्टि ही एक विराट नाटक है जिसके ही कुछ अंश कृत्रिम रूप में सिनेमा के हाल में चित्रपट पर दिखाये जाते हैं। मैं तो ज्ञान-नेत्र से देखता हूँ कि मनुष्यसृष्टि में लोग विविध रूप-रंग को धारण करके, भिन्न-भिन्न वेशभूषा पहन कर, नाना प्रकार की भाषाएं बोलते हुए, विभिन्न व्यवहार तथा व्यापार करते हुए सुख-दु:ख तथा जीत-हार का खेल खेल रहे हैं। सतयुग के आदि से लेकर कलियुग के अन्त तक पुनरावृत्त होने वाला यह विराट नाटक बहुत ही अद्‌भुत है! परमपिता परमात्मा शिव इसके केन्द्र-बिन्दु (Central Figure) हैं, प्रजापिता ब्रह्मा और जगदम्बा सरस्वती इसके नायक (Hero) और नायिका (Heroine) हैं, विभिन्न धर्मों के स्थापक इब्राहिम, बुद्ध, ईसा, शंकराचार्य आदि-आदि इसके मुख्य अभिनेता हैं और इस पृथ्वी रूपी रंग-मंच पर, ५०० करोड़ आत्माएं देह रूपी वस्त्र पहन कर अपना-अपना एक अनादि-निश्चित रंग-बिरंगा पार्ट कर रही हैं! इस नाटक से अधिक

विराट् लम्बा समय चलने वाला, विविधता और विभिन्नता-पूर्ण तो अन्य कोई नाटक हो ही नहीं सकता। इसमें तो सभी मनुष्य-कृत नाटक समाये हुए हैं। मनुष्य-कृत नाटकों के कथानक और कथावस्तु भी इसी सृष्टि-नाटक ही से लिये गये हैं।''

इस प्रकार साचते हुए मनुष्य को चाहिये कि साक्षी होकर तथा अपना पार्ट बजाते हुए इस विराट नाटक के आदि-मध्य-अन्त के चित्र अपने मानस-पट पर देख-देख कर हर्षित होता रहे और इस रहस्य को याद कर करके अति गद्‌गद् एवं पुलकित होवे कि ''अब तो यह विराट नाटक पूरा हो रहा है, अब यह मेरा अन्तिम ८४ वाँ जन्म है, केवल थोड़ा-सा दृश्य शेष है, फिर तो हम आत्मा रूपी ऐक्टरों को वापस अपने घर (परमधाम) जाना है, अब तो हमारा सर्वोत्तम ऐक्टर परमात्मा के साथ-साथ भारत को स्वर्ग बनाने का बहुत ही उच्च पार्ट चल रहा है....।''

इस प्रकार, चलते-फिरते, उठते-बैठते या योग निष्ठा का अभ्यास करते समय यदि सिनेमा, नाटक या मनोरंजन का अन्य कोई साधन मनुष्य को अपनी और आकर्षित करता है तो मनुष्य को चाहिये कि ज्ञान रूपी ब्रेक से उसे रोक (Stop) करके सृष्टि रूप विराट नाटक की ओर अपने मन को मोड़ कर इसके केन्द्रबिन्दु और इसका रहस्योद्‌घाटन करने वाले परमपिता परमात्मा ही की ओर ले जाय। वह मन में सोचे कि एक्टर केवल स्टुडियो में किसी मनुष्य-कृत नाटक में पार्ट करने वालों ही को नहीं कहा जाता बल्कि हम सभी आत्माएं भी तो अनादि-अविनाशी-अद्‌भुत् ऐक्टर ही हैं जिनमें कि अनेक जन्मों के पार्ट की कहानी भरी हुई है। इस प्रकार मनुष्यों को चाहिये कि अपनी जीवन-कहानी को भी एक नाटक की न्यायीं मान कर और संसार में हो रहे सभी व्यापार को नाटक की तरह देखते हुए, बाह्यमुखी मन को पुन: अन्तर्मुखी करे। बाहर के मनुष्यकृत नाटक की स्मृति को वह सृष्टि रूपी विराट नाटक की स्मृति में रूपान्तिरत करके आत्मा रूपी ऐक्टर का विचार करे और अब वापस परमधाम जाने का विचार करे।

मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि - ''अब मैं ऐसा योगयुक्त हो जाऊं तथा ऐसा श्रेष्ठ कर्म करूँ और ऐसा अच्छा पार्ट बजाऊं कि सभी लोग उसे देख कर सुखी तथा हर्षित हों और ''वाह-वाह'' करें और कि अब मेरा पार्ट इस विराट नाटक के निर्देशक (Director) अर्थात् परमात्मा के निर्देश (Directions) के अनुसार हो तथा उसके नायक (प्रजापिता ब्रह्मा) और नायिका (जगदम्बा सरस्वती) के साथ हो''। उसे सोचना चाहिये कि — ''अब मुझे कृत्रिम नाटकों के एक्टरों के पार्ट को देखने के बजांय अपने अभिनय अर्थात् कर्मों पर ध्यान देना चाहिये और अब हरेक नर-नारी के स्व-स्व कर्मों के आधार पर जो भावी रूपी फिल्म (Film) शूट (Shoot) हो रही है उसमें मैं अपनी

भावी पर ध्यान दूं ताकि मेरा अपना कोई ऐक्ट ग़लत न हो जाय अथात् कोई कर्म विकर्म न हो जाय और यदि कोई चलन विकार-युक्त होगी तो मैं स्वर्ग के राज्य-भाग का अधिकार गँवा बैठूंगा और मझे 'असुर' ही कि उपाधि मिलेगी!''

इस प्रकार, मनुष्य को चाहिये कि मन को पुन: पुन: उस परमपिता परमात्मा की सुखदायक, शान्तिदायक, पुण्य-स्मृति में स्थित करके मधुर मिलन मनाय और मनुष्यकृत नाटकों से प्राप्त होने वाले विकार-युक्त मनोरंजन को तिलाँजलि देकर योग द्वारा प्राप्त होने वाले अकथनीय और अनिर्वचनीय आनन्द को प्राप्त करें० क्योंकि योग द्वारा आनन्द के साथ-साथ आत्म को अविनाशी पवित्रता, सुख, स्वास्थ्य और शांनति की भी कमाई होती है और उसकी बुद्धि रूपी तिजोरी में इतना खज़ाना भर जाता है कि जिसका कोई हिसाब नहीं हो सकता। मनुष्य को चाहिये कि इन-इन युक्तयों से चरित्र को दूषित करने वाले, देह-अभिमान रूपी दाग़ लगाने वाले, मन को विकारों का रंग देने वाले तथा योग-भ्रष्ट करने वाले सिनेमा (Cinema) आदि बुरे साधनों की हानि पर विचार करके मन को उन से उपराम करे और अपने धन, समय तथा शक्ति को अपव्यय होने से बचा कर अन्य मनुष्यात्मों के तथा अपने कल्याणार्थ लगाये और योग-युक्त होकर अपने पूर्व जन्मों के भी कोटि-कोटि अपराधों को काटने का परुषार्थ करने की बात सोचे।

३. खान-पान तथा सजधज का आकर्षण

आज मनुष्य को कई प्रकार के चस्के लगे हुए हैं और कई प्रकार की आदतें पड़ी हुई हैं। कभी उसकी जीभ रसीली चीज़े माँगती है, कभी उसकी आँखें चमक-दमक और रंग-रूप की ओर आकर्षित होती हैं तो कभी उसके कान मधुर गान सुनना चाहते हौ। एक ईश्वरीय लग्न का रस न होने के कारण, कर्ण-रस, जीभ-रस आदि अनेकानेक रस मन को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। मन का ध्यान बार-बार इन्द्रियों के विषय-पदार्थों की ओर चला जाने के कारण परमपिता परमात्मा की स्मृति से हट जाता है और मानो कि मनुष्य मासमान से गिर कर फिर चट्टान पर आ गिरता है अथवा आसक्ति के खड्डे में या विकारों की खाई में जा गिरता है। वह परमपिता परमात्मा के प्रेम रस को चखता-चखता, फिर क्षण-भंगुर, तमागुणी प्रकृति के पदार्थों के पीछे पड़कर स्वयं को खो बैठता है। अत: इन्द्रियों के विषय भी मनुष्य के योगाभ्यास में एक विघ्न ही हैं। वे बारंबार मनुष्य का बुद्धियोग खण्डित कर देते हौ। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि जब-कभी जीभ का चस्का, कान का व्यसन या रंग-रूप का आकर्षण उसके सामने आये ता वह सम्भल जाय और अडिग तथा अचल हो जाय। वह ज्ञान बल से इस हानिकारक संकल्प को हटा दे।

खान-पान तथा सजधन के रूप में विघ्न आने पर मनुष्य को सोचना चाहिये कि - "ये मुख, कान, आदि तो मेरे नौकर-चाकर (Servants) हैं, मैं तो इनका स्वामी हूँ। मैं इनके पीछे क्यों चलूँ, वास्तव में तो इन को मेरी आज्ञानुसार चलना चाहिये। मैं भोजनादि तो शरीर रूपी मकान की मरम्मत अथवा लिपाई-पुताई के लिये करता हूँ अथवा शरीर रूपी इजंन को चालू रखने के लिये इंधन के रूपमें लेता हूँ परन्तु मैं स्वयं तो शरीर का मालिक हूँ, मैं भोजन और पदार्थों का दास तो नहीं हो सकता? इस शरीर रूपी मन्दिर में मौ आत्मा रूपी देव रहता हूँ। अत: यह मन्दिर साफ सुथरा तो होना ही चाहिये परन्तु मन्दिर का भी माहात्म्य अथवा सार्थक्य तो मूर्ति ही के कारण होता है, अत: आत्म रूपी अव्यक्त मूर्ति को महत्व न देकर शरीर रूपी मन्दिर के नेत्र रूपी झरोखों, मुख रूपी द्वार, कान रूपी खिड़कियों आदि-आदि को महत्व देना तो अज्ञानियों तथा नास्तिकों का काम है। यह ठीक है कि मन्दिर के द्वार को तथा खिड़कियों आदि को साफ तथा सूस्थिर रखना चाहिये परन्तु केवल उन्हीं के कारण मन्दिर को 'मन्दिर' मानना तो गोया भूल करना ही है। शरीर रूपी मंजुषा (डिब्बी) को आत्मा रूपी उत्न से अधिक मूल्य देना तो मूर्खता ही है। अत: जिस कर्म से आत्मा की हानि हो, उस कर्म को मैं नहीं करूंगा, हीरे को मैं कौड़ी-बदले नहीं दूँगा, शरीर के व्यसनों में पड़ कर मैं आत्मा की ग्लानि नहीं करूँगा, मैं तो अब स्वरूप-निष्ठ होऊंगा। मैं इन कर्मेन्द्रिय से कमल के समान अलिप्त रहूंगी, यह मेरा दृढ़ संकल्प है।" इस प्रकार मनन करके मनुष्य को चाहिये कि पुन:पुन: स्वयं को देह रूपी घर से अलग चेतन मालिक निश्चय कर के परमपिता परमात्मा ही की स्मृति में स्थित होने का पुरुषार्थ करे।

मनूष्य को यह सोचना चाहिये कि - मैं तो कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शुद्ध व्यापार करने के लिये अब परमपिता परमात्मा द्वारा निश्चित किया गया एक मैनेजर (Manager) अथवा ट्रस्टी (Trustee) हूँ, इस दुकान का मालिक तो परमात्मा ही है जो कि इसका निरीक्षक (Superviser) भी है, अत: मुझे उसके प्रति वफ़ादार और फर्मांबरदार की न्यायीं चलना चाहिये। मुझे शरीर को स्वच्छ और ज़रूरी वस्त्रों आदि द्वारा सुरक्षित तो रखना ही चाहिये। परन्तु उसकी सजधज ही पर लट्टू नहीं होना चाहिये। मेरा यह शरीर अब परमपिता परमात्मा का हो चुका है, अत: इसे अनमोल समझ कर उपयुक्त साधनों द्वारा इसकी सम्भाल तो करनी ही चाहिये परन्तु इस शरीर के वस्त्रों तथा सजधज के पीछे मुझे राज योगियों की मर्यादा के विरुद्ध कुछ नहीं करना चाहिये। इस प्रकार के मनन-चिन्तन से मनुष्यात्मा स्वयं को कर्मेन्द्रियों के संघात से अलग तथा विषय-पदार्थों और भोगों के प्रति अनासक्त अनुभव करेगी और साक्षी होकर अपने शरीर को

खान-पान, वस्त्र आभूषणों आदि से उत्तम मर्यादानुसार चलाती हुई स्वयं योग-युक्त रहेगी।

४. विकार का आकर्षण

योग मार्ग पर चलने वाले मनुष्य पर देह-अभिमान का आक्रमण होने पर कई प्रकार के संकल्प-विकल्प सताते हैं। इनमें से मुख्य है काम-भाग का संकल्प अथवा मैथुन रूपी विकल्प। काम के अनेकानेक रूपान्तर हैं। काम का नशा हल्का भी हो सकता है पूरा भी। काम नाम-रूप के प्रति आकर्षण मात्र के रूप में हो सकता है, शारीरिक प्यार के रूप में भी हो सकता है और भोग की चेष्टा के रूपमें भी। यह विघ्न सबसे बड़ा विघ्न है और अत्यन्त हानिकारक भी है क्योंकि यह ता मनुष्य को ईश्वरीय स्मृति रूपी पहाड़ की चोटी से एकदम नीचे देह-अभिमान के पत्थर पर पटक कर पुर्ज़ा-पुर्ज़ा अथवा छार-छार कर देता है। यह विघ्न वास्तव में विघ्न नहीं बल्कि विध्वंसकारी शत्रु है। अत: इसे तो तुरन्त भगा देने का यत्न करना चाहिये।

ऐसे समय मनुष्य को चाहिये कि अपने वास्तविक नाते को सामने लाये तथा काम-भोग करने के कड़े दण्ड का ध्यान करे। उसे सोचना चाहिये कि ये देह रूपी पाँच तत्त्व का पुतला तो रोग, बुढ़ापा, कुरूपता, काल आदि से प्रभावित होने वाला तथा अन्दर से अत्यन्त गंदा और गट्टर अथवा गंदे नाले (Sewer) के समान है। इस देह में जो आत्मा है, वास्तव में दबा हुआ मोती अथवा हीरा तो वही है। अत: अपने मन की आँख पर से माया के मोटे पर्दे को हटा कर उस हीरे ही को रेखना चाहिये और हड्डी-मांस के इस पिंजर में स्वयं को नहीं फंसाना चाहिये।

मनुष्य को याद हरना चाहिये कि "काम ने ही तो मनुष्य को स्वर्ग से निकाल कर नकर में घकेला है, तब मैं काम की बात सोच कर अपना मुँह काला क्यों करूँ?" उसे सोचना चाहिये कि यहाँ काम की अग्नि में जलने वाला मनुष्य तो यमपुरी में भी ज़िन्दा जलाया जाता है और उसके अंग-अंग में अग्नि का दाह किया जाता है। अत: मैं तो काम का नाम भी नहीं लूँगा, काम का तो मैं काम तमाम कर दूँगा।

जब मनुष्य के मन में काम की चेष्टा उत्पन्न हो तो उसे सोचना चाहिये कि "मैं तो श्री लक्ष्मी श्री नारायण के समान देवी या देवता बनने का पुरुषार्थ कर रहा हूँ तब भला मैं यह बन्दर अथवा बन-मानुष (Apes) जैसा कर्म कैसे कर सकता हूँ? इस प्रकार, काम को भगा कर उसे आत्मा ही को देखना चाहिये और स्वयं को भी आत्मा निश्चय करना चाहिये। उसे सोचना चाहिये कि अब तो थोड़ा ही समय पवित्र रहने की बात है क्योंकि अभी थोड़े ही वर्षों के बाद तो आज की काम-कटारी वाली दुनिया रूप वेश्यालय

का विनाश होने वाला है, अत: अब पवित्र रह कर मुझे भारत को स्वर्ग बननाने की सर्वोत्तम सेवा में परमपिता परमात्म का सहयोगी बनना चाहिये और स्वर्ग के राज्य-भाग्य का अधिकारी बनना चाहिये।'' अन तथा अन्यान्य युक्तियों से मनुष्य को अब निर्विघ्न योग में टिक कर खूब आनन्द लूटना चाहिये और इस सुहावने समय को सफल करना चाहिये। अब जबकि परमपिता परमात्मा शिव अनेकानेक युक्तियाँ समझा कर निर्विघ्न स्वराज्य प्राप्त करने के लिये योग रूपी साधन सिखा रहे हैं तो मनुष्य को चाहिये कि सभी बहाने छोड़ कर उससे पूरा लाभ उठा ले वरना यह सुहावना समय फिर हाथ न जायेगा।

५. लोक-लाज

देह-अभिमान के कारण मनुष्य को कई बार दूसरों द्वारा आलोचना, ग्लानि, निन्दा और आक्षेपों का भी भय उत्पन्न हो जाता है। वह सोचता है कि - ''लोग क्या कहेंगे कि कल तक तो यह विषयी था, आज योगी बन बैठा है? कल तक तो यक शराब आर कबाब उड़ाता था, आज यह स्वयं को सात्विक मानता है? उस दिन तक तो यह चंचल था और अब यह कहता है कि मैं ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करूँगा और अपवित्र अर्थात् विकारी एवं योग-भ्रष्ट मनुष्य के हाथों का भोजन नहीं खाऊंगा।'' वह सोचता है कि - आज अगर मैं इन सम्बन्धियों के साथ सिनेमा नहीं जाऊंगा या इनके यहाँ का बना हुआ लहसुन-प्याज वाला भोजन अथवा गोश्त आदि नहीं खाऊंगा अथवा इनकी ज्ञान-विरुद्ध बातों को नहीं सुनूंगा तो ये लोग मुझ से नाराज़ हो जायेंगे, रूठ जायेंगे, बिगड़ जोयेंगे और मुझे बुरा-भला भी कहेंगे, मेरा उपहास और मज़ाक भी करेंगे तथा विरोध और अत्याचार भी करेंगे।'' इस प्रकार वह इन विकल्पों अथवा समस्याओं से परेशान हो जाता है और पुरुषार्थ रूपी तीर-कमान छोड़कर लोक-लाज से युध्द करने का संकल्प छोड़ देता है।

परन्तु वास्तव में ऐसी परिस्थिति में मनुष्य को यह याद रखना चाहिये कि मैंने तो योगी-कुल, पवित्र ब्राह्मण कुल की अथवा ईश्वरीय कुल की अथवा सतयुगी दैवी मर्यादा की लाज रखनी है। अब कलियुगी आसुरी रीति-रिवाज, विकारों का लेन-देन तो वैसे भी अति को प्राप्त हो चुकने के कारण अन्त को प्राप्त होने वाला है। सर्वोत्तम मर्यादा तो अब परमपिता परमात्मा सिखा रहे हैं और लज्जा तो मुझे तब आनी चाहिये जब मैं उसका पालन न करूँ, वरना कलियुगी लोक से लज्जा किस बात की? क्या पवित्र बनना कोई बुराई है? क्या प्रभु से प्रीति लगाना कोई अनाधिकार-चेष्टा करना है? क्या भोजन की शुद्धि का व्रत लेना कोई खराब काम करना है?

यह विरोध आदि-आदि तो सब अस्थायी और अस्थिर हैं, ''आखिर सच्चाई का बेड़ा तो पार ही है और मुझे तो सब को उचित सम्मान और स्नेह देते हुए परमपिता परमात्मा की आज्ञा का अवश्य पालन करके अपना कल्याण करना ही है।'' इस प्रकार, ईश्वरीय ज्ञान के मनन से मनुष्य को लोक-लाज अथवा अनुचित आलोचना के भय का बहिष्कार करके योग-युक्त हो जाना चाहिये और अपने उच्च पुरुषार्थ से सर्वोत्तम प्रालब्ध बनानी चाहिये।

दो शब्द

मनुष्य की बुद्धि में जितनी पराकाष्ठा में ईश्वरीय ज्ञान होगा और जितनी दृढ़ता से वह योग-मार्ग पर चलता रहेगा उतना ही सहज और शीघ्र वह अपने विघ्नों को पार कर सकेगा तथा दूसरों को भी सहायता दे सकेगा। एक दृष्टि से देखा जाय तो यह 'विघ्न' केवल विघ्न ही नहीं है बल्कि ईश्वरीय ज्ञान के परीक्षार्थ प्रश्न-पत्र (Question Paper) हैं। जो जितना अधिक और जितने विकराल विघ्नों को पार करता है, वह उतना ही उच्च ज्ञानी तथा योगी है।

प्रभु-प्रीति

प्यार संसार का सार भी है और आधार भी। 'पिता-पुत्र', 'भाई-भाई', 'सखा-सखा' इत्यादि नामों से जो सम्बन्ध संसार में ज्ञात हैं, वे सभी प्रेम और प्यार ही के तो रूपान्तर और नामान्तर हैं। कुटुम्ब, परिवार, गृहस्थी, संस्थान और समाज - सभी में संगठन और स्थायित्व स्नेह ही पर तो निर्भर करता है।

तो जैसे व्यवहार में प्यार ही मुख्य एवं टिकाऊ तन्त्र है, वैसे ही परमार्थ में भी प्रेम ही मूल मन्त्र है। जो मनुष्य आत्मिक उन्नति के लिए पुरुषार्थ करता है, वह केवल यही तो करता है कि अपने जीवन में प्रभु-प्रीति का रस भर देता है। पिता परमात्मा से स्नेह का नाता जोड़ कर जीवन की पतवार उसी के हवाले कर देता है।

भोगी और योगी में अन्तर

बच्चा बोलना बाद में सीखता है, परन्तु उसके मन में माँ के प्रति प्यार पहले-से ही होता है। अत: प्यार तो हरेक मनुष्य का स्वभाव है, यह जन्म-जात है; इसे सीखने की भी आवश्यकता नहीं होती। परन्तु एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में भेद यह है कि एक का प्यार दैहिक है, दूसरे का आत्मिक अथवा एक का सीमित एवं संकुचित है, दूसरे का विस्तृत अथवा व्यापक। उदाहरण के तौर पर, एक व्यक्ति अपनी देह की मता को 'माता' मान कर उससे प्यार करता है, दूसरा अपने देश की धरती को 'माँ' मानकर उसके लिये देह भी न्योछावर करने के लिये तैयार है, तीसरा जगदम्बा को अथवा परमात्मा को माता रूप मानकर सर्वस्व उसीके अर्पण करके प्रतिदिन उसकी आराधना कर रहा है।

अत: संसार में जो - कुछ भी हो रहा है, उसकी प्रेरक शक्ति (Motivating force) प्यार ही है। परन्तु किसी में यह प्यार विकृत हो गया है, इसलिए उस व्यक्ति को विकारी मनुष्य (Vicious) अथवा 'विषय-भोगी' कहा जाता है; दूसरे का प्यार शुद्ध एवं निर्मल रूप में है, इसलिये उसे 'योगी' कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर, जिस व्यक्ति का पुरुष-पन अथवा स्त्री-पन की अवस्था में दूसरे व्यक्ति से दैहिक प्यार अर्थात् लौकिक प्यार है, उसका प्यार 'काम' विकार कहलाता है।

काम – यह प्यार मनुष्य की शारीरिक शक्ति को क्षीण करने वाला, उसे वासना-प्रधान और भोग-प्रिय बनाने वाला, प्रकृति के रूप-रंग की दासता में बांधने वाला,

दृष्टि और वृत्ति का भटकाने वाला तथा आत्म-रस को भूला कर खून और माँस के पिंजर में फंसाने वाला है। इसलिए इसे 'नरक द्वार' कहा गया है। जैसे 'द्वार' घर अथवा नगर के प्रवेश-मार्ग को कहा जाता है, वैसे ही जो मनुष्य किसी व्यक्ति के अस्थिचर्ममय देह के प्रति अपना समर्पण-भाव व्यक्त करता है, यौनाकर्षण में अपनी सुध-बुध भूल जाता है, मानो वह नरकगामी होता है क्योंकि यह ऐसा अशुद्ध प्यार है जिससे मनुष्य आत्म-स्वरूप को भूल जाता है; यह प्यार उसकी बुद्धि पर पर्दा डाल देता है।

मनुष्य न केवल इस प्यार की अभिव्यक्ति पर्दे में अथवा अन्धेरे में करता है बल्कि इस प्यार से मनुष्य के आत्मन् पर अर्थात् उसकी बुद्धि पर, देह-अभ्यास का ऐसा मोटा पर्दा आ जाता है कि उसका सद्विवेक, संतुलन, आत्म-नियन्त्रण, स्वमान, ओज, सब नष्ट हो जाता है। जिस समय इस प्यार की लहर उत्पन्न होती है, उस समय मनुष्य के मन में तामस अथवा अन्धेरा छा जाता है। अत: स्मृति-भ्रंश होने का यह सबसे पहला कदम है। नाम इसका प्यार है, परन्तु वास्तव में यह एक प्रकार का 'बुखार' (ज्वर) है, तभी तो यह उतरता-चढ़ता रहता है।

पाश्चात्य देशों में 'काम' 'क्यूपिड' (Cupif) कहते हैं; उसे चित्रकार फूलों-से ढके बाण मारते हुए चित्रित करते हैं। कवि भी 'काम' के प्रभाव को 'काम के बाण' (Arrows of Cupid) कहकर उसका वर्णन करते हैं। भारत में प्रेम-पीड़ित लोग कहते हैं - तुम्हारे नयनों ने मेरे हृदय को घायल कर दिया है। हाय! तुमने ऐसा तीर मारा है कि मेरे हृदय को घायल कर दिया है। स्पष्ट है कि इसका नाम 'प्यार' है परन्तु वास्तव में यह 'मार' है। तभी तो इसे 'काम कटारी' अथवा 'काम कुठाराघात' (Criminal Assault) कहते हैं। परन्तु चूँकि यह फूलों से ढके हुए वाण हैं, इसलिए मन्द-मति मनुष्य इन्हें पहचानते नहीं हैं! एक बार घायल होने पर फिर-फिर घायल होने की चेष्टा करते हैं!! आज का काम पुजारी जगत् तो केवल काम अर्थात् वासना ही को प्यार (Love) माने बैठा है। आज सभी साज़-समान सभी गीत-संगीत, सभी चित्र-चलचित्र, सभी नृत्य-कृत्य इसी अशुद्ध प्यार ही से प्रेरित हैं। व्यापार में इश्तिहार, बाजार में सजावट और फैशन के सामान की भरमार का आधार आज के मनुष्य की कामुकता ही तो है। अत: आज सारा जगत् भोगी बना हुआ है।

लोभ – जसे काम विकार 'पुरुष' अथवा 'स्त्री' नाम वाली दैहिक आकृति-प्रकृति के प्रति प्यार का नाम है, वैसे ही धन, खाद्य पदार्थ तथा अन्य भोग्य पदार्थों के प्रति प्यार का नाम 'लोभ' विकार है। लोभी मनुष्य वस्तुओं से इतना प्यार करता है कि उन्हें इकट्ठा करने के लिये अथवा भोगने के लिये अपना सारा जीवन लगा देता है। कामी

की तरह लोभी को भी अपनी सुधबुध नहीं रहती; वह चीज़ों के पीछे बावला हुआ फिरता है। उसके जीवन में भी आत्म-नियन्त्रण तथा सन्तुलन नहीं होता। वह विषय-लोलुप बना रहता है और विषय-रस के पीछे आत्म-रस को भी गँवाने को तैयार रहता है। उसका मन सदा वस्तुचिन्तन करता रहता है और कमाने, खाने तथा बनाने ही की चिन्ता में वह सदा लगा रहता है। अत: यह एक मीठा विकार है।

किसी व्यक्ति को एक इन्द्रिय से सम्बन्धित पदार्थ का लोभ होता है तो किसी को दूसरी इन्द्रिय के विषय का और कोई तो सारा संसार ही हड़प लेना चाहता है। परन्तु सब-कुछ पा लेने पर भी मनुष्य की तृष्णा नहीं मिटती। स्पष्ट है कि राग भी एक प्रकार का रोग है। यह अन्दर जलने वाली एक प्रकार की अग्नि है जो बुझती नहीं है, भड़कती जाती है। सच्ची प्रीति में तो शीतलता होनी चाहिए अथवा आत्म-तृप्ति होनी चाहिए परन्तु लोभ में तो मन का क्षोम है; इसलिए इसकी गणना विकारों के अन्तर्गत ही है।

मोह — भी अशद्ध प्यार है। यह ममता पर आधारित है। मनुष्य यह भूल जाता है कि - ''मेरा अपना शरीर भी सदा रहने वाला नहीं है, तब दूसरे शरीरधारियों से मोह किस लिये?'' अत: इसका आधार भी आत्म-विस्मृति है अर्थात् स्वयं को देह मानने रूप भ्रान्ति है। मोह जिसके मन में होता है, उसे वह एक दिन रुलाता है और जिसके प्रति होता है उसे बिगाड़ता है और जब मोह के दोनों पक्षों में से किसी एक का अन्त होता है तो दोनों को पीड़ा का अनुभव होता है। मोह वास्तव में प्यार नहीं है बल्कि बन्धन है परन्तु लोग इसे वैसेकि ही धारण करते हैं जैसे कोई वधु कंगन धारण करती है। मोह मनुष्य के मन की बेड़ियाँ अथवा हथकड़ियाँ हैं परन्तु लोग इसे बेड़ियाँ न समझ कर घर-गृहस्थ की बेड़ी मानते हैं। वे इसे पाँव की ज़ंजीर न समझ कर गले की ज़ंजीर मानते हैं; तभी तो वे कहते हैं कि 'मोह के बिना गृहस्थ नहीं चल सकता।' है तो यह मन को चुभने वाला काँटा परन्तु वे इसे कानों में पड़ने वाला 'सोने का काँटा' मानते हैं। है यह दलदल परन्तु लोग इसी में ही दल-बल मानते हैं। आज इसी विकार से घर-बार तथा संसार चल रहा है - परन्तु चल रहा है ईश्वर से विपरीत होकर, विपरीत दिशा में।

क्रोध — मब पैदा होताहै जब मनुष्य को प्रिय वस्तु अथवा प्रिय व्यक्ति की प्राप्ति नहीं होती। अत: अपरोक्ष रीति से यह भी प्यार के नकारात्मक रूप (**Negative form**) की अभिव्यक्ति है। बच्चे को जब प्यार नहीं मिलता या प्यारा खिलौना नहीं मिलता तभी वह खिसियानी बिल्ली की तरह नोचने आता अथवा क्रोध करता है। कामी को जब काम रूपी अफीस नहीं मिलती तब वह भी क्राधान्वित होता है। अत: क्रोध तथा उसके अनेकानेक रूप, जैसे कि रूठना, उलाहना देना, निन्दा करना इत्यादि भी प्यार के

अभाव के प्रतीक हैं।

अहंकार — में स्वयं अपने ही से प्रेम (Self-Love) समाया हुआ होताहै। जब मनुष्य अपनी बुद्धि को, कुल को, जाति को, शारीरिक बल को, अनुभव को, धन को या विद्या-पद को बड़ा समझता है तो इस भ्रान्ति के परिणामस्वरूप उसमें अहंकार और उससे क्रोध उत्पन्न होता है। "बस मैं ही हूँ, मुझसे लोग प्यार करें, मुझे पूछें, मेरी बात को मानें, मेरा आदर करें, मुझे भी कुछ समझें" - इस प्रकार अपने ही से यह प्यार (Self love) अहंकार का रूप धारण करता है। अहंकार मनुष्य के मन से वास्तविकता को भुला देता है, उसमें मिथ्या भाव जागृत करता है, दूसरों के प्रति स्नेह-भाव में कमी लाता है और मन में एक प्रकार का उल्टे नशे का काम करता है। अत: यह भी स्वभाव एवं प्यार की विकृति ही है और आत्मस्वरूप की विस्मृति ही है।

आलस्य अथवा प्रमाद — तभी उत्पन्न होता है जब मनुष्य में मिथ्या सन्तोष (Complacence) की भावना हो, अथात् यह भावना हो कि उसकी प्यारी वस्तु उसे प्राप्त है। आलस्य का दूसरा कारण यह है कि मनुष्य समझता है कि मुझे कोई प्यार एवं सम्मान (Recognition & Appreciation) तो देता नहीं, अत: यह भी करने की क ज़रूरत नहीं है। प्यार न मिलने पर मनुष्य रूठ जाता है और रूठने के परिणामस्वरूप सुस्त हो जाता है। अत: यह भी परोक्ष या अपरोक्ष रीति से प्यार ही का विकृत रूप है जो कि मनुष्य में उदासी, निराशा, रुष्टता इत्यादि की वृत्ति पैदा करता है। आलसी मनुष्य की हंसी भी खोखली होती है, उसका अन्त उदासी ही है।

इर्ष्या — इसके पीछे मनुष्य की यह इच्छा होती है कि लोग मुझ से अधिक प्यार करें। उदाहरण के तौर पर जब बड़ा बच्चा देखता है कि माँ छोटे बच्चे से ज्यादा प्यार करती है तो उसे छोटे भाई से ईर्ष्या हो जाती है। जब मनुष्य देखते हैं कि धन वालों को अधिक मान और प्यार मिलता है तो वे किन्हीं को अपने से अधिक धन या मान मिलते देखकर उनसे ईर्ष्या करने लगते हैं। यह ईर्ष्या भी अपने ही से प्यार का परिणाम है अथवा दूसरों से अधिक प्यार पाने की इच्छा की अपूर्ति का परिणाम है। ईर्ष्या वाले मनुष्य के मन में सदा डाह और दाह बने रहते हैं, दिल और दिमाग़ सदा गर्म रहते हैं और वह तना तथा भुना हुआ सा रहता है। अत: यह भी विकार है जो मान, शान, धन पदार्थ इत्यादि के प्रति लोभ अर्थात् ग़लत प्यार वाले मनुष्य के मन में तब पैदा होता है जब वह दूसरे के पास ये चीज़ें अपने से ज्यादा देखता है। इस विकार से उसके मन में द्वेष पैदा होता है और उस से ही बहुत से दोष तथा रोष पैदा होते हैं।

भय — प्रिय वस्तु के छिनने अथवा प्रिय व्यक्ति से बिछुड़ने के संकल्प से ही

मनुष्य के मन में भय पैदा होता है। तन में रहते-रहते आत्मा का अपने शरीर से भी इतना प्यार, मोह अथवा लगाव पैदा हो जाता है कि इसे हानि होने की आशंका में भी उसे भय होता है। भय से मनुष्य के होश भी उड़ जाते हैं और हाथों के तोते भी। भयभीत हुआ मनुष्य भय से मंक्ति पाने के लिये अच्छे या बुरे, धर्म या अधर्म सत्य या असत्य की पहचान को भूलकर, कुछ भी अनिष्ट, अनृत्य, अकृत्य करने को उद्यत हो जता है। अत: यह भी उसके पतन का कारण बनता है।

चिन्ता — प्रिय से मिलने की, प्रिय को अर्जित करने की तथा प्रिय से संपर्क बनाये रखने की जो भावना है, यही चिन्ता का रूप लेती है। चिता तो मनुष्य की देह को जलाती है परन्तु चिन्ता मनुष्य के साहस को, उत्साह को, विवेक को, स्मरण-शक्ति को तथा खुशी को जला कर राख कर देती है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि सभी विकार प्यार ही की विकृति के रूपान्तर हैं। अत: भोगी तथा योगी में यह अन्तर है कि भोगी का प्यार विषयों, पदार्थो एवं देह-धारियों से होता है परन्तु योगी प्रभु की स्मृति में लवलीन रहता है, उसकी अनन्य प्रीति एक ज्योति-बिन्दु परमात्मा ही से बनी रहती है। इसलिए वह सदा एकरस रहता है।

प्रभु-प्रीति के द्वारा ही नैतिक उत्थान सम्भव

आज शिक्षा-शास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाज-सेवक तथा बच्चों के अभिभावक एवं संरक्षक - सभी चाहते हैं कि बच्चों का, युवा पीढ़ी का अथवा समूचे देशवासियों का चारित्रिक उत्थान हो अथवा उनका नैतिक कल्याण हो। धार्मिक प्रचारक भी यह चाहते हैं कि मनुष्य विषय-विकारों से छूटें। परन्तु जब तक मनुष्य की प्रीति प्रभु से न हो तब तक येनहीं छूट सकते। अतः मनुष्य को चाहिये कि प्रभु से प्रीति जोड़े। प्रभु से प्रीति जोड़ने वाले मनुष्य के मन में आवेगात्मक क्षोभ (Emotionalll disturbances) नहीं हेते और उसके मन में काम, क्रोध और लोभ इत्यादि उपरोक्त मनोविकार शान्त हो जाते हैं। विकारों पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र उपाय योग है क्योंकि जिस प्यार ने पहले 'विकार' रूप धारण किया था, वह योग में प्रभुप्रीति का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार, योग एक मनोवैज्ञानिक औषधि है जिससे मनुष्य को मानसिक सन्तुलन (Mental Equilibrium) प्राप्त हुआ रहता है और वह जीवन में प्रेम का अभाव नहीं पाता और निराशावादी भी नहीं बनता।

प्रभु-प्रीति ही आध्यात्मिक पुरुषार्थ की नींव

ऊपर हम स्पष्ट कर आये हैं कि भोगी में यह मुख्य अन्तर अळे कि भोगी का प्यार

गुमराह हुआ-हुआ (Misplaced) होता है अथा ग़लत (Misdirected) होता हैं परन्तु योगी की प्रीति प्रभु से जुड़ी होने के कारण, उसका प्यार आत्मिक, सीमा रहित, एक-रस और पवित्र होता है। अब हम यह स्पष्ट करने का यत्न करेंगे कि केवल योग ही नहीं बल्कि समूचा आध्यात्मिक पुरुषार्थ प्रभु-प्रीति ही पर आश्रित है। इस पर विचार करने पर आप इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि प्रभु-प्रीति के बिना तो आध्यात्मिक पुरुषार्थ का एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। आध्यात्मिक पुरुषार्थ के ये चार ही तो अध्ययन-विषय (Subjects) हैं - (१) ईश्वरीय ज्ञान (२) सहज राजयोग (३) दिव्य गुणों की धारणा तथा (४) दूसरी आत्माओं की ज्ञान एवं योग द्वारा सेवा। आप देखेंगे कि इन चारों की जीवन-शक्ति (Life force) प्रभु-प्रीति ही है।

(१) ईश्वरीय ज्ञान : भक्ति और ज्ञान में यही मुख्य अन्तर है कि यद्यपि भक्त में भी प्रभु-प्रीति तो होती है, तथापि उसे प्रभु का स्पष्ट एवं यथा-सत्य परिचय नहीं होता। अब ज्ञान उसे यह बताता है कि प्रभु कौन हैं जिनसे कि मन का नाता जोड़ना है। ज्ञान मनुष्य की भ्रान्ति एवं अन्धविश्वास को समाप्त करते हुए उसे एक प्रभु से अनन्य प्रीति जुटाने का संकेत करता है। ज्ञान के बिना मनुष्य प्रकृति के पदार्थों से, देवी-देवताओं से, तथाकथित गुरुओं और महात्माओं से प्रीति जोड़ लेता है, और, इसके परिणामस्वरूप फँस जाता है। अत: भगवान् ज्ञान देते हुए कहते हैं – "मैं सभी पुरुषों से उत्तम (पुरुषोत्तम) हूँ, सभी देहधारियों से श्रेष्ठ हूँ और मैं ही वास्तविक योग सिखाने वाला तथा पापों से मुक्त करने वाला हूँ, अतः, हे वत्स, तू एक मेरी शरण में आ, मुझ ही से प्रीति जोड़।" लगता है कि पतंजलि ने भी इसीलिये अपने योग-सूत्रों में बताया है कि - "परमात्मा एक पुरुष विशेष है" और कि "वह गुरुओं के भी आदि गुरु हैं।" स्पष्ट है कि ज्ञान का उद्देश्य ही प्रभु परिचय देकर प्रभु-प्रीति की पराकाष्ठा लाना है।

इसके अतिरिक्त, ज्ञान हमें प्रभु-प्रीति की रीति अथवा प्रभुमिलन के लिये मार्ग भी सुझाता है। प्रभु से थोड़ी-बहुत प्रीति तो प्राय: हरेक मनुष्य के मन में होती ही है, तभी तो लोग यज्ञ, तप, पूजा,-पाठ, यात्रा-यत्न करते हैं, परन्तु ज्ञान मनुष्य को यह भी प्रकाश देता है कि इनमें से सही एवं सर्वोत्तम तरीका 'योग' है।

ज्ञान हमें यह भी प्रकाश देता है कि मनुष्य-जीवन का लक्ष्य क्या है और उसकी सिद्धि कैसे होगी। ज्ञान के बिना लक्ष्यहीन मनुष्य दैहिक नातों एवं सम्बन्धों के प्यार में ही जीवन की समाप्ति कर देता है। ज्ञान हमें यह सुझाता है कि प्रभु से प्रीति का नाता तोड़ने से संसार के सभी सम्बन्धों में विषमता आ गयी है और, इसलिए तनाव, मन-मुटाव घराव, पथराव, स्वभाव का टकराव या प्रकृति में लगाव इत्यादि के द्वारा यहाँ दु:ख बढ़ा

है। मनुष्य अब जीवन के लक्ष्य को जानकर ही प्रभु-प्रीति द्वारा इस जीवन में भी सुख पाता है और भविष्य में भी।

अत: स्पष्ट है कि आत्मोन्नति के लिए 'ज्ञान' नाम से जो अध्ययन-विषय है, उसकी सारी सामग्री, उसका पूरा विस्तार परमात्मा का परिचय देकर प्रभु-प्रीति को सही दिशा-निर्देश देने केक लिए ही है।

२. योग – योग के प्रसंग में तो हम पहले-से बता चुके हैं कि 'योग' आत्मा और परमात्मा के मिलन का नाम है और प्यार के बिना तो मिलन के लिये न कोई चेष्टा करता है और न ही मिलन में रस होता है। अत: प्रभु-प्रेम के बिना तो योग असम्भव है अथवा ऐसे निर्जीव है जैसे प्राण के बिना शरीर।

हम यह भी स्पष्ट कर आये हैं कि जिस से प्यार हो, उसकी स्मृति तो मनुष्य के मन में स्वत: बनी रहती है। अत: प्रभु-प्रीति ही से प्रभु-स्मृति टिक पाती है और ईश्वरीय स्मृति में स्थिति ही का नाम तो 'योग' है। अत: प्रभु-प्रीति के बिना तो योग सिद्ध ही नहीं हो सकता।

३. दिव्य गुणों की धारणा – मनुष्य में दैवी सम्पदा भी तो सर्व गुणों के भण्ड़ार परमपिता परमात्मा से योग-युक्त होने से ही प्राप्त हो सकतीक है। इसलिए तो सत्संग (परमात्मा के साथ बुद्धि का संग, अर्थात् योग) की महिमा है। बाप (परमात्मा) के समान बनने के लिए बाप से प्रीति भी तो आवश्यक है। मनुष्य को देवता अथवा नर को श्री नारायण बनाने वाला तो देवाधिदेव एक परमपिता परमात्मा ही है। अत: उनसे जब प्रीति हो तभी बुद्धि सतोगुणी होगी अथवा 'पत्थर से पारस' या 'ठिक्कर से ठाकुर' बनेगी और तभी मनुष्य देव-समान बन सेकेगा।

४. ईश्वरीय सेवा – जिस मनुष्य की लग्न अर्थात् प्रीति परमपिता परमात्मा से होगी, वही तो दूसरों को भी परमात्मा का परिचय देगा। उसके तो मुख से सदा प्रभु ही के गुणों की महिमा होगी। उसके शब्दों का दूसरों पर प्रभाव भी पड़ेगा क्योंकि वह सच्चे मन से महिमा करेगा। जिस से प्रीति हो उसका नाम ऊंचा करने के लिये तो मनुष्य सब प्रकार का त्याग करने को तैयार होता है; अत: जिसकी प्रीति प्रभु से होगी, वह जीवन से बुराई का त्याग करके अपने पवित्र जीवन के द्वारा भी दूसरों को प्रभावित करके उन्हें अच्छे मार्ग पर लगाने की सेवा के लिये निमित्त बन सकेगा।

५ मार्ग और लक्ष्य – इस प्रकार स्पष्ट है कि मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन की प्रगति भी प्रभु-प्रीति ही पर आधारित है। उसके पुरुषार्थ का मार्ग जो कि 'शुध्द प्रवृत्ति' के नाम से ज्ञात है, वह भी शुद्ध प्रीति ही पर आधारित है और उस मार्ग द्वारा जहाँ

पहुँचना है, वह लक्ष्य-'जीवन्मुक्ति' भी शुद्ध प्रीति पर आधारित हैं। 'शुद्ध प्रवृत्ति' का अर्थ ही यह है कि पिता-पुत्र, राजा-प्रजा, भाई बान्धव, पति-पत्नि इत्यादि सम्बन्धों को न छोड़ा जाय परन्तु आज उनमें जो मोह है, अथवा किन्हीं सम्बन्धों में जो काम विकार है, उसे छोड़ा जाय तथा उसके स्थान में शुद्ध प्यार हो। यह प्यार तो तभी हो सकता है जब पहले मनुष्य का प्रभु से प्यार हो ताकि उसका मन पवित्र हो। पुनश्च, जब सतयुग में इस संसार में जीवन्मुक्ति लोग होते हैं तब तो शेर और गाय भी एक घाट पानी पीते हैं अर्थात् ऐसे पशुओं में भी परस्पर प्यार होता है और राजा प्रजा में भी मर्यादा एवं स्नेह होता है। ऐसा जीवन्मुक्त सतयुगी समाज भी तभी स्थापित होता है, जब कलियुग के अन्त में मनुष्य परमात्मा से प्रीति जोड़ते हैं।

जीवन में परिवर्तन

आप देखेंगे कि जीवन को पतित से पावन, विकारी से निर्विकारी तथा भोगी से योगी बनाने का जो पुरुषार्थ है, वह बहुत हद तक प्रभु-प्रीति पर आधारित है। उसके लिए प्राय: यह कहा जाता है कि मनुष्य अपने जीवन में त्याग की भावना लाये। परन्तु मनुष्य त्याग तो प्यार ही के आधार पर करता है। जब प्रभु की प्रीति में उसका मन जुट जाता है तभी तो वह लोकलाज, कलियुगी कुल की मर्यादा (आसुरी मर्यादा), मान-अपमान का विचार, फैशन और चस्के एवं स्वाद का त्याग करता है।

अन्य लोग कहते हैं कि ईश्वरीय मार्ग में दृष्टि और वृत्ति को पवित्र करना ज़रूरी है। परन्तु हम पिछले पृष्ठों में बता आये हैं कि दृष्टि और वृत्ति तो तभी विकृत होती है, जब मनुष्य का प्यार विकृत होता है अर्थात् जब उसका प्यार काम, क्रोध, लोभ या मोह का रूप धारण कर लेता है। अत: यदि मनुष्य की प्रभु से प्रीति होती है, तो स्वाभाविक है कि मनुष्यों से भी उसका शुद्ध प्यार होता है, जिसका भाव यह कहुआ कि उसकी दृष्टि-वृत्ति भी शुद्ध हो जाती है।

कई सबार यह भी कहा जता है कि निराकार, निरहंकार और निर्विकार स्थिति ही पुरुषार्थ का सार है। परन्तु हम यह तो बता ही आये हैं कि काम, क्रोध आदि सभी विकार तथा अहंकार दैहिक प्रेम से पैदा होते हैं और प्रभु-प्रीति से ही ये विकार शान्त होते हैं। फिर, चूँकि परमात्मा निराकार है, अत: उनकी प्रीति तथा स्मृति से हमारी स्थिति निर्विकार के अतिरिक्त निराकार अर्थात् विदेह-स्थिति होती है।

यह भी कहा जा सकता है कि 'मरजीवा जन्म' लेने से ही मनुष्य के जीवन में परिवर्तन आता है। परन्तु 'मरजीवा जन्म' लेने का भाव भी तो यही कहै कि देह के सर्व

सम्बन्धों में से प्रीति को निकाल कर एक परमात्मा, परम सखा, परम सद्‌गुरु परमात्मा ही से सर्व सम्बन्ध जोड़े जायें, अर्थात् सर्व सम्बन्धों में होने वाली प्रीति एक प्रभु ही पर केन्द्रित की जाय।

आप देखेंगे कि आध्यात्मिक पुरुषार्थ में मनुष्य के मार्ग में जो विघ्न आते हैं, वे भी प्रीति ही से सम्बन्धित होते हैं। मनुष्य जब प्रभु से प्रीति लगाता है तो उसके नातेदार सोचते हैं कि शायद यह हमें छोड़ देगा। इसलिये वे रुकावटें डालने लगते हैं। या तो मनुष्य का अपना मन पिछली प्रीतियों अर्थात् काम वाले सम्बन्ध, अथवा मोह वाले सम्बन्धों के प्रति पुन: आकर्षण अनुभव करता है। या ऐसा भी होता है कि उसका अपनी ही देह से प्यार (लगाव) होता है और उसके रोग अथवा अन्य किसी कठिनाई के कारण वह योग इत्यादि में विघ्न अनुभव करता है।

इस प्रकार, यह बात निस्सन्देह है कि मनुष्य का समस्त आध्यात्मिक जीवन ही प्रभु-प्रीति पर टिका है। प्रभु-प्रेम ही ऐसा जादू है जिससे मनुष्य के मन का सांसारिक विषय-विकारों से उठाव और प्रभु के आनन्दमय स्वरूप में जमाव सहज सम्भव होता है। 'नष्टोमोहा:' एवं 'स्मृतिलब्ध' स्थिति की नींव प्रभु-प्रीति की आधारशिला ही पर स्थित हैं। अत: प्रभु-प्रीति से बढ़कर संसार में न कोई भक्ति है न शक्ति, न कोई यात्रा है न यत्न। प्रभु-प्रीति के बिना तो अध्यात्म के सारे साधन बन्धन मात्र हैं; वे निर्जीव देह की भांति चेतना विहीन हैं। प्रभु-प्रीति ही ऐसी रुचि-उत्पादक एवं प्रेरक शक्ति (Motivating force) है जो मन को, प्रयास के बिना ही, प्रभु की ओर मोड़ देती है। जैसे पृथ्वी में भी हरेक चीज़ को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति है, चुम्बक में भी लोहे के लिये आकर्षण है वैसे ही आत्मा की आकर्षण शक्ति का नाम 'प्रेम' है। प्रेम प्रभु से मिलाने वाला साधन है, यही योगी का धन है।

प्यार पैदा करने वाले कारण

हमने यह बात तो संक्षेप में स्पष्ट कर दी है कि प्रभु-प्रीति ही योगी की कुँजी है अब जिन लोगों का मन प्रभु की लग्न में मग्न नहीं होता, उन्हें यह जानना जरूरी है कि उनका मन प्रभु-प्रीति में क्यों नहीं टिकता।

आप देखेंगे कि संसार में मुख्यत: सात कारण से मनुष्य के मन में प्रेम, प्यार अथवा आकर्षण पैदा करने वाले होते हैं वे हैं - (१) सम्बन्ध (२) सौन्दर्य (३) सुखदायक व्यक्ति (४) सहयोगी या सहकारी (५) सहानुभूति (५) सहानुभूति वाला व्यक्ति (६) रचना (७) गुणवान व्यक्ति।

जहाँ सम्बन्ध हो वहाँ प्यार अथवा प्रेम होना स्वाभाविक ही है। माता-पुत्र, पति-पत्नि सखा-सखा, भाई-भाई ये सभी सम्बन्ध ही हैं जो प्रेम के विभिन्न प्रकारान्तर अथवा रूपान्तर पर टिक हुए हैं। कहावत भी है कि अपने और पराये में सदा अन्तर होता है। (Blood is thicker than water.) जिनसे मनुष्य का सम्बन्ध हो उन्हीं की याद उसे आया करती है और उन्हीं के प्रति ही उसका थोड़ा-बहुत समर्पण-भाव रहता है। अत: यदि यह बात मनुष्य की बुद्धि में स्पष्टत: ही बैठ जाय की परमात्मा तो आत्म के माता-पिता, सखा-बन्धु, नहीं-नहीं, बल्कि सर्वस्व है; तब तो मनुष्य का परमात्मा से सौ गुणा प्यार होगा। पिता-पुत्र में सखा-सखा में, बहन-भाई में सजनी और साजन में जो प्यार होता है, वह प्यार तथा अन्यान्य सभी सम्बन्धों के प्यार को यदि इकट्ठा किया जाय तो मनुष्य को उससे भी अधिक प्यार परमात्मा से हो जायेगा क्योंकि सांसारिक लोगों के साथ तो हमारे दैहिक, नश्वर एवं एकांगी नाते हैं जबकि आत्मा का एक सच्चा मीत तो परमात्मा है।

परन्तु, आज मनुष्य के मन में इतना प्यार नहीं है, कारण यह है कि शैशवस्था में ही यह पहचान तो हरेक को मिलने लगती है कि अमुक व्यक्ति उसके पिता हैं, अमुक उसकी माता, फलाँ उसके भाई हैं और अन्य उसकी बहन, परन्तु किसी भी समय यह तो कोई उसे बताता ही नहीं कि ये सभी सम्बन्ध तो माटी के हैं, आत्मा का सच्चा नाता तो ईश्वर से है। यह परिचय मिलना तो एक ओर रहा, आज तो बड़ा होने पर मनुष्य को यह उल्टा ज्ञान दिया जाता है कि परमात्मा है ही नहीं, या कि आत्म स्वयं ही परमात्मा अथवा उसका अंश है, या परमात्मा के बारे में उसे इतने मत एवं वाद सुनाये जाते हैं कि वह इस विषय को ही विवादास्पद (Controversial) एवं एक प्रकार का झमेला मान लेता है। ऐसी स्थिति में उसके मन में परमात्मा के लिये घृणा पैदा की जाती है कि ''संसार में जो-कुछ (चोरी-चकारी, दु:ख-दारिद्रय) हो रहा है, सब परमात्मा ही की प्रेरणा से हो रहा है, यह सृष्टि (जिसमें साँप और नेवला, बिल्ली और चूहा जन्मजात शत्रु हैं) परमात्मा ने ऐसी ही पैदा की थी और यह शुरू से ऐसे ही (दु:खपूर्ण अवस्था में) चली आयी है। मनुष्य इस प्रकार की बातों को सुनकर सोचने लगता है कि परमात्मा ने तो हमें बन्धन में, विषय-विकार और दु:ख वाली दुनिया में भेजा है, तब ऐसे परमात्मा को क्या याद करना !

तो एक ओर परमात्मा के बारे में ये सभी घृणोत्पादिक बातें और दूसरी ओर परमात्मा को माता-पिता, सखा-स्वामी बताते हुए भी उसके निश्चित परिचय का अभाव और, तीसरी ओर, उस माता-पिता को साँप छछूँदर, मगरमच्छ और सुअर सभी में

व्यापक मानना - ये सब तो मानव के मन को परमात्मा से विप्रीत बुद्धि बनाने वाले सिद्धान्त हैं। इन सभी को सुनकर मन स्वाभाविक रीति से परमात्मा में स्थिर हो ही नहीं सकता।

अत: योगाभिलाषी के मन में सबसे पहले तो यह निश्चय होना चाहिये कि परमात्मा हमारे माता-पिता हैं, वह सुख-दाता हैं; उन्होंने सुखपूर्ण सतयुगी, पतित अवस्था में ला खड़ा किया है और कि परमात्मा तो दु:ख एवं अशान्ति से मुक्त कराने वाले तथा मार्ग-प्रदर्शक हैं न कि दु:ख- मार्ग पर भेजने वाले। तभी तो मन में प्रीति होगी, प्रीति के फलस्वरूप स्मृति होगी और स्मृति अथवा लग्न मन को मग्न कर सकेगी। वर्ना यदि कोई व्यक्ति यह माने कि आत्मा स्वयं ही परमात्मा है, तो उनके अचेतन मन (Unconscious mind) में यह भाव बना रहेगा कि- ''मैं स्वयं ही तो परमात्मा हूँ, तब योग किससे लगाना है?'' 'योग' का अर्थ तो 'मिलाप' है और मिलाप तो दो में होता है। अत: यदि कोई आत्मा को ही परमात्मा मानता है तब तो योग का मूल ही कट जाता है। प्रीति भी किसी-न-किसी सम्बन्ध के आधार पर ही होती है और प्रीति ही तो स्मृति को देने वाली है। तो निश्चय यह हुआ कि योगाभिलाषी को पहले तो अपने मन में यह दृढ़ निश्चय होना चाहिये कि परमात्मा मेरे परमप्रिय माता-पिता, स्वामी-सद्गुरु, सखा एवं मीत हैं; उन्हीं की कृपा से घनेरे सुख हैं।

परमात्मा हमारे परम प्यारे 'परमपिता' किस अर्थ में है

कुछ लोग पूछते हैं कि आत्मा तो अनादि और अविनाशी है; तब परमात्मा को 'पिता' किस अर्थ में कहा जाता है? इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'पिता' शब्द केवल शारीरिक जन्म देने वाले व्यक्ति के लिये प्रयोग नहीं होता बल्कि अन्य अर्थों में भी इसका प्रयोग है। उदाहरण के तौर पर किसी धर्म (मत) के स्थापक को 'धर्म-पिता' कहा जाता है। परमपिता परमात्मा भी धर्म की अत्यन्त ग्लानि के समय संसार में अवतरित होकर दैवी धर्म की पुन: स्थापना करते हैं; इस अर्थ में वे सभी मनुष्यात्मों के परमपिता हैं क्योंकि अन्ततोगत्वा वे ही कल्पान्त में अथवा कल्पादि में उनको सत्य धर्म, दैवी धर्म अथवा स्वधर्म में स्थित करते हैं।

इसके अतिरिक्त, जो व्यक्ति ज्ञान अथवा विज्ञान के किन्हीं अज्ञात सिद्धान्तों को स्थापित करता है, उसे भी 'पिता' कहा जाता है। उदाहरण के तौर पर न्यूटन को 'विज्ञान का पिता' (Father of science) कहा जा सकता है क्योंकि उसने मौलिक एवं महत्वपूर्ण वैज्ञानिक नियमों को स्थापित किया। परमात्मा ईश्वरीय ज्ञान एवं विज्ञान (योग) तथा कर्म सिद्धान्त से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं लुपत्-प्राय: नियमों का संस्थापन

करते हैं, इस दृष्टिकोण से भी वे मनुष्यमात्र के आध्यात्मिक परमपिता हैं!

पुनः, किसी नगरपालिका के महापौर को भी प्राय: 'नगर पिता' (City-Father) कह दिया जाता है क्योंकि वह नागरिकों में से मुख्य है और उनके स्वास्थ्य एवं स्वच्छता, प्रकाश इत्यादि का प्रबन्ध कुशलतापूर्वक करता है तथा इन बातों में पूर्णधिकारी (Authority) है। इसी प्रकार, परमात्मा सारे जगत के परमपिता है क्योंकि आत्माओं को स्वच्छ करने की क्षमता (Supreme Authority), पुरुषों में उत्तम उस पुरुषोत्तम ही को है।

पुनश्चः, किसी देश में जब कोई व्यक्ति सर्वमहान कर्त्तव्य करते हुए नये, स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण करता है तो उसको भी 'राष्ट्रपिता' कहते हैं जैसे कि महात्मा गांधी को देश को स्वतन्त्र कराने के कारण 'बापू गांधी' अथवा 'राष्ट्रपिता' के नाम से भी लोग जानते हैं। इसी प्रकार, परमात्मा भी कल्पान्त एवं कल्पादि के संगम काल में सारे विश्व को काम-क्रोधादि मनोविकारों से तथा दु:ख एवं अशान्ति से स्वतन्त्र करके नये, सतयुगी, दैवी स्वराज्य वाले विश्व की स्थापना कराते हैं। अत: इस विचार के अनुसार भी वे 'विश्व-पिता' हैं।

अन्यश्च, जो व्यक्ति किसी को गोद लेकर उसे अपना धर्म का पुत्र (Adopted Son) निश्चय करता है, वह भी 'पिता' ही कहलाता है। वह उस पुत्र को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकार देता है। इसी प्रकार, सुख तथा शान्ति का ईश्वरीय जन्म-सिद्ध अधिकार (Birth Right) देते हैं। अतएव वे भी मानवमात्र के परमप्रिय परमपिता हैं, जिन्हें लोग 'सुखदाता' एवं 'शान्तिदाता' मानते हैं।

फिर, किसी गिरिजाघर में धार्मिक शिक्षा देकर आत्मिक उन्नति का उत्तरदायी व्यक्ति भी 'फादर' (Father) कहलाता है। प्राचीन काल में ऋषिकुलों में रहकर पढ़ने वाले छात्र अपने शिक्षा-दाता एवं अभिभावक को कुलपित या 'कुलपिता' भी कहते थे; इसी प्रकार परमात्मा भी मानव समाज को ईश्वरीय ज्ञान द्वारा या आत्मिक पुनर्जीवन (Spiritual Rejuvenation) देने के कारण सभी आत्माओं के 'पारलौकिक परमपिता' कहलाते हैं।

याद रहे कि 'जन्म' केवल कोख वाले 'जन्म' को ही नहीं कहते हैं बल्कि शारीरिक जन्म के अतिरिक्त मनुष्य का 'बाद्धिक जन्म', 'नैतिक जन्म', 'आध्यात्मिक जन्म', 'राजनीतिक जन्म' इत्यादि अन्य अनेक प्रकार के जन्म भी होते हैं। उदाहरण के तौर पर जो व्यक्ति किसी दूसरे को राजनीति में प्रशिक्षण देता तथा, उसे राजनीति के क्षेत्र में सक्रिय करता है, दूसरा व्यक्ति उस प्रथम को अपना राजनैतिक पिता (Plitical

Father) मानता है। ठीक इसी प्रकार, परमात्मा शिव कल्पान्त में प्रजापिता ब्रह्मा के तन में अवतरित होकर मानव मात्र को ब्रह्मा-श्रीमुख द्वारा ईश्वरीय-ज्ञान एवं राजयोग की शिक्षा देकर उसे आध्यात्मिक जीवन प्रदान करते हैं। गोया यह जन्म ब्रह्मा-मुख द्वारा होता है। इसी कारण, 'द्विज' (दूसरा जन्म लेने वाला) शब्द प्रसिद्ध है। इसी अर्थ में परमात्मा भी मनुष्यात्माओं के परमपिता हैं।

इसी तरह, परमात्मा को माता, सद्‌गुरु, परमशिक्षक सखा इत्यादि सम्बन्धों से भी याद किया जाता है। यदि मनुष्य की बुद्धि में यह बात गहरी तरह बैठ जाय कि परमात्मा ही आत्मा का सर्वस्व है,श् तब निश्चय ही प्रभु से उसकी प्रीति होगी और स्मृति भी तथा योग में स्थिति भी।

२. सौन्दर्य

सम्बन्ध के अतिरिक्त, सौन्दर्य भी मनुष्य के मन में प्यार पैदा करता है। यह सौन्दर्य रूप-रंग का भी हो सकता है, चरित्र का भी अथवा किसी अन्य कला (वाद्य कला, नृत्य कला) से सम्बन्धित भी। परन्तु, सौन्दर्य के विषय में हम पहले ही बता आये हैं कि स्थायी एवं सर्व प्रकार का सौन्दर्य तो एक परमात्मा ही में है। संसार में जब कोई व्यक्ति सुन्दर मालूम होता है तो मानव का मन उसे पाने, अपनाने या स्वयं ही उसका हो जाने की चेष्टा करता है। वह उसके रूप पर मुग्ध हो जाता है। इसी प्रकार, यदि मनुष्य को यह ज्ञात हो जाय कि संसार के सारे सौन्दर्य का सार एक परमात्मा ही में है और उसके रूप को काल, कण्टक, कष्ट, कुभाव एवं काम छूते तक नहीं तो वे उस 'मनमोहन' के रूप-लावण्य को जानकर उससे प्रीति किये बिना नहीं रह सकेंगे। खेद की बात है कि मनुष्य शारीरिक सौन्दर्य पर लट्टू होकर अपना सर्वस्व लुटा देता है अथवा जीवन को भी भेंट दे देता है और निशि दिन अपनी प्रियतमा की मोहब्बत का राग अलापता तथा सुनता रहता है। परन्तु, परम-सुन्दर परमात्मा को न जानने के कारण एक बार उसे अपने जीवन की भेंट नहीं देता, जी और जान से उसका नहीं हो जाता, उस ही की प्रीति के अव्यक्त गीत निशि दिन नहीं गाता। जिससे कि सर्वस्व की प्राप्ति होती है। यदि मनुष्य को ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो जाय तो उस द्वारा वह प्रभु का अलौकिक सौन्दर्य देखकर उस प्रियतम पर भी 'आशिक' हुए बिना नहीं रह सकेगा। संसार में सुन्दर व्यक्ति के साथ नर और नारी का जो प्यार होता है, वैसे तो 'अन्धा' (Love is blind) कहा जाता है, परन्तु परमसुन्दर परमात्मा के साथ जो प्यार है वह तो अन्तर्दृष्टि प्रदान करने वाला बुद्धि के चक्षु को खोल देने वाला, दिव्य नेत्र का वरदान देने वाला अथवा मन का मोतिया दूर करने

वाला प्यार है जिसमें मनुष्य आपे से खोया नहीं जाता बल्कि अपने को पा लेता है।

पुनश्च, अन्य सभी कलायें तो मनमोहक होती हैं, परन्तु, परमात्मा को तो अनन्त कलाओं को भण्डार कहा गया है। उससे प्रीति जोड़ने वाला मनवा तो खुशी से ऐसे नाच उठता है कि उसके जैसा नृत्य दूसरा नहीं होता। उसका जीवन तो ऐसा संगीतमय हो जाता है कि उस-जैसा दूसरा संगीत नहीं होता। कला और कौशल तथा कल्याण और सुन्दर काया तथा योग और क्षेम देने वाला एक परमात्मा ही है; उसके बिना तो ये सभी चट हो जाते हैं।

सुखदायक, सहयोगी तथा सहानुभूति वाला

जैसे सुन्दर व्यक्ति एवं वस्तु प्यारे होते हैं, वैसे ही सुखदायक व्यक्ति तथा सहयोगी एवं सहकारी के प्रति भी मनुष्य के मन में प्यार पैदा होता है। यदि कोई व्यक्ति आड़े समय में हमारा हाथ बटाये, डूबे हुए को निकाल ले, मरते हुए को बचा ले, किसी की भूख-प्यास मिटा दे, किसी भी प्रकार ही सहायता करे अथवा सहानुभूति करे एवं मन का हाल लेकर मदद करे तो उसके प्रति मनुष्य स्वयं को कृत्कृत्य मानता है, तथा उस पर अपना जीवन भी न्योछावर करने को तैयार हो जाता है। ठी इसी प्रकार, यदि मनुष्य को ज्ञात हो कि कलियुग के अन्त में जब सभी की जीवन-नाव विषय-नाव विषय-विकारों में डूब रही होती है, जब सबका आत्मन् दु:ख-दरिद्रता अथवा विकार-तृष्णा से पीड़ित होकर मर-सा रहा होता है, तब परमपिता परमात्मा स्वयं अवतरित होकर जीवन-नैया को उबारते और योग तथा सहयोग द्वारा मुक्ति एवं जीवन्मुक्ति देते हैं, तो ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता जिसकी प्रीति प्रभु से न जुटे।

७. रचना एवं गुणवान के साथ प्रीति

हम उपरोक्त पाँच कारणों के अतिरिक्त यह बता आये हैं कि प्रीति जगाने का छठा कारण...होता है...रचना-रचयिता सम्बन्ध है। रचना का अपने रचयिता से प्यार होता ही है। यही तो कारण है कि पुत्र का माता-पिता से, पत्नी का पति से तथा मनुष्य को अपने मकान, सामान तथा अन्य कृतियों एवं रचनाओं से भी प्यार होता है। ठीक, इसी प्रकार, यदि मनुष्य इस वृत्ति का दिशा-परिवर्तन करते हुए कलियुगी बच्चे की बजाय सतयुग में श्रीकृष्ण के समान बच्च पाने की चेष्टा करे अथवा सतयुग में नारायण जैसा पति पाने का मनोरथ तो इस कलियुगी अपवित्र गृहस्थी से उसका मोह नष्ट हो जायेगा और उसकी प्रीति प्रभु से जुट जायेगी क्योंकि श्रीकृष्ण के समान सम्बन्धी तो तभी मिल सकते हैं जब मनुष्य परमात्मा से योग-युक्त होकर मनुष्य से देवता बने।

इसके अलावा, हम देखते हैं कि मनुष्य का मन स्वत: ही गुणवान व्यक्तियों की ओर आकर्षित होताहै। जिसका स्वभाव सरल एवं मधुर हो, जो नम्र-चित एवं सदा हर्षितमुख हो, जो सन्तोषी एवं स्नेही हो, उससे हमारा भी स्नेह होता है। इसके विपरीत जो असहिष्णु एवं आलसी हो या निन्दा एवं चुगली करने वाला हो, उससे हमारा भी प्यार समाप्त होता है। अत: मनुष्य यदि इस बात को ध्यान में रखे कि परमात्मा तो सर्वगुणों का असीम भण्डार है, तो उससे मन की प्रीति जुड़ना स्वाभाविक है।

जो मनुष्य ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु से प्रीति जोड़ लेता है, वही अमृत का भागी बनता है, वह आनन्द रस को चखता है, वह संसार सागर से तर जाता है। जो प्रभु से पराङ्गमुख रहता है, वह इससे वंचित रहता है।

सहज राजयोग की विधि और सिद्धि

कई लोग पूछते हैं कि – ''हम योग का किस विधि अभ्यास करें? हम अपना ध्यान कहाँ टिकायें अथवा अपना मन कैसे एकाग्र करें? हम कौनसा मन्त्र याद करें? क्या हम माला या किसी मूर्ति आदि का भी आधार लेवें?'' वास्तव में लोगों के ये प्रश्न इसलिये उठते हैं कि अब तक 'गुरु' या आचार्य जो योग सिखाते आये हैं, वे योगाभ्यास के लिए किसी-न-किसी मन्त्र या स्थूल चित्र (मूर्ति) का प्रयोग बताते रहे हैं। परन्तु, परमपिता परमात्मा जो सहज राजयोग सिखाते हैं, उसके लिये इन सबकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसका अभ्यास स्वाभाविक और सहज है; उसमें बनावट या दिखावट नहीं है।

क्या मन्त्र या माला की आवश्यकता है?

साधारण विवेक वाला मनुष्य भी इस बात को मानेगा कि अपने किसी प्रिय अथवा निकट सम्बन्धी को याद करने के लिये मनुष्य को किसी मंत्र जप, प्राणायाम, माला या मूर्त्ति की आवश्यकता नहीं होती बल्कि उसके प्रिय की मूर्त्ति तो उसके मन में हरदम होती ही है और वह तो प्रेम रूपी मंत्र से मुग्ध हुआ होता है। अपने पिता की याद के लिये तो छोटा बालक भी पिता की मूर्ति का या उसके लिये किसी मंत्र का प्रयोग नहीं करता और किसी विशेष आसन पर नहीं बैठता। 'मन्त्र' उसे कहते हैं जिस द्वारा मन को त्राण मिले अर्थात् मुक्ति मिले। अत: वास्तव में ईश्वरीय प्रीति तथा स्मृति ही मन्त्र है क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि ''तू मन को मुझमें लगा, मेरी शरण में आ, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा (मन्मनाभव...मामेकं शरणम् व्रज)'' चूँकि यह भगवान की मंत्रणा भी है, इसलिये भी इसे 'महामन्त्र' कहा जा सकता है। इससे ही त्राण मिल सकता है। जब कोई मनुष्य किसी कार्य को करने के अतुल लाभ को जान लेता है और यह भी जान लेता है कि यह ईश्वर की आज्ञा है, इसके बिना उसका कल्याण नहीं होगा तो उसका मन उसे किये बिना रुकता नहीं और उसके लिये वह सब विघ्नों को भी पार करके त्राण पा लेता है। अत: यदि मनुष्य इसी ईश्वराज्ञा को याद रखे कि मुझे प्रभु की स्मृति में स्थित होना है तो उसके लिये यही 'मंत्र' है।

अत: वास्तव में तो परमपिता परमात्मा की याद की किसी कठोर विधि का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि परमात्मा ही तो हम सब आत्माओं का परम सम्बन्धी तथा मन का सच्चा मीत है। यदि उससे हमारी उत्कृष्ट प्रीति हो तो मन कहीं जायेगा ही नहीं क्योंकि परमात्मा ही तो हमारा कल्याण करने वाला तथा पतितों को पावन करके गति और सद्‌गति करने वाला है। अत: उससे प्रीति जुटाने की विधि तो स्वाभाविक व सहज होनी चाहिये क्योंकि सुख और शान्ति से तो हरेक मनुष्य की प्रीति है और सम्पूर्ण सुख तथा शान्ति का दाता अथवा भण्डार तो एक परमात्मा ही है जिसकी ओर हमारा मन स्वत: ही जाना चाहिए। परन्तु, आज चूँकि मनुष्यात्मा को अपने उस परमपिता का परिचय नहीं है और यह भी यथार्थ बोध नहीं है कि परमात्मा मनुष्यात्माओं को सदाकाल के दु:ख तथा अशान्ति से छुड़ाकर पूर्ण सुखी कर देता है, इसलिये उसका मन व्यर्थ चिन्तन करता है और भूले-भटके मुसाफिरों की न्याई कभी इधर तो कभी उधर जाता है।

परन्तु, जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है कि परमात्मा का नाम 'शिव' है, दिव्य रूप 'ज्योति-बिन्दु' है, दिव्य-धाम 'ब्रह्मलोक' है और वह ब्रह्मा, विष्णु तथा शंकर के भी रचयिता तथा हम सभी आत्माओं के मात-पिता अथवा परमपिता हैं, तो उसका मन स्वत: ही उनकी स्नेह-स्मृति में ऐसे स्थित हो जाना चाहिये जैसे किसी प्रेमी का मन अपनी प्रियतमा की स्मृति में एक-टिक हो जाता है। और वह उस तन्मयता की स्थिति में स्वयं को उससे मिलता तथा उससे बातें करता हुआ अनुभव करता है। प्रेमी को तो अपनी प्रियतमा के सिवाय कुछ सूझता ही नहीं। इस प्रकार चलते, फिरते, उठते-बैठते परमात्मा की स्मृति होनी चाहिए। इसीसे मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर के विकर्म दग्ध होंगे और वह पवित्र, हर्ष-युक्त तथा विवेक-युक्त जीवन व्यतीत करते हुए, अन्ते परम सिद्धि को प्राप्त कर लेगा।

परन्तु, फिर भी योग की अग्नि को तीव्र रूप में प्रज्जवलित करने के लिये प्रभु-मिलन के आनन्द को खूब लूटने के लिये योग की अधिकाधिक शक्ति को शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करने के लिये संस्कारों को बदलने तथा कर्म-बन्धनों को जल्दी काटने के लिये तथा अपनी योगावस्था को अधिकाधिक परिपक्व करने के लिये मनुष्य को विशेष रूप से योग का अभ्यास करना चाहिये। इस मनोरथ वाले प्रारम्भिक कोटि के योगाभ्यासियों को जिस प्रकार योग का अभ्यास करना चाहिये, अब हम उसकी थोड़ी रूप-रेखा प्रस्तुत करने से पहले उसके विधान की चर्चा करेंगे।

योग के लिये विधान

१. आसन :- योगाभ्यास के लिये किसी विशेष आसन पर बैठने की ज़रूरत

नहीं है। सहज आसन ही ठभ् है। आप जिस प्रकार भी काफी समय तक कष्ट अनुभव किये बिना बैठ सकें, वैसे बैठ जायें। शरीर को तो हमें भूलना है, बार-बार शरीर की ओर ध्यान देना तो गोया देह चेतस (Body-Conscious) होना है। वास्तव में आसन तो मन का लगाना है। हमारा मन कमल के समान पवित्रता में आसन्न हो तो मानो कि हम पद्म आसन पर टिके हुए हैं।

स्थान :- अभ्यास के लिये वन में जाने की आवश्यकता नहीं बल्कि मन की वृत्ति को वानप्रस्थी बनाने की आवश्यकता है। वन में बन्दर, साँप, शेर इत्यादि होते हैं और वह निर्जन भी होता है। आज यह संसार भी तो मानों एक वृहद् बन ही है; यहाँ आज बहुत-से मनुष्य भी तो साँप की तरह ही हैं; वे काम रूप विष अथवा क्रोध रूप विष द्वारा दूसरों को डसते रहते हैं। वे शेर की तरह अपने से निर्बल व्यक्ति पर हमला करते रहते हैं और उसमें बन्दर की न्याई काम-क्रोध सभी विकार भरे पड़े हैं। अत: जंगल में तो हम बैठे ही हैं। हाँ! जंगल निर्जन होता है वहाँ दौड़, शोर और होड़ नहीं होती। परन्तु, निर्जन स्थान में चले जाने पर यदि मनुष्य के मन में सगे-सम्बन्धी तथा प्रियजनों की याद आती रहे तो उसका मन तो निर्जन हुआ ही नहीं? अत: सारी खूबी तो मन को निर्जन करने की है। इसके लिए तो हमें मन को ब्रह्मलोक में स्थिर करना होगा जो ही वास्तव में निर्जन है; वहाँ न हलचल है, न परिवर्तन, न शोर न शरारत। वहाँ शान्ति ही शान्ति है अत: जंगल में कुटिया बनाकर योग साधने की चेष्टा करने की बजाय तो मन को परमधाम में टिकना ही श्रेष्ठ है। यह भृकुटि भी तो आत्मा के लिए कुटि ही है, तभी तो इसके नाम में भी कुटि शब्द का समावेश है। इस कुटि में तो हम बैठे ही हैं और जंगल में भी हम हैं ही, अब मन को टिकाना है प्रभु पर!

एकान्त :- जंगल में एकान्त तो होता है परन्तु यदि मनुष्य का मन अनेकानेक विषयों तथा व्यक्तियों का चिन्तन करता रहे तो उसके लिये एकान्त न होकर अनेकान्त ही हुआ। इसकी बजाय तो यह अच्छा होगा कि हम अनेकता के बीच होते हुए भी मन को एक प्रभु के अन्त अर्थात् पूर्ण परिचय में टिकायें तो हमारा मन एकान्त में हो ही जायेगा। एकान्तिक स्मृति (Single-minded devotion or remembrance) ही वास्तव में मन की एकान्त अवस्था है; उसी में ही हमें स्थित होना चाहिये। हम कई बार देखते हैं कि कैसे दो बाँसों के बीच बंधे रस्से पर नट सिर के बल चलता है! ढ़ोल बज रहा होता है तथा अनेकानेक दर्शक भी उसे देख रहे होते हैं परन्तु उसका ध्यान उन अनेक व्यक्तियों तथा उनकी अनेक आवाज़ों की ओर न होकर एक रस्से ही पर टिका होता है। अत: हमें भी इसी प्रकार, एक परमात्मा ही की एकान्तिक स्मृति में स्थित होना

है। उसके लिए एकान्त स्थान हो तो बहुत ही अच्छा है, वर्ना प्रयत्न करना चाहिए कि स्थान चाहे कैसा भी हो, हमारे मन को प्रभु का ठिकाना मिला रहे।

नेत्र :- आंखें बन्द करने की भी आवश्यकता नहीं है। आंखें तो वह बन्द करता है जिसे सोना है, सुषुप्ति तो विस्मृति की अवस्था है, जबकि हमें ईश्वरीय स्मृति में सक्रिय होना है। आप देखते हैं कि जब कोई मनुष्य शारीरिक अथवा मानसिक थकान की अवस्था में होता है तो उसके नेत्र बन्द होने लगते हैं। परन्तु, हमें तोअब पहले से भी ज्यादा बौद्धिक सक्रियता की अवस्था धारण करनी है, तब हम आंखें क्यों बन्द करें?आंखें बन्द करने से मनुष्य धीरे-धीरे स्वयं को निद्रा के क्षेत्र में प्रविष्ट प्राता है; अत: नेत्र बन्द करना तो आलस्य (जोकि छठा विकार है) अथवा निद्रा (जोकि तामसिक वृत्ति है) को निमंत्रण देना है। आंखें बन्द करना, अन्ध-विश्वास का भी पर्याय है; परन्तु हमें तो ईश्वरीय ज्ञान कोष मिला है।

पुनश्च, ध्यान देने पर आप इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि नेत्रों की चंचलता का मन की चंचलता के साथ तथा नेत्रों की स्थिरता का मन की स्थरता के साथ गहरा सम्बन्ध है। यही कारण है कि कुछ साधक त्राट करते हैं। वे नेत्रों को काले बिन्दु या पत्थर पर टिका कर मानसिक एकाग्रता प्राप्त करने का यत्न करते हैं। परन्तु, वे नहीं जानते कि ज्योति-बिन्दु आत्मा पर मन टिकाने से नेत्रों में स्वत: ही स्थिरता आ जाती है। अन्य लोग नासिका के अग्र भाग पर या भृकुटि पर नेत्रों को स्थिर करने का अभ्यास सुझाते हैं परन्तु इन कृत्रिम साधनों की आवश्यकता नहीं है। जैसे किसी से बातचीत करते समय हमारे नेत्र स्वाभाविक रीति से खुले रहते हैं, हम उन्हें न खुले रखने का यत्न करते हैं न बन्द करने का, वैसे ही आप नेत्रों को उनकी स्वाभाविक स्थिति में खुला रहने दीजिये। आप उन्हें बन्द करने की चेष्टा ही न कीजिये। यदि आपने बाहर की आँख बन्द कर दी और मन की आँख विषय-व्यक्तियों का चिन्तन करती रही अर्थात् यदि वृत्ति बाहर रही तो क्या लाभ?

आप सोचिये कि हमें तो दिन-भर अपने कार्य-व्यवहार में भी परमपिता परमात्मा की स्मृति में रहने का अभ्यास करना है; तब क्या हम बाज़ार में चलते समय या भोजन करते समय आँखे बन्द कर लेंगे? यदि चलते समय हम आँखे बन्द कर ले तब तो दुर्घटना हो जायेगी और यदि हम खाते समय आँखें बन्द कर लें तब तो हो सकता है कि हमारे भोजन में मक्खी या मच्छर महाराज आ पधारें! दिन-भर हम आँखे बन्द करके सूरदास क्यों बन बैठें? आँखे तो बड़ी 'नेमत' (वरदान) हैं इन्हें बन्द क्यों करे! हमें तो अब तीसरा नेत्र भी मिला है; उसे भी खुला रखना चाहिए।

आँखे तो मनुष्य तभी बन्द करता है जब उसके सामने कोई भयावह स्थिति होती

है। उदाहरण के तौर पर यदि सामने से पत्थर आ रहा हो तो एक सेकेण्ड के लिये मनुष्य की आँखे स्वत: ही बन्द हो जाती हैं। अत: आँखें बन्द करने का तो यह अर्थ हो गया कि हम संसार या उसकी चहल-पहल से भयभीत हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम योगाभ्यास का प्रारम्भ ही दूषित वृत्ति से कर रहे हैं। शेर कभी आँखें बन्द करता है? हमें भी नरों में सिंह की भाँति अपने नेत्र स्वाभाविक रीति से खुले रखने चाहियें; यह सतर्कता, सक्रियता एवं साहस की वृत्ति के सूचक हैं।

निरीक्षण करने पर आप मानेंगे कि नेत्र मनुष्य के मन के सही दर्पण हैं। यों तो मुख-मण्डल को मन का दर्पण माना गया है (Face is the index of mind) परन्तु मुख-मण्डल से भी विशेष तौर पर नेत्रों पर यह उक्ति-चरित्रार्थ होती है। उदाहरण के तौर पर जब किसी मनुष्य के मन में क्रोध होता है तो उसकी आँखे लाल हो जाती हैं; तभी तो हम कहते हैं कि यह हमें क्रोध से लाल होकर देख रहा है। जब किसी के मन में लोभ होता है तो हम कहते हैं कि यह हमें ललचायी आँख से देख रहा है। इसी प्रकार, जब किसी का मन काम-वासना से आक्रान्त होता है ता हम कहते हैं कि इसकी दृष्टि गन्दी है। इसी प्रकार, ईर्ष्या-दृष्टि तथा अवगुण-दृष्टि भी प्रसिद्ध हैं। जब किसी के मन में अथाह दु:ख या वियोग का भाव होता है तो उसके नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होते हैं। अत: नेत्रों का मन के साथ अथवा दृष्टि वृत्ति के साथ काफी सम्बन्ध है। नेत्र भृकुटि-स्थित आत्मा के नकटतम इन्द्रिय है, मानों यह आत्मा के लिये खिड़कियाँ हैं। दृष्टि से वृत्ति बदलती है और वृत्ति से दृष्टि। अब हमें करना यह चाहिये कि वृत्ति को बदलना चाहिये। उससे हमारी दृष्टि स्वत: ही बदल जायेगी।

उदाहरण के तौर पर, जब तक एक मनुष्य किसी पड़ोसी कन्या को अपनी बहन मानता है तो उसकी दृष्टि पवित्र रहती है। जब समाज उन दोनों का विवाह कर देता है तो उसकी वृत्ति बदलने से अब दृष्टि भी बदल जाती है। इस सिद्धान्त को समझते हुए, हमें अब अपनी वृत्ति का शुद्ध करना चाहिए। जब हम मन मे यह स्मृति धारण करेंगे कि — "मैं आत्मा हूँ", तो हमारी वृत्ति आत्मिक एवं सात्त्विक हो जायेगी। तब दृष्टि के लिये हमें अलग से कुछ यत्न या चिन्ता करने की ज़रूरत नहीं है। आँखे बन्द करने या खोलने की ओर हमारा ध्यान रहेगा तो देह की ओर हमारा मन जाता रहेगा और आत्म-निष्ठ होने का अखण्ड अभ्यास नहीं कर सकेंगे।

हाँ, हम दृष्टि के लिये एक श्रेष्ठ उपाय कर सकते हैं। उस उपाय को स्पष्ट करने के लिए हम पहले एक उदाहरण देते हैं। मान लिजिए कि हमारे घर के बिजली की तारों

का कनेक्शन (Connection,जोड़) बिजली-घर से जुटा हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे घर में बिजली की तारें स्विच ऑन (Switch-on) करते ही सक्रिय (live) होती हैं। अत: यदि हम अपने स्विच के किसी प्वाईट (Point) में यदि अपने रेडियो या टेलीविज़न या हीटर का प्लग (Plug) लगा दें तो उसकी तार भी बिजली से सशक्त (live) या सक्रिय (Functioning) हो जायेंगी। ठीक इसी प्रकार, यदि कोई योगाभ्यासी अपने नेत्र सामने बैठे किसी उच्च योगी के नेत्रों में स्थिर कर दे तो प्रथम की योग-युक्त स्थिति का प्रभाव उसमें भी आयेगा। उच्च योगी के मन का तार तो अपार शक्ति-भण्डार परमात्मा से लगा ही हुआ है; अत: यदि उसके स्थिर नेत्रों मे हम भी उससे दृष्टि लें, तो हम भी निहाल हो जायेंगे, हमारी स्थिति भी आत्मिक हो जायेगी। तभी तो लोग महात्माओं को कहते हैं – ''आपकी कृपादृष्टि से सब ठीक है।''

अस्तु! हमने यह स्पष्ट करने का यत्न किया है कि प्रभु की स्मृति के लिये किसी अधिक औपचारिकता या बनावट की ज़रूरत नहीं है। सच्चे पुरुषार्थी के दिल पर साहिब (परमात्मा) राज़ी (कृपालु) हैं। हमें तो प्रीति एवं परिचय-पूर्वक मन को प्रभु में जोड़ना है – बस यही सूक्ष्म पुरुषार्थ करना है।

उसके लिये तो कोई भी ऐसा स्थान हो जो शुद्ध हो और झंझटों से थोड़ा दूर हो। अपने मकान में कोई अलग कमरा निश्चित कर सकते हैं या किसी कमरे के कोने में कोई थोड़ा स्थान इसके लिये सुरक्षित कर सकते हैं। वहीं थोड़ी नरम जगह बना कर सहज आसन में बैठ सकते हैं। यह भी न हो सके तो अपनी चारपाई पर ही बैठ सकते हैं। वहीं थोड़ी नरम जगह बना कर सहज आसन में बैठ सकते हैं। वहीं थोड़ी नरम जगह बना कर सहज आसन में बैठ जाइये। चाहे तो धूप या अगरबत्ती जगा दें; उससे आपकी मनोस्थिति आध्यात्मिक पुरुषार्थ के लिये अनुकूल स्थिति में आ जायेगी। यदि रात्रि का अथवा ब्रह्ममुहूर्त्त का समय हो, कमरे में अन्धेरा हो तो लाल रंग का प्रकाश कर दीजिये। प्रकाश आपको ब्रह्मलोक में सुनहरी अखण्ड ज्योति की याद दिलायेगा। यह कोई ज़रूरी नहीं है, तथापि सहायक है। यदि मन मन चंचल रहता हो तो प्रभु की महिमा का कोई रेकार्ड बजा दीजिये। यह भी सहायक है, मन का प्रभु की ओर मार्गान्तरीकरण करने के लिये निमित्त साधन हैं। वास्तव में तो हमें इन साधनों की आवश्यकता नहीं है। हमें तो मन को आवाज़ों, साज़ों, बाजों-गाजों तथा साधनों-प्रसाधनों से परे ले जाना है। संक्षेप में कहने का भाव यह है कि स्वाभाविक एवं सहज रीति से बैठ जाइये और अब शरीर को भूल जाइये। मन में हर्ष या शान्ति रखिये। अब हम आपको योगाभ्यास की विधि बताते हैं।

योगाभ्यास की विधि

अब इस प्रकार मनन (Meditation) प्रारम्भ कीजिये – ''मैं एक आत्मा हूँ। एक चेतन शक्ति हूँ...! मैं प्रकाशस्वरूप हूँ... एक तारे की भाँति जगमगाती ज्योति हूँ। मैं वास्तव में शान्तिस्वरूपहूँ और आदि स्वरूप में पवित्र हूँ...। मैं अजर...अमर और अविनाशी हूँ...। मैं पाँच तत्वों की देह से और प्रकृति के जगत् से न्यारा हूँ और कर्मातीत हूँ। मैं वास्तव में सूर्य, चाँद और तारागण से भी पार, ज्योति के देश अर्थात् परमधाम से ही इस सृष्टि में आया हूँ और अब वहाँ ही मुझे जाना है...।''

इस प्रकार आत्म-चिन्तन करते हुए, अब मन को सूर्य, चाँद तथा तारागण से भी पार, ब्रह्मा विष्णु तथा शकर की अव्यक्त प्रकाश पुरियों से भी पार, परमधाम (ब्रह्मलोक) में ले जाईये और मन रूपी नेत्र से वहाँ सर्वत्र फैले हुए लाल-सुनहरे रंग वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म दिव्य प्रकाश (ब्रह्मतत्व) को देखते हुए, इस प्रकार आत्म-चिन्तन कीजिए – ''वास्तव में तो मैं इस ब्रह्मलोक का वासी हूँ। इस अखण्ड ज्योति वाले धाम से ही उतरकर मैं आकाश तत्व में इस सृष्टि-मंच पर आया और मैंने जन्म-जन्मान्तर यहाँ अनेक नाम-रूप वाले शरीर लेकर पार्ट बजाया परन्तु अब तो पुनः मुझे इस ज्योति-देश में लौटना है। अहा, पाँच तत्वों से पार, इस धाम में सर्वत्र शान्ति है!... पवित्रता है!... प्रकाश है...निस्संकल्पता है। मैं भी वास्तव में देह से भिन्न, अपने आदि स्वरूप में कर्मातीत हूँ और एक ज्योति-कण ही हूँ... शान्त हूँ...शुद्ध हूँ...एक शक्ति हूँ...प्रकाश बिन्दु हूँ...''

अब इस सुनहरे ब्रह्मतत्व में अपने मन के नेत्र द्वारा, अपने प्रियतम प्रभु, प्रमप्रिय परमपिता परमात्मा को, जो कि ज्योतिबिन्दु हैं, शिव हैं, देखते हुए, उनसे इस प्रकार सम्बोधन कीजिये – ''परम प्यारे शिव बाबा, आप शान्ति के सागर हैं...आनन्द के सागर हैं... प्रेम के सागर हैं... सर्वशक्तिमान हैं...पतित-पावन है...दु:ख-हर्त्ता और सुख-कर्त्ता हैं... आप ज्योतिस्वरूप हैं। अहाहा, आप से मुझ पर प्रकाश और शक्ति उतर-उतर कर चारों और फैल रही है...मानो मैं उनमें नहा रहा हूँ, उनसे घिरा हुआ हूँ...यह जीवन कितना अच्छा है! ...शिव बाबा, मैं बहुत ही सौभाग्यशाली हूँ कि आपसे मेरी प्रीति है...शिव बाबा, अपाने मुझे अपना हर्षकारी परिचय देकर मेरा तो जीवन ही बदल दिया है...आप की स्मृति में कितना आनन्द है... कितनी मधुरता है...। आप ही मेरे माता-पिता, शिक्षक तथा सद्गुरु हैं और सखा तथा बन्धु भी हैं... आप मेरा कल्याण कर रहे है...पतित से पावन बना रहे हैं... आप ही सर्वस्व हैं... मेरे मन के मीत हैं...अहाहा...मेरे जन्म-जन्मान्तर के पाप दग्ध हो रहे हैं...बहुत ही लाईट है...माईट

है...अहा...अहा...मैं त्रिलोकीनाथ, सर्वशक्तिमान् परमपिता परमात्मा का अमर पुत्र हूँ, ज्योति-स्वरूपहूँ, बिन्दु रूप हूँ! इसी स्थिति में टिक जाइये।

अब मुझे यह रहस्य ज्ञात हो गया है कि मुक्ति और जीवन्मुक्ति तो मेरा ईश्वरीय जन्मसिद्ध अधिकार है...मैं कितना सौभाग्यशाली हूँ कि मैंने स्वयं परमपिता परमात्मा द्वारा दिया हुआ ज्ञान सुना है जोकि त्रिकालदर्शी हैं तथा दिव्यबुद्धि और दिव्य चक्षु के दाता हैं...बाबा, ओ मीठे बाबा, प्यारे बाबा, जन्म-जन्मान्तर की चाव के बाद मिले हैं बाबा... अब मैं यह समझता हूँ कि एक मात्र आप ही सर्व बन्धन से छुड़ाने वाले हैं...आप हमें स्वर्ग का स्वराज्य दे रहे हैं...हमे अपने परमधाम में ले जाने के लिये आये हैं, यह कितनी खुशी की बात है कि आपने हमें अपनाया है...कोटि-कोटि लोगों से मैं अधिक सौभाग्यशाली हूँ कि आपने मुझे अपना परिचय देकर अतीन्द्रिय सुख एवं आनन्द का अपार खज़ाना दिया है... बाबा! मीठे बाबा! मैं तो आप ही का हूँ...आप ही मेरे सर्वस्व हैं...मैं जैसा भी हूँ...आप ही का तो हूँ...मैं ज्योति-बिन्दु हूँ, ज्योति का तारा हूँ — मैं शान्त स्वरूप हूँ...चेतन शक्ति हूँ।

इस प्रकार, प्रियतम प्रभु का मनन-चिन्तन (Meditation) करते हुए अथवा उनसे आत्मिक-वार्त्तालाप करते हुए, इन शुद्ध संकल्पों की सीढ़ी पर चढ़ते-चढ़ते, भाव-विभोर होते-होते, मन को ब्रह्म-ज्योति से घिरे हुए ज्योति-बिन्दु परमपिता शिव पर एकाग्र (Concentrate) कर दीजिये और अनुभव (Realisation) में स्थित हो जाइये। परमपिता के मिलन के आनन्द में मग्न हो जाइये। ऐसा महसूसू कीजिये कि आज जीवन धन्य-धन्य हो गया है... कोई खज़ाना मिल गया है...जो पाना था वह पा लिया है... प्रभु का प्यार मिल रहा है...उससे आती हुई शक्ति की कैरेन्ट (Currents) स्वयं आत्मा में आ रही है। आत्मा मानो प्रकाश, शान्ति, आनन्द, प्रेम के दिव्य फव्वारे में है...आहा...यह कैसा अच्छा अनुभव है...इतीन शक्ति है कि विकीर्ण होकर चहूँ ओर फैल रहा है... कितना हल्कापन है...यह विकर्मातीत अवस्था है...कितना रस है! दिव्य प्रकाश की कोन्ध का प्रभाव मैं अनुभव कर रहा हूँ...मैं ज्योति-बिन्दु हूँ...प्रेम स्वरूप हूँ शान्त स्वरूप हूँ''।

इस प्रकार, अनुभव करते-करते, तन्मयता (Absorption) तथा स्मृति की एकतानता अथवा प्रभु प्रेम में तल्लीनता (Soaked in lvoe) के समुद्र में डूबे रहना चाहिए अथवा शिव बाबा से आते हुए प्रकाश में टिक जाना चाहिए।

स्थिरता अथवा स्थिति

इस प्रकार का अभ्यास बहुत ही सुखदायी एवं मधुर है। परन्तु यदि ऐसा अभ्यास करते हुए मन में अनायास ही कोई व्यर्थ संकल्प आ जाय तो उससे चिन्तित नहीं होना

चाहिये। उसके निवारण के लिये दो ही तरीके हैं। एक तो यह कि उससे परेशान न होइये। मन को हल्का रखिये। निराशा अनुभव न कीजिये। आप हल्के मन से फिर ईश्वरीय चिन्तन करने का पुरुषार्थ कीजिये। जैसे लोहे को लोहा काटता है, वैसे ही संकल्प को भी संकल्प ही काटता है। अत: उन अशुद्ध संकल्पों को काटने का सर्वोत्तम तरीका है — मन को शुद्ध संकल्पों में व्यस्त कर देना। वर्ना, यदि कोई इन संकल्पों में उलझ जाता है कि पता नहीं मेरा मन टिकता क्यों नहीं, मेरे व्यर्थ संकल्प मिटते क्यों नहीं, तो एक व्यर्थ चिन्तन तो हो ही रहा था, अब उस चिन्तन के बारें में भी चिन्तन प्रारम्भ होगा तो इस श्रृंखला का अन्त कहाँ होगा? अत: इन संकल्पों के स्थान पर ज्ञानमय संकल्प शुरू कर दीजिये।

इस प्रकार का अभ्यास करते समय यदि अनायास ही मन किसी कारण से पुन: वहाँ से हट जाय तो उसे पुन: परमपिता परमात्म के परिचय आदि के मनन-चिन्तन में लगा देना चाहिये ताकि स्थिति फिर से स्थूल न हो जाय। उदाहरण के तौर पर इस प्रकार मनन कीजिये कि — "यह संसार तो एक मुसाफिर-खाना है। अब इस कलियुगी सृष्टि में कोई भी आसक्ति रखने की मेरी चेष्टा नहीं है...शिव बाबा, अब मेरी प्रीति तो आप ही से है जो कि मुझे परमधाम तथा वैकुण्ठ में ले चल रहे हैं, मुझे मार्ग-प्रदर्शना दे रहे हैं...मेरा वर्तमान जन्म तो अन्तिम जन्म है, अब मैं सृष्टि-मंच पर अपना पार्ट पूरा कर चुका हूँ अब तो मेरा पार्ट स्वयं परमपिता परमात्मा शिव के साथ है...शिव बाबा, आप तो अवढर दानी और भोले-भण्डारी हैं...आपने मुझे ज्ञान तथा योग रूपी वरदान दिये हैं जिनसे कि सभी प्राप्तियाँ हो जाती हैं...शिव बाबा, आप तो सचमुच बड़े हितैषी एवं अपार सुख-शान्ति देने वाले हैं, अत: मैं आपको हृदय से बहुत ही प्यार करता हूँ...आप तो बिगड़ी को बनाने वाले और माया की गहरी नींद में सोये हुओं को जगाने वाले हैं। मुझे भी आप माया की दलदल से निकालकर पावन बना रहे हैं और २१ जन्मों के लिए स्वर्ग के राज्य-भाग्य का अधिकारी बना रहे हैं...आप तो बहुत ही कमाल करते हैं कि एक जन्म में सहज ज्ञान तथा सहज राजयोग द्वारा पतित नर को पूज्य श्री नारायण तथा नारी को पूज्य श्री लक्ष्मी बना देते हैं...अत: मैं आपके उच्च कर्त्तव्य की कैसे सराहना करूँ? शिव बाबा, अब तो मैं भी दूसरों को आपकी वाणी सुनाऊंगा, उन्हें माया की नींद से जगाऊंगा तथा आपका मधुर परिचय देकर हर्षाऊंगा। शिव बाबा, अब मैं कभी भी विकर्म नहीं करूँगा बल्कि आपकी आज्ञानुसार चलकर अपना जीवन श्रेष्ठ बनाऊंगा...।" इस प्रकार मनन-चिन्तन करते-करते पुन: एकाग्रता-पूर्वक शान्ति, शक्ति और प्रेम की धारा का धारण करते - जैसे अनुभव में समाहित हो जाना चाहिए।

अशुद्ध संकल्पों का निवारण

यदि ये ज्ञान-युक्त चिन्तन भी नहीं हो पा रहा, मन में खलबली-सी मची हुई है, चित्त में भारीपन-सा है, आलस्य है या मानसिक उद्दण्डता एवं उद्विगनता है तो ज्ञान का अंकुश प्रयोग कीजिये। पिछले पृष्ठों में हम काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, ईर्ष्या, द्वेष आलस्य, या ऐन्द्रिय आकर्षणों के बारे में चर्चा कर आये हैं: उसको ध्यान में रखते हुए, जिस प्रकार के संकल्प मन में उठ रहे हों, उनको निवारण करने के लिये उन्हें शान्त करने वाले ज्ञान-बिन्दुओं पर मनन कीजिये। इस प्रकार की ज्ञान-गवेषणा से कुछ ही दिनों में आपके वे अशुद्ध संस्कार धीमे अथवा 'तनु' होते जायेंगे और क्षीण होते-होते, अन्तोगत्वा, आपका पीछा छोड़ जायेंगे।

इस प्रसंग में एक बात को मन में पक्का कर लिजिये। वह यह कि कभी अपने पुरुषार्थ से निराश न होइये। निराशा आने से आलस्य और प्रमाद अथवा अलबेलापन आता है और उसका दुष्परिणाम यह होता है कि मनुष्य अभ्यास करना ही छोड़ देता है। यह बहुत हानिकारक है। निराशा का तो कोई कारण नहीं है क्योंकि पुरुषार्थ कभी भी शतप्रतिशत निष्फल तो जाता नहीं। कर्म तो अविनाशी है, उसका प्रभाव चाहे कितना भी क्षीण क्यों न हो, पड़ता अवश्य है। क्या हम प्राय: यह नहीं देखते कि किसी दीवार को गिराने के लिये मिस्त्री या मज़दूर द्वारा अनेकानेक हथौड़े लगाने पड़ते हैं। पहले एक-दो हथौड़ों से यद्यपि दीवार नहीं गिरती तो भी मिस्त्री हथौड़े लगाना छोड़ नहीं देता क्योंकि वह जानता है कि हथौड़े का हरेक प्रहार अपना काम कर रहा है। वह दीवार को कमज़ोर करता जा रहा है। यद्यपि दीवार अन्तिम हथौड़े की मार से गिरेगी तथापि उससे पहले की चोटें भी महत्वपूर्ण हैं — वे व्यर्थ नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार, हमारे प्रतिदिन का योगाभ्यास भी महत्वपूर्ण है। आज यदि किन्हीं विक्षेपों के कारण मन स्थित नहीं हो सका तो निराश होने की कोई बात नहीं क्योंकि हमारा हरेक संकल्प रूप हथौड़ा हमारी कालिमा की दीवार को ढाने में महत्त्वशाली है।

दिनचर्या पर ध्यान

अभ्यास के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण बात और भी कह दें। जब हम योगाभ्यास के लिये बैठते हैं, तो हम तन को तो एक स्वच्छ एवं आरामदायक आसन पर बिठा देते हैं परन्तु हमारे मन का आसन तो हमारे पिछले दिन-भर के संकल्प-विकल्प ही होते हैं। हमारा मन उसी भूमिका में ही आगे चलता है। अत: उस भूमिका को ठीक करना ज़रूरी है। जो मनुष्य दिन-भर देह-अभिमानी (Body-Conscious) हुआ रहता है, देह-दृष्टि

ही से सभी को देखता है, प्रभु की रंचमात्र भी याद नहीं करता, उसे योगाभ्यास के समय ईश्वरीय स्मृति में तन्मयता की स्थिति प्राप्त करने में बहुत समय लग जाता है। परन्तु जो मनुष्य दिनभर भी आत्म-चेतस रहता है, सभी को आत्मिक दृष्टि से दखता है, उसकी स्थिति स्थूलता एवं लौकिकता से ऊपर उठी रहती है और ईश्वरीय याद की यात्रा पर चलने में उसे अधिक समय नहीं लगता। बिजली का स्विच ऑन (Switch on) करने की न्यायीं वह सहज रीति से ही ईश्वरीय स्मृति में टिक जाता है।

एक उदाहरण से हम यह बात स्पष्ट कर दें तो अच्छा होगा। आप ने देखा होगा कि रेलवे यार्ड (Railway yard) में जब रेलवे के मज़दूर मालगाड़ी के रुके हुए किसी डिब्बे (wagon) को जब चलाने के लिये धक्का देते हैं तो पहले-पहल उसमें काफी ज़ोर लगाना पड़ता है। परन्तु, एक बार जब वह चल पड़ता है तब उसके लिये कोई कठिनाई नहीं होती। तब तो वह दूसरे किसी खड़े हुए डिब्बे को भी अपनी गति से चला देता है। एक वार गतिमान होने पर उसकी गति को तेज़ करना सहज होता है। फिर, चलते हुए डिब्बे को रोकने के लिये भी काफी ज़ोर की आवश्यकता हाती है। ठीक इसी प्रकार, यदि दिन-भर मनुष्य प्रभु-चिन्तन को छोड़ दे तो योगाभ्यास के समय उसे चलाना दुष्कर होता है। और, दिनभर चलते हुए, लौकिक एवं दैहिक संकल्पों को रोकना कठिन हो जाता है।

एक दृष्टान्त

इसके बारें में एक विनोदपूर्ण दृष्टान्त है। कहते हैं कि कपड़े का एक व्यापारी रात्रि को जब सोया पड़ा था तो उसने एक स्वप्न की स्थिति में वह अपने ऊपर की चादर को दानों अंगुलियों से वैसा ही फाड़ने लगा जैसे कि कपड़े का कोई व्यापारी ग्राहक को कपड़ा देते समय थान से कोई टुकड़ा फाड़कर अलग करता है। जब निकट ही उसकी बुढ़िया माता ने कपड़ा फाड़े जाने की आवाज़ सुनी तो उसने पअने पुत्र को कहा — "अरे, अमरसिंह! यह क्या कर रहा है?" अमरसिंह अर्द्ध-सुषुप्त अवस्था में बुदबुदाया — "माँ! ग्राहक को कपड़ा देने दे; मेरी दूकानदारी में दखल मत दे।" तो देखिये, दिन-भर कपड़ा, ग्राहक, दूकान इत्यादि का संकल्प चलते रहने के कारण अब रात्रि को स्वप्न में भी उसे कपड़े तथा ग्राहक की इतनी तो धुन सवार है कि वह अपने ऊपर तानी हुई चादर को फाड़ रहा है।

स्पष्ट है कि मनुष्य दिन-भर जिन चेष्टाओं में, जिन विचारों में, जिन स्मृतियों में रहता है, योगाभ्यास के समय भी वही स्मृतियाँ तथा चष्टायें उसके मन को अपने में ही व्यस्त रखती हैं। अत: जब तक हम दिन भर में भी अपने में भी अपने कार्यों को करते

हुए न्यारी, साक्षी तथा उपराम अवस्था को धारण नहीं किये रहेंगे तब तक प्रगाढ़ योग-स्थिति (Profound and deep meditation) को हम प्राप्त नहीं हो सकेंगे।

दिन-भर कार्य तो हमें करने ही होंगे क्योंकि जीवन निर्वाहार्थ हमें दूसरों पर तो निर्भर करना नहीं है और वैसे भी सदैव के लिये तो कर्मों के बिना कोई रह भी नहीं सकता, परन्तु हमें चाहिये कि हम कर्म करते समय प्रन्यासी-पन (Trusteeship) की भावना बनाये रक्खें अर्थात् हमारी यह स्मृति बनी रहे कि मालिक तो परमात्मा ही है मैं तो इस कार्य के लिये सेवक हूँ अथवा निमित्त (Trustee) हूँ। पुनश्च, यह भी याद रहे कि – ''मैं तो परमधाम (ब्रह्मलोक) से इस सृष्टि-मंच पर अपना पार्ट बजाने आया हूँ, अनेकानेक बार मैंने पार्ट बजाया है, मेरे सम्बन्धी भी एक ड्रामा में मिले सह-पार्टधारी (सहपात्र, Co-actors) हैं। आखिर तो सभी ने बिछुड़ ही जाना है...।'' इस प्रकार साक्षी तथा द्रष्टा होकर अनासक्त-भाव से कर्म करने से तथा स्वयं को इस लोक में एक मेहमान या मुसाफिर मानते हुए कर्म करने से मनुष्य के मन की भूमिका योगाभ्यास के अनुकूल बनी रहती है।

पुनश्च, दिन-भर में हमें थोड़े-थोड़े समयान्तर के बाद कई बार विशेष रूप से भी, कम-से-कम दो चार मिनट ही सही, अपने मन को शिव बाबा की स्मृति में प्रीति-पूर्वक जोड़कर आनन्द लेना चाहिये। यह अभ्यास बहुत ही लाभकारी है। जन्म-जन्मान्तर के रहे हुए आत्मिक महारोग को दूर करने की यह एक अचूक औषधि है।

इसके अतिरिक्त अन्नदोष तथा संगदोष से बचना भी बहुत ज़रूरी है क्योंकि 'अन्न का मन पर', 'पानी का वाणी पर' अथवा 'धरणी का करनी पर' प्रभाव पड़ता है – ऐसी उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं और सही हैं।

जो मनुष्य उपरोक्त् नियमों का तथा ब्रह्मचर्य, अहिंसा इत्यादि का पालन करते हुए तथा नित्य-प्रति ज्ञान-धारण करते हुए योगाभ्यास करता रहेगा, वह निश्चित रूप से पद्मापद्म भाग्यशाली बनेगा ही, अर्थात् अव्यक्त अवस्था, फ़रिश्ता अवस्था तथा जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेगा। अतएव पुनः-पुनः शिव बाबा की याद में स्थित रहने का अभ्यास करना चाहिए। बस इस जीवन में यही लगन होनी चाहिए कि मैं तो प्रभु का हो चुका हूँ, प्रभु का भभ् मुझण्से बहुत प्यार है। बस, फिर ब्रह्मलोक के वासी ज्योति-बिन्दु परमात्मा की स्मृति में स्थिति का रसपान कीजिये। उसी अवस्था में टिक जाइये।

योग की सिद्धियाँ, शक्तियाँ अथवा योग्यतायें

इस अवस्था में आपको ऐसा महसूस होगा जैसे कि पवित्रता, प्रकाश, प्रेम, शक्ति

और शान्ति की तरंगें आप पर उतर-उतर कर, आपके माध्यम से सारे संसार में फैल रही हैं, अर्थात् जगत् को पावन बना रही हैं। इस प्रकार के अभ्यास का आपकी अवस्था पर काफी प्रभाव रहेगा। आप देह से न्यारे, वायु के समान हल्के, आत्मिक शक्ति से युक्त, हर्ष और आनन्द से विभोर, ईश्वरीय स्मृति की मस्ती में चूर अनुभव करेंगे। दूसरों के प्रति आपके मन में सहानुभूति, स्नेह तथा सौहार्द अनुभव होगा। योग की स्थिति का अव्यक्त अनुभव और आनन्द-रस आपको बार-बार अपनी ओर आकर्षित करेगा और आप इस संसार में चलते हुए भी ऐसा महसूस करेंगे जैसे कि आपके पाँव इस पृथ्वी पर नहीं हैं, आपकी आँखों में दूसरा लोक बस रहा है, आपकी कलगन अलौकिक है, आपका लक्ष्य ऊपर है, आप देह से निकलते जा रहे हैं और परमपिता के प्रेम-पात्र हैं। आपका मनोबल (Will Power) काफी बढ़ जायेगा। आपको जीवन में उल्लास का अनुभव होगा और कर्म करते हुए भी थकावट महसूस नहीं होगी तथा हर्ष, शोक, निन्दा, स्तुति की परिस्थितियों में भी मन उस परम आनन्द की अवस्था को छोड़कर नीचे नहीं उतरना चाहेगा। आपको ऐसा मालूम होगा की दिनोंदिन आप परमधाम और वैकुण्ठ के निकट पहुँचते जा रहे हैं और कि आपके पुराने संस्कार अब आपको छोड़ गये हैं तथा अब आप में दिव्य गुणों का तथा पवित्रता का उदय हुआ है। इस प्रकार, आप अपने को बहुत कृत-कृत तथा धन्य-धन्य मानेंगे और आपको योगाभ्या का चस्का-सा लग जायेगा। आपको जीवन में सन्तोष रूपी खज़ाना मिल जायेगा और सहनशीलता की शक्ति भी प्राप्त हो जायेगी।

इसके अतिरिक्त, आप देखेंगे कि चित्त को ईश्वर में एकाग्र करने के अभ्यास से, मनुष्य के व्यवहारिक जीवन में भी मन को किसी भी विषय पर एकाग्र करने की क्षमता (Power of Concentration) आती है। यह तो एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। इस योग्यता द्वारा मनुष्य इहलौकिक कार्यों को भी व्यवस्था पूर्ण एवं सुन्दर रीति से सम्पन्न कर पाता है। योगाभ्यास करने वाला मनुष्य आवाज़, ढोल-बाजे, हा-हू इत्यादि के होते हुए भी अपने कार्य में मनको एकाग्र कर सकता और कार्यों को भलीभाँति (Efficiently) कर सकता है। उसका मन भटकता नहीं वह उलझनों में भी नहीं पड़ता बल्कि स्थिर-बुद्धि अथवा स्थितप्रज्ञ हो जाता है। यह स्थित-प्रज्ञता (Equanimity) बहुत बड़ी उपलब्धि है। बाधाओं के उपस्थित होने पर भी, स्थित प्रज्ञ मनुष्य, घबड़ाहट, फुसलाहट इत्यादि के वश नहीं होता। इसके अतिरिक्त, योगाभ्यासी में सहनशीलता का भी बहुत महान् दिव्य गुण आता है। योग के फलस्वरूप वह इतने आनन्द में रहता है कि उसमें उत्तेजना का प्रादर्भाव नहीं होता बल्कि वह सदा हर्षितमुख अवस्था में रहता है तथा मुस्कराता ही

रहता है। उसं संसार के मान शान और मिठाई-पकवान अब ऐसे लगते हैं कि जैसे उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं हैं। वह स्वयं को देह से न्यारा, इस संसार में एक मेहमान समझता है और स्वयं को लाइट (प्रकाश) और माइट (शक्ति) में अनुभव करता है। अत: वह निन्दा की स्थिति में, रोग में, दुर्घटना में, सभी स्थितियों में एक टिक अथवा एकरस रह सकता है।

योगी देह-अभिमान को छोड़कर, आत्म-निष्ठ होने के कारण हल्का महसूस करता है। इसलिये उसे विशेष थकावट अनुभव नहीं होती बल्कि वह सक्रिय (Active), सतर्क (Alert) और विनयशील एवं स्वयं को समयानुसार ढाल लेने वाला (Elastic) भी होता है। इसलिए उसकी कार्य-क्षमता और कार्य कुशलता बढ़ती है। निश्‍चयवान् (faithful) होने के कारण वह सफलतामूर्त्त (Successful) भी होता है। उसे सदा खुशी रहती है और यह खुशी भी एक प्रकार के टॉनिक (Tonic) अर्थात् पौष्टिक एवं शक्ति-वर्द्धक पदार्थ का काम करती है या शक्ति, स्फूर्ति एवं उत्साह के इन्जेक्शन का काम करती है।

योग-युक्त व्यक्ति सत्य स्वरूप परमात्मा से युक्त होने के फल्स्वरूप सत्यता एवं सदाचार की भावना से पिरपूरित रहता है। अत: वह भ्रष्टाचार से बचकर रहता है।

पुश्नच, सिनेमा, फैशन तथा सिगरेट-शराब इत्यादि व्यसनों से भी वह बचकर रहता है क्योंकि वह इस विराट सृष्टि को ही सदा एक नाटक के रूप में दखते हुए सदा हर्षित रहता है और वह वर्तमान जीवन में सादगी तथा मित्तव्ययता का अनुगामी होता है इससे उसे आर्थिक लाभ भी होता है और उसके जीवन का मूल्यवान समय भी व्यर्थ नहीं जाता।

इसके अतरिक्त, वह व्यर्थ चिन्तन, पर चिन्तन या चिन्ता भी नहीं करता। दूसरों की निन्दा या चुगली में उसका समय बर्बाद नहीं होता क्योंकि वह तो प्रभु-चिन्तन में ही मग्न रहता है। वह सभी चिन्ताओं से निवृत्त होकर अपने समय को सफल करता है।

ये सभी लाभ होने के अलावा, योगाभ्यासी मनुष्य को सर्वशक्तिमान् परमपिता परमात्मा से बुद्धि को युक्त करने के फलस्वरूप आठ मुख्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। वे हैं — (१) निर्णय शक्ति (२) परख शक्ति (३) समेटने की शक्ति (४) सामना करने की शक्ति (५) सहन शक्ति (६) विस्तार करने तथा संकीर्ण करने की शक्ति (७) समाने की शक्ति (८) सहयोगी बनने और बनाने की शक्ति। ये शक्तियाँ ही मनुष्य के महानता की सूचक हैं। यही आत्मा के पूर्ण विकास की प्रतीक हैं। इनसे ही मनुष्य संसार के कर्मों में कुशल, सिद्धहस्त और सफल होता है और यही मनुष्य को आध्यात्मिक पुरुषार्थ के

परम लक्ष्य तक पहुँचाने वाली हैं। इनमें से एक न एक शक्ति की कमी के कारण ही संसार में झगड़े, अनबन, असफलता, अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उपद्रव या असन्तुष्टता बनी हुई है। इन्हीं में से एक-न-एक शक्ति के कम होने से मनुष्य को मानसिक दु:ख भी होते हैं और चित्त में विक्षप्तता तथा अशान्ति बनी रहती है।

पुश्नच, आप देखेंगे कि व्यक्तियों द्वारा योगाभ्यास के फलस्वरूप समाज को भी बहुत लाभ होता है। यदि व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता हो तो एक प्रकार से वह देश में जन-संख्या की तीव्र वृद्धि को थमाने में सहायक है यदि अवैधानिकता, अनाचार भ्रष्टाचार तथा अनुशासनहीनता फैली हो तो योगाभ्यासियों के शान्त-चित्त होने से उन के द्वारा देश में वैधानिकता, परस्पर प्रेम, सन्तोष तथा शान्ति का वातावरण बनता है।

कितने लाभ गिनायें। योग के तो अनन्त लाभ हैं। योगी न केवल स्वयं ईश्वरीय आनन्द एवं परम शान्ति को प्राप्त करने का सौभाग्य पाता हैं, न केवल स्वयं पावन बनता एवं पिछले विकर्म दग्ध करके मुक्ति तथा जीवन्मुक्ति का भागी बनता है, बल्कि वह एक सुन्दर, सुव्यवस्थित, स्नेह-सम्पन्न, सहयोग की भावना से प्रेरित समाज की संस्थापना के ईश्वरीय कार्य में भी सहयोगी बनता है

दो शब्द

दिन-भर कार्य तो हमें करने ही होंगे क्योंकि जीवन निर्वाहार्थ हमें दूसरों पर तो निर्भर करना नहीं है और वैसे भी सदैव के लिये तो कर्मों के बिना कोई रह भी नहीं सकता, परन्तु हमें चाहिये कि हम कर्म करते समय प्रन्यासी-पन (Trusteeship) की भावना बनाये रक्खें अर्थात् हमारी यह स्मृति बनी रहे कि मालिक तो परमात्मा ही है मैं तो इस कार्य के लिये सेवक हूँ अथवा निमित्त (Trustee) हूँ। पुनश्च, यह भी याद रहे कि — "मैं तो परमधाम (ब्रह्मलोक) से इस सृष्टि-मंच पर अपना पार्ट बजाने आया हूँ, अनेकानेक बार मैंने पार्ट बजाया है, मेरे सम्बन्धी भी एक ड्रामा में मिले सह-पार्टधारी (सहपात्र, Co-actors) हैं।आखिर तो सभी ने बिछुड़ ही जाना है...।"

क्या ईश्वरीय स्मृति कल्पना पर आधारित है?

पिछले पृष्ठों में हम यह स्पष्ट कर आये हैं कि चित्त की वृत्तियों को और सब तरफ से निरुद्ध करते हुए मन को एकमात्र परमात्मा ही की स्मृति में स्थित करने का नाम योग है। इस विषय में हम यह भी कह आये हैं कि परमात्मा सर्वव्यापक नहीं हैं बल्कि ज्योति-स्वरूप और बिन्दु-रूप हैं और ब्रह्मलोक के वासी हैं; उनके स्वरूप-सम्बन्धादि में मन को तल्लीन करना ही योगाभ्यास करना है। परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि – "इस कलिकाल में हमने न तो परमात्मा को देखा है, न ही ब्रह्मलोक या परमधाम को। ऐसी स्थिति में हम परमात्मा से योग कैसे लगायें? देखे बिना उसे ज्योति-बिन्दु रूप वाला तथा परमधाम का वासी मानकर याद करना तो गोया कोरी कल्पना ही है।"

वास्तव में देखा जाय तो उनका यह प्रतिवाद ग़लत है क्योंकि संसार में मनुष्य बहुत-सी वस्तुओं अथवा बहुत-से व्यक्तियों को देखे बिना, केवल उनके बारे में श्रवण के आधार पर ही उनसे मनोयोग जोड़ देता है। उदाहरण के तौर पर इतिहास में हम पढ़ते हैं कि संयोगिता को जब पृथ्वीराज के शौर्य, व्यक्तित्व तथा रूप-लावण्य का मौखिक परिचय दिया गया तो उसके आधार पर उसने मन में यह ठान लिया कि वह पृथ्वीराज ही को वर रूप में स्वीकार करेगी। पृथ्वीराज को आँखों से देखे बिना स्वयंवर से पूर्व ही वह मन से उसकी हो गई। ऐसे अन्य भी बहुत-से वृत्तान्त संसार में सुने जाते हैं।

सुनी हुई बात के आधार पर मन से ही किसी व्यक्ति को पहचान कर हम संसार में बहुत-से कर्त्तव्य करते हैं। उदाहरण के तौर पर जब किसी पुलिस अधिकारी को एक ऐसे अपराधी का रूप, रंग, कद-बुत, कपड़े-लत्ते इत्यादि का मौखिक रूप से परिचय दे दिया जाता है जोकि घटना-स्थल से भागकर छिप गया हो तो पुलिस-आरक्षक उस सुनाये हुए के आधार पर अपने मन में उसका चित्र खींचकर, प्रयत्न करने से, उस व्यक्ति को पा लेते हैं।

तो जबकि हम आँख-कान, गाल-भाल, नयन-बैन, ठोड़ी-गर्दन इत्यादि विभिन्न शारीरिक अंगों-प्रत्यंगों के संघात रूप देह को केवल सुने हुए के आधार पर मन से पहचान लेते हैं तो क्या परमात्मा, जिसका ज्योति बिन्दु रूप, निरावयव अर्थात् काया और कर्मेन्द्रियों से रहित है, सरल है और अपरिवर्तनीय है, उस प्रियतम को हम मन रूप नेत्र से नहीं पहचान सकते? उनकी प्यारी एवं मनमोहक सूरतिया का आँख नहीं जानती

तो क्या हुआ दिल (मन) तो उसे पहचानता है?

भारत में तो यह प्राचीन परम्परा रही है कि सगाई कराने के कार्य में निमित्त ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणी जब भावी वधु इत्यादि को ज़बानी परिचय देते हैं तो यदि वह परिचय उसके मन के अनुकूल हो तो वह वधु मन से उस भावी वर ही की हो जाती है। दूसरे शब्दों में उस शीलवती कन्या का **मनोयोग** उस चरित्रवान कुमार से जुट जाता है और उसकी दृष्टि-वृत्ति इधर-उधर भटकती नहीं। गोया वह मन से उसे पहचान लेती है।

चित्र द्वारा पहचान

फिर, परमात्मा के बारे में तो हमें यह भी एक सुविधा है कि उसके चित्र अथवा उसकी प्रतिमाएँ शिवलिंग के रूप में यत्र-तत्र-सर्वत्र देखने को मिलती हैं। मन्दिरों में जगाये गये दीपकों की लौ अथवा गिरिजाघरों में प्रदीप्त मोमबत्ती की शिखा भी उसके रूप के प्रतीक के तौर पर रक्खी रहती हैं। तब भी क्या कोई कह सकता है कि हम परमात्मा का देखे बिना उसे याद नहीं कर सकते?

सगाई से पहले छायाचित्र (फोटो) दिखाने की प्रथा तो आजकल खूब प्रचलित है। एक-दूसरे के फोटो देखने से पहचान हो जाती है और वे स्वीकृति देने पर जीवन-भर के लिये एक-दूसरे के हो जाते हैं। जिनका कल तक परस्पर परिचय नहीं था, फोटो के द्वारा उनका मनोमिलन हो जाता है और छायाचित्र से शुरू हुआ उनका यह सम्बन्ध जीवन-भर के लिये उनका घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है – ऐसा सम्बन्ध कि पति की मृत्यु के पश्चात् भी पत्नि-पति के पास पहुँचना चाहती है या हर वर्ष उसके लिये श्राद्ध करती है।

पुनश्च, यदि किसी के घर में उसके दिवंगत दादा का चित्र फ्रेम में सजा हुआ-सा दीवार पर लटक रहा हो तो उसके पुत्र-पौत्र अपने परदादा के उस चित्र को देखने तथा उसके बारे में सुनने से उसे पहचान जाते हैं। ठीक इसी तरह जबकि आज परमपिता शिव की अगण्य प्रतिमाएँ अथवा सहज-सुलभ चित्र हमारे सम्मुख हैं तो क्या इन्हें देखकर हमारा मन उस अव्यक्तमूर्त परमपिता के रूप-स्वरूप का चिन्तन नहीं कर सकता?

बताने वालों ने आँखों द्वारा देखा है

सांसारिक कार्य-व्यवहार में भी तो हम दूसरों द्वारा बताये-गये तथ्यों पर प्राय: विश्वास करते ही हैं। उदाहरण के तौर पर, यदि हमें कहीं जाना हो और हम उस गन्तव्य स्थान तक पहुँचने का मार्ग न जानते हों तो किसी जानकार व्यक्ति द्वारा एक मानचित्र (Route Map) मिल जाने पर हम कल्पना के आधार से उस मार्ग पर यात्रा शुरू कर देते हैं। उस समय हम उस कल्पना को 'कोरी अथवा निराधार कल्पना' न मानकर उसे

अनुभवजन्य तथ्य मानते हैं और उस मानचित्र को समझकर उसे स्वीकार कर लेते हैं।

इसी तरह, यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य देश में हो आया हो और वहाँ का समाचार हमें सुनाये, वहाँ के वातावरण और वहाँ की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करे, तो हम प्राय: उसे स्वीकार कर लिया करते हैं क्योंकि यद्यपि हम तो सुने हुए के आधार पर कल्पना कर रहे हैं तथापि उस व्यक्ति ने तो उसे स्वयं अपनी आँखों से देखा है। ठीक इसी प्रकार, यदि दिव्य-दृष्टि द्वारा देखने वाला कोई व्यक्ति तीन लोकों का मानचित्र हमारे सम्मुख प्रस्तुत कर दे और हमें यह बताये कि परमात्मा ज्योति-बिन्दु हैं और परमधाम (ब्रह्मलोक) के वासी हैं तो इसमें हमारी निष्ठा को 'कोरी कल्पना' की संज्ञा देना ग़लत होगा क्योंकि जिसे हम बुद्धि रूप नेत्र से देखने की कोशिश कर रहे हैं उसे किसी समर्थ ने दिव्य-चक्षु द्वारा देखा है और वह चरित्रवान व्यक्ति हमारे ही हित एवं लाभ के लिये हमें उस रहस्य से परिचित करा रहा है।

यदि हम उपरोक्त प्रकार से विश्वास करने को 'कोरी कल्पना' मानेंगे तो हम इस स्थूल जगत् में कोई भी कार्य नहीं कर सकेंगे। उदाहरण के तौर पर, जन्म के बाद, कुछ सूझ-समझ आने पर, जब हम किसी व्यक्ति को अपना पिता मानते हैं तो स्वयं पिता द्वारा अथवा हमारे अन्य किसी सम्बन्धी द्वारा मिले परिचय के आधार पर ही तो हम ऐसा मानते हैं वरना आँखें बनने से भी पहले हमने उस पिता को आँखों से देखा थोड़े ही होता है?

स्पष्ट है कि जानकार, सत्यवादी एवं हितैषी व्यक्ति द्वारा बताई बात को स्वीकार करना अन्ध-श्रद्धा या कोरी कल्पना नहीं है। हाँ, हम यह मानते हैं कि यदि दूसरे किसी व्यक्ति द्वारा बताई गई कोई बात विवेक-सम्मत नहीं है और अनुभवगम्य भी नहीं है अथवा उसका कोई साक्षी या प्रमाण भी नहीं है, तब हम उसे 'कोरी-कल्पना' की संज्ञा दे सकते हैं।

देखने वाली बुद्धि ही है, न कि मन

एक बात और है। वह यह कि साधारणतया, यह जो हमारी धारणा बनी हुई है कि हम पहले किसी वस्तु या व्यक्ति को इन चर्म-चक्षुओं से देखें तभी हम उसे मानेंगे — यह ग़लत है। क्योंकि आँख तो देखने का केवल एक साधन हैं, देखती तो फिर भी हमारी बुद्धि ही है। आँख तो एक फोटोग्राफिक कैमरे के लेन्स (Lense, ताल) की तरह वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रतिबिम्ब को हमारे मस्तिष्क रूप चित्र-पट पर अंकित करती है, **देखती समझती और पहचानती** हमारी बुद्धि ही है वरना, आप सोचिये कि छोटी-सी आँख

स्वयं भला यह कैसे समझ लेती है कि सामने खड़ा व्यक्ति पाँच फुट से बड़ा है? पुनश्च, कई बार आँखों के सामने पड़ी वस्तु को भी हम नहीं देख पाते क्योंकि हमारा ध्यान अर्थात् हमारा मन किसी और तरफ होता है। इससे भी स्पष्ट है कि देखने वाला तो मन ही है अथवा पहचानने एवं समझने वाली तो बुद्धि ही है। तो जबकि इस स्थूल जगत् में भी मूलतः बुद्धि ही सब कुछ देखती है तब क्या बुद्धि रूप नेत्र से हम आत्मा के ज्योति-बिन्दु रूप को अथवा ब्रह्मलोक को नहीं देख सकते?

मनुष्य 'कल्पित' को सत्य और सत्य को कल्पित मान रहा है

यह कैसी विडम्बना है कि यों तो हम स्थूल जगत् में बहुत-सी कल्पित बातों को सत्य मानकर उन्हें व्यवहार में लाते हैं परन्तु अध्यात्म-चिन्तन में हम सत्य को भी कल्पना मानकर छोड़ देते हैं। उदाहरण के तौर पर भूगोल विद्या में हम पृथ्वी को एक तिरछी धुरी पर घूमता हुआ मानते हैं और भूमध्य रेखा, अक्षांश रेखा इत्यादि कई प्रकार के विभाजन को कल्पित करके किसी देश की भौगोलिक स्थिति को समझने की कोशिश करते हैं। वस्तुतः ऐसी रेखाओं का कोई भी अस्तित्व नहीं है। वे केवल **कल्पित** हैं परन्तु उनको मान लेने से हमें हरेक देश के जलवायु और वहाँ की रीति-नीति को समझने में सुविधा होती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य-जगत् को, कर्मक्षेत्र और ब्रह्मलोक को मुक्त-आत्माओं का धाम मानने से ही इस सृष्टि-नाटक की सही व्याख्या हो सकती है और आत्मा के अस्तित्व, पुनर्जन्म तथा कर्म सिद्धान्त को मानने से ही यहाँ के दुःख की व्यवस्था को समझा जा सकता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्मलोक, परमात्मा, आत्मा, पुनर्जन्म या कर्म सिद्धान्त का कल्पना मानना तो गोया समस्त भूगोल, विज्ञान तथा अन्य विद्याओं के मूल का छेदन करना है।

कल्पना के प्रति घृणा-दृष्टि क्यों?

हम देखते हैं कि संसार में किसी वस्तु अथवा सिद्धान्त का निर्माण होने से पूर्व तो मनुष्य उसे मन में कल्पित ही करता है। एक बढ़ई किसी नये नमूने से एक मेज़ बनाना चाहता है। मेज़ बनाने से पहले तो वह उसके डिज़ाइन की कल्पना करता है। भवन का निर्माण होने से पहले भवन-कला का विशेषज्ञ भवन को कल्पना के रूप में अपने मन में देखता है। किसी देश के कर्णधार उस देश की उन्नति के लिये जो योजना बनाते हैं, वह पहले उनके मन में कल्पना ही तो होती है। वैज्ञानिकों ने जितने भी सिद्धान्त गढ़े हैं अथवा जितने भी आविष्कार किये हैं उनका जन्म वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में कल्पना ही से हुआ है। चाँद पर उतरने से पहले वहाँ पर पहुँचने का संकल्प संसार के साधारण लोगों को

एक कल्पना ही तो मालूम होता था।

तो जबकि हमारे प्रयोग में आने वाली सभी वस्तुएँ मूलत: कल्पना ही की उपज हैं, तब कल्पना के प्रति हमारी घृणा-दृष्टि क्यों? कल्पना स्वयं में कोई बुराई थोड़े ही है। हाँ, यदि कल्पना साकार नहीं हो सकती अथवा यदि उसका आधार कोई मान्य तथ्य नहीं है, तब तो वह कोरी कल्पना ही है। परन्तु हम ब्रह्मलोक और परमात्मा के अस्तित्व या स्वरूप को इस प्रकार की कल्पना क्यों मानें जबकि उसके भी विवेक-सम्मत आधार हैं? वे अनुभव-गम्य भी हैं, संसार में मर्यादा और सुख-समृद्धि की ओर ले जाने वाले भी हैं और सृष्टि-रचना की बुद्धिवादी व्याख्या भी वे करते हैं!

क्या योगाभ्यास आत्म-सम्मोहन अथवा ऑटो सज्जेशन का रूपान्तर है?

कुछ लोग कहते हैं कि इस प्रकार का चिन्तन कि — "मैं शान्त और शुद्ध स्वरूप आत्मा हूँ, ब्रह्मलोक से इस सृष्टि-मंच पर आया हूँ........." एक प्रकार का आत्म-सम्मोहन (Self-hypnotism) अथवा ऑटो सज्जेशन (Auto-Suggestion) अथवा 'ब्रैन वाशिंग' (मस्तिष्क-प्रक्षालन Brain-washing) है। वास्तव में उनका यह कथन ग़लत है क्योंकि इस प्रकार का चिन्तन तो यथार्थ स्वरूप-स्मरण है (Self-Contemplation) अथवा ईश्वरीय मनन (Meditation) है। यदि एक यथार्थ बात हमें भूल जाय और हम उसकी याद को पक्का करने के लिए उसे बार-बार अपने मन में दुहरायें अथवा उसका पुन:स्मरण (Recapitulation) करें तो क्या हम उसे 'ब्रेन वाशिंग' (Brain washing) तथा अन्य ऐसी प्रकार की घृणापरक संज्ञायें देंगे? शिक्षा-क्षेत्र में किसी भी तथ्य को पक्की तरह याद करने के लिये उसकी बार-बार दुहराई (Repetition) की पद्धति को तो सभी स्वीकार करते ही हैं। तब आध्यात्मिक शिक्षा में जन्म-जन्मान्तर से भूले हुए पाठ को भली-भाँति याद करने के लिए इस युक्ति का निषेध क्यों? यदि यह ऑटो-सज्जेस्शन (आत्मनिर्देशिता; Auto Suggestion) अथवा आत्म-सम्मोहन अथवा ब्रेन वाशिंग ही है तो भी इसे हेय समझने का कारण क्या? जबकि आज सम्मोहन विद्या को शल्य-चिकित्सा (Surgery) और शारीरिक रोगों के निवारण के लिए योग्य डाक्टर भी प्रयोग करते हैं और मस्तिष्क अथवा मन-सम्बन्धी रोगों के इलाज के लिये साइकियाट्रिस्ट (मन-चिकित्सक) भी प्रयोग में लाते हैं तो अध्यात्म क्षेत्र में मनुष्य के संस्कारों, अभिरुचियों, रुझानों इत्यादि के इलाज के लिये या मन में शुद्ध परिवर्तन लाने के लिए इसके प्रति उपेक्षा-दृष्टि क्यों?

क्या योगाभ्यास अनुकूल सिद्धान्तन्धानुकरण है?

आज जब मनोविज्ञान ने काफी विकास पाया है, कई लोग ऐसे भी हैं जो योगाभ्यास के प्रति मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से बड़े विचित्र आक्षेप लगाते हैं। वे कहते हैं कि किसी द्वारा बताये आध्यात्मिक सिद्धान्तों को मानकर, उसके मन्तव्य (आधार) पर योगाभ्यास (Meditation) करना एक प्रकार से मानसिक अनुकूलन क्रिया (Conditioning) अथवा सिद्धान्त-अन्धानुकरण (Indoctrination) है जबकि हमारे मानस ने सब ओर से सिमट कर, निष्पक्ष भाव से स्वयं ही उस तथ्य को नहीं खोजा तब तक हम उसे कैसे मानें?''

देखिये तो यह कैसी विचित्र बात है? हमसे पूर्व यदि किन्हीं लोगों ने निष्पक्ष भाव से कुछ प्रयत्न किये हैं तो क्या समाज की उन अनमोल उपलब्धियों को, शत-शत वर्षों के उस कठिन परिश्रम को हम यों ही उपेक्षित दृष्टि से देखकर उनको अस्पृश्य मानकर उनसे अवहेलना का व्यवहार करें?

कोई व्यक्ति चाहे कितना बड़ा मनोवैज्ञानिक अथवा मनो-विश्लेषक हो, वह दूसरों द्वारा गढ़े गये सिद्धान्तों से कितना भी दूर हटकर रहने की चेष्टा करता हो, तो भी वह इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि उसका ९९% जीवन अन्य लोगों द्वारा गढ़े गये सिद्धान्तों की भूमिका पर आश्रित है। जो कपड़े वह पहनता है, उसके डिजाइन, जो चीजें वह खाता है उनकी पाकप्रणाली, जिस भवन में वह रहता है उसकी रूप-रेखा इत्यादि इत्यादि क्या सब उसने नये सिरे से सोचे हैं? ऐसा तो हो नहीं सकता।

अत: कुछ लोग यह जो कहते हैं कि मन को पूर्णत: रिक्त (Empty) कर दो और नये सिरे से आध्यात्मिक तथ्यों को स्वयं ही खोजो, यह बात जीवन के हर क्षण पर, हर कदम पर, हर प्रयत्न पर लागू नहीं होती। यह स्वयं में भी एक नये प्रकार की अनुकूलन (Conditioning) तथा सिद्धातान्धानुकरण (Indoctrinatun) का एक अन्धानुकरण ही है। मन पूर्णरूपेण तो कभी भी रिक्त नहीं हो सकता। जिसे हम मन की 'रिक्तता' कहते हैं उस अवस्था में भी मन कार्य-रत होता है; अन्तर केवल यही होता है कि उस समय वह बाह्य विषयों की ओर से हटा होता है और उसकी बजाय 'रिक्तता' की ओर ही उसका ध्यान होता है अथवा उस समय वह संकल्प करने की बजाय अनुभव में टिका होता है।

परन्तु हमारे कथन का यह भाव नहीं है कि हम पिछले सिद्धान्तों को सोचे-समझे बिना ही अपना लें। हम तर्क का प्रयोग करना चाहते हैं, विवेक को जागृत करना चाहते हैं परन्तु अनुकूलन अथवा सैद्धान्तिक कट्टरता, हठ या इन्डाक्ट्रिनेशन (Indocrination)

के सिद्धान्त से स्वयं ही इन्डाक्ट्रिनेशन (Indocrinated) हो जाना भूल मानते हैं। हम चाहते हैं कि आत्मा, परमात्मा इत्यादि सम्बन्धी जो सिद्धान्त हमारे सामने रखे जाते हैं, उन पर हम विचार करें, यदि वे विवेक-सम्मत हों तभी उन्हें मानें परन्तु स्वयं में अभिमान न पैदा करें और ज्ञात चीजों को फिर खोजने में समय न गंवायें।

पुनश्च, हमारा यह भी मन्तव्य है कि संसार में कोई भी एक व्यक्ति शतप्रतिशत निष्पक्ष या तटस्थ नहीं है, न ही वह संसार में प्रचलित मान्यताओं से ऊपर उठा हुआ है। हरेक आत्मा ने कई बार देह लिया है, अत: हरेक में कुछ पहले के संस्कार, रुझान इत्यादि हैं और उसका निर्णय उनसे रंगा हुआ होता है। फिर, मनुष्य अल्पज्ञ भी है तथा अल्पायु वाला जीव भी है। अत: वह पूर्णत: सत्य तक नहीं पहुँच सकता। एक परमात्मा जो ही पूर्णत: निष्पक्ष, जन्म-मरण से न्यारा, त्रिकालज्ञ, त्रिलोकज्ञ तथा सर्व-समर्थ है, वही आध्यात्म का यथा-सत्य परिचय दे सकता है। अत: अब वह अपने बारे में जो रहस्योंद्‌घाटन कर रहा है, उसके आधार पर हमें योगाभ्यास करना चाहिये। हाँ, इस कथन को चाहे हम जांचने की कोशिश करें कि क्या सचमुच परमात्मा स्वयं ज्ञान दे रहे हैं और योग सिखा रहे हैं। यदि हम सत्य स्वरूप परमात्मा व्दारा उद्‌घाटित रहस्बों को भी 'कल्पना' मानकर उनसे दूर भागेंगे तो ''सत्य कल्पना से भी अधिक अद्‌भुत होता है'' इस उक्ति की उपेंक्षा करते हुए हम अतुल लाभ से वन्चित रहेंगे।

कहने का भाव यह है कि परमात्मा का ज्योति-बिन्दु स्वरूप, ब्रह्मलोक में उसका वास आत्मा का अस्तित्व, कर्म-सिद्धान्त की सत्यता, सतयुग में पूर्ण सुखों की विद्यमानता के आधार पर पुरुषार्थ को 'कोरी कल्पना' मानना या प्रभु-चिन्तन तथा योगा-भ्यास को आत्मा-सम्मोहन इत्यादि की संज्ञा देकर इससे दूर हटना ग़लत है और स्वयं को योग द्वारा प्राप्त होने वाले ईश्वरीय आनन्द तथा सँस्कारिक पवित्रता से वंचित करना है और आत्मान्नति के प्रति विमुख होना है।

शुद्ध संकल्प

मनुष्य दिन-भर अनेक प्रकार के संकल्प करता है। कई अशुद्ध संकल्प अथवा व्यर्थ संकल्प करके वह न केवल अपने जीवन की अनमोल घड़ियों को गँवाता है बल्कि आगे के लिये भी संस्कारों को बिगाड़ता है। जब हम उसे शुद्ध संकल्प करने के लिये कहते हैं तो वह सोचता है कि यह कल्पना है! वह यह नहीं समझता कि इसमें उसका अकल्याण है। कोई माने या न माने हमारा यह कहना तो कर्त्तव्य ही है कि मनुष्य सभी के प्रति कल्याण का संकल्प (शिव संकल्प) तथा अपने बारे में शुद्ध संकल्प (मैं आत्मा हूँ, वास्तविक स्वरूप में शुद्ध हूँ) करने चाहियें ताकि उसके संस्कार अच्छे बनें!

योगाभ्यास कैसे करें, योगाभ्यास में मन की कौनसी-कौनसी अवस्थाएँ होती हैं?

'योग' का अर्थ है — मन को परमपिता परमात्मा से जोड़ना। इसके लिए मन को परमपिता परमात्मा ही की अनन्य स्मृति में एकाग्र अथवा लवलीन करना होता है। परमात्मा की स्मृति में एकटिक स्थिति होने के लिए परमात्मा के परमधाम तथा दिव्य स्वरूप आदि का परिचय होना ज़रूरी है ताकि मन को उन में एकतान किया जा सके।

जो लोग योग को 'चित्त-वृत्ति-निरोध' मानते हैं, वे भी योगाभ्यास के लिए प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का अभ्यास आवश्यक बताते हैं। 'प्रत्याहार' का अर्थ है — मन को सांसारिक विषयों से हटाना। 'धारणा' का भाव है — मन को किसी एक स्थान पर टिकाना, एक देश-विशेष में बान्धना। 'ध्यान' से अभिप्राय है — अपने ध्येय में मन को स्थिर रखना। इस अभ्यास से वे समाधि को प्राप्त करना चाहते हैं। इसके लिये वे मन को प्राणायाम इत्यादि से हठपूर्वक विषयों से हटाते हैं और किसी शरीरांग (जैसे कि नासिका के अग्र भाग) या मूर्ति इत्यादि पर अपनी दृष्टि को तथा मन को स्थिर करते हैं। परन्तु हमें तो मन को परमपिता परमात्मा के स्वरूप में तन्मय करके यथार्थ योग का अभ्यास करना है।

योगाभ्यास कैसे करें?

हमें अब यह मालूम है कि परमात्मा भी अन्य आत्माओं की भाँति एक आत्मा ही हैं परन्तु वे 'परम' हैं, अर्थात् जन्म-मरण तथा सुख-दु:ख से न्यारे हैं। अत: वे भी सभी आत्माओं की भाँति एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्योति-कण अथवा चेतन ज्योति-बिन्दु हैं, जो कि कर्मातीत हैं और कभी **अपना** शरीर नहीं लेते। वे सूर्य, चाँद एवं तारागण से पार, परमधाम अथवा ब्रह्मलोक में वास करते हैं और केवल धर्मग्लानि ही के समय वहाँ से अवतरित होकर, इस सृष्टि में परकाय प्रवेश करके, प्राय: लुप्त ज्ञान और योग की शिक्षा देने आते हैं। अत: वे ही मानवमात्र के परमगुरु भी हैं और परमपिता भी हैं क्योंकि वे ज्ञान और योग द्वारा नव जीवन अथवा आत्मिक उज्जीवन प्रदान करते हैं तथा सर्व मानवात्माओं रूप सन्तति को सम्पूर्ण पवित्रता, सुख एवं शान्ति की पैतृक सम्पत्ति (Inheritance)

भी देते हैं। इस प्रकार संसार का कल्याण करने के कारण वे 'शिव' कहाते हैं (यह 'शिव' शंकर से भिन्न हैं)! इन्हीं की दीर्घाकार प्रतिमा शिवलिंग (शिव का प्रतीक) मन्दिरों में स्थापित है।

अत: जबकि हमको ध्येय (परमात्मा शिव) का भी यथार्थ ज्ञान है, उसके देश (परमधाम) का भी और यह ज्ञान भी है कि विषय-पदार्थों में आसक्ति, दु:ख का कारण है, तो हम प्रत्याहार (विषयों से मन को हटाने), धारणा (उसे ब्रह्मलोक अथवा परमधाम में टिकाने) और ध्यान — (ज्योति-बिन्दु परमपिता, परमसद्‌गुरु परमात्मा पर एकाग्र करने) का अभ्यास सहज, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक एवं युक्ति-युक्त रीति से कर सकते हैं। हम को नासिका के अग्र भाग, या कमल-नाभि इत्यादि पर, किसी प्रतिमा इत्यादि पर भी कल्पित एवं कायिक देव-रूप पर स्थिर करने की भी क्या ज़रूरत है? हम तो मन को सृष्टि के रचयिता (Creator) सूक्ष्म ब्रह्म-तत्व वाले देश (ब्रह्मलोक) के वासी ज्योति-बिन्दु, शिव की ही लग्न में लगाते हैं जो कि ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम के सागर और सर्वशक्तिमान हैं।

योगाभ्यास में अवस्थाएँ

योगाभ्यास में अवस्थाएँ :-

१. लग्नावस्था

जब कोई मनुष्य योगाभ्यास करने के लिए बैठता है तब उसके मन में प्रभु के लिए लगन तो होती ही है क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त करने तथा विषय-विकारों में पड़ने का दु:ख रूप परिणाम जानने के बाद वह यह तो महसूस करता ही है कि — मैं यह पाँच तत्त्वों का पुतला (शरीर) नहीं हूँ बल्कि चेतन आत्मा हूँ और मुझे परमपिता परमात्मा से लौ लगाकर पतित से पावन एवं भोगी से योगी बनना चाहिए। अत: वह लगन को लेकर जब मन को परमात्मा की स्मृति में समाहित करने की चेष्टा करता है तो पुरुषार्थ शुरू होते ही उसके जन्म-जन्मान्तर के संस्कार तथा मन की चंचल वृत्तियाँ बाधा डालती हैं। इस अवस्था को **'लग्न अवस्था'** कह सकते हैं। पतंजलि ने इसे 'व्युत्थान अवस्था' कहा है। व्युत्थान का अर्थ यह है कि मन ऊपर उठना तो चाहता है परन्तु उसमें मन की चंचलता तथा संस्कार उसे उठने नहीं देते बल्कि विघ्न डालते हैं।

२. मनन अवस्था

लग्न को लेकर अभ्यास की सर्वप्रथम विधि है — ज्ञान का मनन। मन को संकल्प-

शून्य करने की बजाय उसे ईश्वरीय ज्ञान के मन्थन में लगा देना, परमात्मा के स्वरूप के मनन-चिन्तन में जुटा देना ही युक्ति-युक्त पुरुषार्थ है क्योंकि पहले-पहल अशुद्ध संकल्पों को मन में पैदा होने से रोकने का तरीका है – शुद्ध संकल्प करना। ''मैं आत्मा हूँ...ज्योति-स्वरूप, परमधाम के वासी, परमपिता परमात्मा शिव की अविनाशी सन्तान हूँ...'' इस प्रकार, आत्मा तथा परमात्मा सम्बन्धी और सृष्टि-चक्र के आदि-मध्य-अन्त सम्बन्धी ज्ञान का मनन करना, उस ज्ञान में रमण करना, उसकी जुगाली करना, उसके अर्थ-स्वरूप में टिकने का पुरुषार्थ करना अथवा उसके गूढ़ भाव में चले जाना – यह योग की दूसरी अवस्था है। इसे ही मेडीटेशन(Meditation) अथवा **'मननावस्था'** कहा जाता है। पतंजलि ने इसे 'समाधि प्रारम्भ अवस्था' कहा है। इससे मनुष्य को अभूतपूर्व शान्ति का कुछ क्षणों के लिए अनुभव होता है, किसी-किसी को दिव्य-प्रकाश भी भासता है; इस प्रारम्भिक अभ्यास के लिए प्रभु-प्रेम अथवा ईश्वरीय ज्ञान के गीत अथवा ब्रह्म-तत्व के दिव्य प्रकाश से मिलती जुलती लाल-रोशनी अथवा अव्यक्त ब्रह्मपुरी का-सा श्वेत रंग का वातावरण, सामने योगारूढ़ व्यक्ति की योग-दृष्टि सहायक होते हैं।

३. मग्नावस्था

जैसे-जैसे मनुष्य ब्रह्मचर्य, आहार शुद्धि, संग-शुद्धि, व्यवहार और आचार-सम्बन्धी नियमों का पालन करता जाता है और अपनी दिन-चर्या को भी ज्ञानानुकूल बनाता जाता है, वैसे वैसे उसके मन की ऐसी भूमिका बनती जाती है कि वह योगाभ्यास के लिए बैठते ही थोड़े-से पुरुषार्थ से ही प्रभु-स्मृति में मग्न अथवा लवलीन हो जाता है। अब उसे ज्ञान का ज्यादा मनन नहीं करना पड़ता बल्कि, ज्ञानमय स्वभाव हो चुके होने के कारण अब वह आत्म-निष्ठ तथा परमात्मा की स्मृति में स्थित हो जाता है। अब उसे मन में ऐसा संकल्प या विचार नहीं करना पड़ता कि- ''मैं आत्मा हूँ, परमपिता परमात्मा शिव की सन्तान हूँ,... ब्रह्मलोक से आया हूँ'' इत्यादि। बल्कि अब तो वह योगाभ्यास के लिए कृत-संकल्प होते ही परमात्मा के स्वरूप में समाहित मनसा वाला हो जाता है। उसका मन उसकी बुद्धि के वश हो चुके होने के कारण अब उसकी प्रज्ञा अथवा उसका विवेक प्रभु पर टिक जाता है और अनुभूति का रस लेने लगता है। परमात्मा के ज्ञान-स्वरूप, शान्तिस्वरूप, आनन्दस्वरूप, प्रेम स्वरूप इत्यादि जिस स्वरूप का लोग प्रायः वर्णन करते हैं, उसका वह तन्मयता से अनुभव करने में व्यस्त होता है। वह स्वयं को लाईट और माईट ही अनुभव करता है और इस अवस्था को पाकर वह स्वयं को कृतार्थ अथवा

सौभाग्यशाली मानता है। इसे ही जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख समझता है तथा इसी रस में डूबा रहना चाहता है। इस अवस्था का बारम्बार अभ्यास करने से मनुष्य के हेय संस्कार तनु होने लगते हैं तथा उसमें ईश्वरीय गुण प्रवेश करने लगते हैं। मानसिक निर्मलता प्राप्त होने के साथ-साथ उसे ईश्वरीय प्रेरणाओं को समझने की योग्यता भी मिलती है और उसकी बुद्धि दिव्य हो जाती है। पतंजलि इस बुद्धि को **'ऋतम्भरा बुद्धि'** कहता है और योगाभ्यास में इस चित्तावस्था को **'एकाग्र अवस्था'** कहता है। इस अवस्था में मनुष्य को बहुत ही दिव्य अनुभव होते हैं और सतोप्रधानता का प्रादुर्भाव होता है।

४. बिन्दु-रूप में स्थिति

उपरोक्त अवस्था का अभ्यास करते रहने से मनुष्य आत्माभिमानी (Soul-conscious) स्टेज, स्वाभाविक हर्ष और एकरस शान्ति को प्राप्त कर लेता है और तब उसकी ऐसी मनोभूमि बन जाती है कि वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्योति-बिन्दु रूप परमात्मा की ही अटूट, अमिश्रित, अव्यभिचारी एवं अव्यक्त अनुभूति में ऐसा तो तन्मय हो जाता है कि उसे और किसी भी प्रकार का भान नहीं रहता और कोई भी संकल्प-विकल्प विघ्न नहीं डालता! वह एक लाईट और माईट का गोला बन बैठा होता है और ईश्वरीय शक्ति तथा प्रकाश उस पर उतर-उतर कर उसके माध्यम से संसार में विकीर्ण होकर दिव्यता स्थापित करता है, परन्तु उसे इस बात का भान कि—"मैं लाईट और माईट का एक पुंज हूँ" — भी तभी होता है जब वह उस बिन्दु-स्थिति से उतरने लगता है। इस अवस्था में एक ऐसी दिव्य अग्नि-सी प्रज्ज्वलित होती है जिसे योगाग्नि कहा जता है। इससे जन्म-जन्मान्तर के विकर्म दग्ध होते हैं, बन्धन टूक-टूक हो जाते हैं, और इस अवस्था को पाकर मनुष्य के मन में यह भाव उत्पन्न होता है कि — "जैसे कुछ पाना था सो पा लिया, जो-कुछ जानना था, सो जान लिया, और कुछ भी बाकी नहीं रहा।" पतंजलि इस चित्त भूमि को 'निरोध अवस्था' कहता है; इसे ही वह असम्प्रज्ञात समाधि मानता है, इससे पहले कि सभी अवस्थाओं को 'सम्प्रज्ञात समाधि' के अनतर्गत मानता है।

५. समता और असमानता

पतंजलि ने चित्त की चार अवस्थाओं को जो नाम दिये हैं, उनका प्रयोग हमने स्वयं परमपिता शिव द्वारा सिखाये योग की अवस्थाओं के लिए किया है, ताकि जो लोग उसकी योग-प्रणाली से परिचित हैं, वे इस ईश्वर-कृत योग का भी कुछ परिचय पा सकें। परन्तु मालूम रहे कि दोनों प्रणालियों में अनेक बातों में इतना अन्तर है जितना कि मनुष्य

और भगवान में अन्तर होता है। उस अन्तर का स्पष्टीकरण इस छोटे-से लेख की परिधि से बाहर है। यहाँ हम इतना कह कर समाप्त करते हैं कि पतंजलि के योग में उद्‌गम और केन्द्र-बिन्दु तथा प्रेरणा स्त्रोत और प्राप्य ईश्वर नहीं है; उसमें ईश्वर को बहुत ही गौण स्थान प्राप्त है जबकि दूसरा योग ईश्वर-प्रेरित, ईश्वर-प्रधान तथा ईश्वर ही को केन्द्र-बिन्दु मानने वाला है। इसलिए पतंजलि के योग से ईश्वरीय बपौती की प्राप्ति नहीं होती जबकि दूसरे (अर्थात् परमपिता परमात्मा शिव द्वारा सिखाये गए योग से) यह प्राप्ति होती है।

स्वरूप-स्थिति और मग्नावस्था अथवा समाधि

वर्तमान् समय यों तो अनेकानेक प्रकार के योग प्रचलित हैं परन्तु पतंजलि द्वारा लिखित 'योग दर्शन' के आधार पर 'राजयोग' अधिक प्रचलित है। उस योग प्रणाली में अन्य योग, जिनकी संख्या एक सौ से भी ऊपर है, काफी हद तक, थोड़े रूपान्तर के साथ, समाये हुए-से हैं। अब हम परमपिता परमात्मा शिव से, प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा, जो योग सीख रहे हैं, वह भी राजयोग ही है। पतंजलिकृत राजयोग तथा परमपिता परमात्मा शिव-कृत राजयोग में किसी-किसी बात में समता भी है और बहुत सी बातों में महान् अंतर भी है। हम समस्त योग प्रणाली की यहाँ चर्चा न करके, केवल 'समाधि' की चर्चा करते हुए दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

दोनों का नाम 'राजयोग'

परन्तु पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि दोनों का नाम 'राजयोग' क्यों है? इस विषय में यह जानना ज़रूरी है कि बहुत पहले कुछ लोगों की यह विचारधारा थी कि मनुष्य को शारीरिक कुशलता के साधन से ही आत्मिक विकास प्राप्त करना चाहिये। उनकी मान्यता थी कि यह सृष्टि-मंच महाभूतों का ही रचा हुआ खेल है, अत: असामान्य शारीरिक सामर्थ्य द्वारा ही इन पर विजय प्राप्त की जा सकती है। अत: गोरखनाथ इत्यादि ने हठयोग प्रचलित किया जिसमें कि हठ-क्रियाओं, प्राणायाम तथा चौरासी आसनों पर ही बल दिया गया तथा नेति-धोति-बस्ति, त्राटक इत्यादि क्रियायें करके शरीर को सब मलों से निवृत्त करने तथा मन को बाँधने के साधन अपनाने पर ज़ोर दिया गया।

परन्तु अन्य कुछ लोगों की मान्यता में मन का अधिक महत्व था। उनका कथन था कि सब प्रकार की भौतिक शक्तियों और घटनाओं की बागडोर तथा कर्म-विकर्म का उद्गम मन अथवा चित्त में है। अत: उनका यह मन्तव्य था कि मन को पूर्ण रूप से स्वस्थ संयमी बनाकर, संकल्प शक्ति को शुद्ध करना चाहिये और बढ़ाना चाहिये अथवा चित्त की वृत्तियों का निरोध करना चाहिये। उन्होंने जिस योग मार्ग को स्थापित किया उसका नाम हुआ — 'राजयोग'। पतंजलि-कृत योग मार्ग का नाम 'राज योग' इसलिए हुआ कि यह हठयोग से सहज था और इसे राजा भी कर सकते थे। कुछ लोगों का कथन है कि चूंकि यह अन्य योग मार्गों की अपेक्षा उच्च है, इसलिये यह 'राजयोग' नाम से प्रसिद्ध

हुआ।

परन्तु परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा के द्वारा जो राजयोग सिखाया है, वह उपरोक्त दृष्टिकोण से तो राजयोग है ही, अर्थात् वह योग सभी योगों से श्रेष्ठ है और ऐसा सहज भी है कि राजा भी उसका अभ्यास कर सकते हैं, परन्तु इसके अतिरक्त, उसे 'राजयोग' कहने का एक कारण यह भी है कि मनुष्य उस योग अभ्यास से 'मन जीते जगत्-जीत' अथवा 'माया जीते जगत्-जीत' की उक्ति के अनुसार स्वर्ग में चक्रवर्ती दैवी राजा-पद प्राप्त करता है। श्री लक्ष्मी और श्री नारायण स्वर्ग अथवा बैकुण्ठ के दैवी रानी और राजा हैं जो कि पूर्णतः पावन भी हैं और ताज-तख्त के स्वामी भी हैं। ऐसा ही पद इस राजयोग का कुशलतापूर्वक अभ्यास करने वालों को भी प्राप्त होता है। यदि वे इस योग की पराकाष्ठा या उच्चतम कक्षा में न पहुँच पायें तो भी उन्हें दैवी राज-कुल में उनकी स्थिति के अनुसार देवपद प्राप्त होता है। यह ऐसा राजपद है जिसे कि आजकल के राजा (भूतपूर्व राजा) भी पूज्य पद मानते हैं; तभी तो वे श्रीलक्ष्मी और श्रीनारायण आदि का गायन, वन्दन और पूजन करते हैं।

एक अन्तर और भी है। पतंजलि ने तो योग को 'चित्त-वृत्ति-निरोध' माना है। मन को वृत्ति-शून्य करने के कारण ही उसे 'राजयोग' कहा गया है। परन्तु परमात्मा शिव ने जो योग सिखाया है, इसे 'राजयोग' इस कारण भी कहा गया है कि यह बुद्धियोग है। बुद्धि को राजा, मन को मन्त्री तथा कर्मेन्द्रियों को प्रजा से उपमा दी जा सकती है। चूँकि परमात्मा द्वारा सिखाये जाने वाले योग में बुद्धि अथवा ज्ञान द्वारा ही मन को ईश्वरीय स्मृति में मग्न अथवा समाहित किया जाता है, इसलिये भी इसे 'राजयोग' कहा गया है।

इस योग द्वारा राजवंश स्थापित हुए

इसे 'राजयोग' कहने का एक कारण और भी है। संसार में जब कोई राजवंश स्थापित करना चाहता है तो उसके लिये या तो वह बाहुबल (शस्त्रबल) वाली सेना द्वारा दूसरे राजा पर चढ़ाई करके उसे पराजित करता है या वह इतना दान-पुण्य करता है कि उसके फलस्वरूप अगले जन्म में, राजकुल में जन्म लेकर वह राजगद्दी का उत्तराधिकारी बनता है। परन्तु परमपिता परमात्मा कलियुग के अन्त में जब अधर्म का तथा आसुरी सम्प्रदायों का महाविनाश कराते हैं तो उससे कुछ पहले ही वह गीता-ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा देकर दैवी सम्प्रदाय की पुनः स्थापना करते हैं जोकि अपने योगाभ्यास के फलस्वरूप भविष्य में राजपद प्राप्त करते हैं। गोया इस योग द्वारा ही सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी चक्रवर्ती सतोप्रधान दैवी राजकुल स्थापित होते हैं। इसी के बारे में ही गीता में

कहा गया है कि – ''मैंने पहले यह ज्ञान सूर्य (ब्रह्मा) को सिखाया, सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु (चन्द्रवंश के आदि राजा को सिखाया)।''

पतंजलि के योग से भी सहज

पुनश्च, पतंजलि द्वारा सिखाया गया योग निस्सन्देह हठयोग से तो सहज है ही, किन्तु फिर भी उसमें प्राणायाम, आसनों इत्यादि को योग के आठ अंगों में गिनाया गया है और वृद्ध, नारी, दुर्बल व्यक्ति इत्यादि के लिये इन सबका अभ्यास करना कठिन है और इनमें राजकुलोचित सुगमता तथा सूक्ष्मता नहीं जान पड़ती। परमपिता परमात्मा शिव ने जो योग सिखाया है, वह तो नियम, ईश्वरीय स्मृति और स्वरूप-स्थिति, यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि ही के श्रेष्ठ अभ्यास को लिये हुए है; उसमें आसन, प्राणायाम इत्यादि की आवश्यकता नहीं है। यों तो पतंजलि ने भी कहा है कि जब मनुष्य आत्म-स्वरूप में स्थित होता है तो उसका स्वत: ही सहज प्राणायाम होता है।१ उसने आसन के बारे में भी कहा है कि जिस किसी तरह भी कोई सुख से बैठ सके वह आसन है।२ परन्तु उसने इन दोनों कथनों को गौण स्थान दिया अवश्य है जिसका परिणाम यह है कि आज लोग इन दोनों (प्राणायाम और आसन) को बहुत महत्त्व देते हैं और सामान्य लोग तो इन्हीं को योग समझते हैं।

सोचने की बात है कि जबकि पतंजलि ने चित्त की वृत्तयों के निरोध को ही योग माना है तब प्राणायाम और आसन की ओर ध्यान देना भी तो गोया चित्त की वृत्तियों को एक ही लक्ष्य में स्थित करने की बजाय उसकी वृत्ति देहाकार बनाने के तुल्य ही है? जब चित्त की हरेक वृत्ति को हमने समाप्त कर देना है, तब चित्त को इन शारीरिक क्रियाओं में भी हम क्यों लगायें? जबकि आत्मा को स्वरूप में स्थिति करना ही योग३ तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम है, तब हम आत्मिक स्थिति का अभ्यास क्यों न करें, देह-भान की ओर ले जाने वाली शारीरिक क्रियायें क्यों करें?

पंतजलि आदि का यह मन्तव्य है कि ये चित्त की वृत्तियों का निरोध करने में सहायक हैं परन्तु उसने दूसरी ओर यह भी तो कहा है कि अभ्यास और वैराग्य से चित्त विराम होता है और उसने स्वयं ही कहा है कि 'अभ्यास' नाम 'लक्ष्य में चित्त को स्थित' करने का है। तो जबकि ईश्वर-प्रणिधान से, अर्थात् ईश्वरीय स्मृति के अभ्यास से तथा ज्ञान द्वारा वैराग्य से मन एकाग्र अथवा समाधिस्थ हो सकता है तब इन शारीरिक क्रियाओं की क्या आवश्यकता है?

पतंजलि ने तो स्वयं ही निर्बीज समाधि के दृष्टिकोण से इन साधनों को बहिरंग

१. साधनपाद २/४६ २. साधनपाद २/५१ ३. तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम्।

माना है। उसने यह भी कहा है "कि विदेह और प्रकृति-लय योगियों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात समाधि का अर्थात् उच्चतम स्थिति का लाभ हो जाता है। तब प्रकृति और दैहिक बातों की ओर ध्यान देने की बजाय क्यों न विदेह और प्रकृति से पर-अवस्था (आत्म-स्थिति) में टिकने का अभ्यास किया जाय? तो कहने का भाव यह है कि यदि हठ-क्रियाओं के न होने के कारण, सुगमता के कारण तथा चित्त ही को महत्व देने के कारण पतंजलि-कृत योग को 'राजयोग' नाम दिया गया है तब तो परमपिता परमात्मा शिव द्वारा बताये गये योग को 'सहज राजयोग' कहना सही है क्योंकि उसमें तो अन्य हठ क्रियाओं के अतिरिक्त प्राणायाम और आसन भी नहीं है और चित्त का भी प्रज्ञा अथवा बुद्धि द्वारा, याने ज्ञान द्वारा ही वश करने का अभ्यास है।

मग्नावस्था अथवा समाधि अवस्था

राजयोग की व्याख्या कर चुकने के बाद, अब हम यह देखेंगे कि पतंजलि ने 'समाधि' अवस्था की क्या व्याख्या की है और परमपिता परमात्मा शिव ने योग की किस अवस्था को सर्वोत्तम बताया है?

पतंजलि ने कहा है कि जिस अवस्था में मनुष्य अपनी सुधि-बुद्धि भूल जाता है अर्थात् स्वरूप-शून्य हो जाता है और उसे केवल ध्येय ही की प्रतीति रहती है, उसी अवस्था का नाम 'समाधि' है।[१] इससे स्पष्ट है कि पतंजलि जिसे 'समाधि' कहता है, वह कोई 'ईश्वरानुभूति में मग्न होने की अवस्था' या 'आत्म-स्थिति की अवस्था' नहीं है बल्कि वह तो किसी भी जगह, किसी भी लक्ष्य को लेकर, किसी को भी ध्येय मानकर, वहाँ मन को स्थिर करने का अभ्यास करते-करते ऐसी अवस्था को पहुँचना चाहता है जहाँ अपना (आत्मा का) तो भान रहे ही नहीं और केवल उस लक्ष्य का (चाहे वह ईश्वर हो या और कुछ हो — इसमें कोई अन्तर नहीं) भान रहे। इसलिये उसने स्वरूप-शून्य अवस्था को तो समाधि के अन्तर्गत कहा है परन्तु कहीं भी यह नहीं कहा कि — "प्रभु की लग्न में मग्न अवस्था 'योग' है।"' उसका लक्ष्य ही ईश्वरानुभूति नहीं मालूम होता बल्कि वह तो चित्त की क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों को ही संसार में दु:खों का कारण मानकर, येन-केन प्रकारेण इनका निरोध करना चाहता है[२] ताकि कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो।

अत: आप देखेंगे कि उसने तो स्मृति को भी एक वृत्ति मानते हुए, उसके भी निरोध के लिये कहा है। पतंजलि ने पाँच प्रकार की चित्त-वृत्तियाँ मानी हैं[३] — (i) सत्य

---

१. *तदेवार्थभात्रिनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधिः* २. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः
३. वृत्तयः पंचतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टः (समाधिपाद-२ और ५)

ज्ञान से युक्त वृत्ति जिसे उसने 'प्रमाण' कहा है। (ii) मिथ्या ज्ञान से युक्त वृत्ति जिसे पतंजलि ने 'विपर्य्य' माना है। (iii) मन की वृथा उधेड़-बुन वाली वृत्ति जिस उसने 'विकल्प' नाम दिया है। (iv) संकल्प-विकल्प शून्य अवस्था अथवा अभाव के ज्ञान की प्रतीती वाली वृत्ति जिसे उसने 'निद्रा' कहा है और (v) स्मृति। पतंजलि ने पहली वृत्ति के साथ स्मृति को (चाहे वह ईश्वरीय स्मृति क्यों न हो) निरूद्ध करने के लिये कहा है। इन सभी वृत्तियों के निरोध को ही तो उसने 'योग' नाम दिया है।१

फिर उसने इन वृत्तियों के निरोध के लिये जो अभ्यास और वैराग्य नाम वाला पुरुषार्थ बताया है; उस अभ्यास के बारे में भी पतंजलि ने यह नहीं कहा कि आत्म-स्थिति (Soul-Consciousness) का अभ्यास करो अथवा परमात्मा की स्मृति में स्थिर होने का अभ्यास करो बल्कि उसने तो कहा है कि किसी भी बिन्दु पर मन को सभी वृत्तियों से शून्य करने का यत्न करो।२

वैराग्य के बारे में भी उसने केवल संसार के प्रति वैराग्य नहीं बताया बल्कि ईश्वर की स्मृति में स्थिति होने से जो आनन्द अनुभव होता है, उससे भी वैराग्य धारण करने को उच्च अवस्था बताया है। पतंजलि ने समाधि की चार अवस्थायें बतायी हैं – वितर्क समाधि, विचार समाधि,आनन्द समाधि और अस्मिता समाधि, उसने आनन्द वाली समाधि को भी गौण बताया है। उसको भी छोड़ने का नाम वह 'परमवैराग्य' मानता है और उसे ऊंची समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) बताता है। हालाँकि आनन्द तो परमात्मा का एक महान् गुण है और आनन्दानुभूति तो ईश्वरानुभूति को सूचित करती है परन्तु पतंजलि ने उससे भी वैराग्य करने को कहा है। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि जिसे 'योग' कहता है उसका उद्देश्य ईश्वरानुभूति नहीं बल्कि केवल चित्तवृत्ति निरोध है।

परमात्मा द्वारा सिखाये गये राजयोग की विशेषताएँ

परन्तु परमपिता परमात्मा शिव अथवा गीता के भगवान ने जो योग सिखाया है, वह परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ने का ही पर्यायवाची है। उसमें परमात्मा की सूक्ष्म-स्मृति (न कि किसी मन्त्र की पुनरावृत्ति रूप स्मरण) का बहुत महत्व है। भगवान ने समझाया कि – "मनुष्य को जिस समय जिस पदार्थ अथवा व्यक्ति की स्मृति हो, उस समय वैसे ही उसकी स्थिति होती है और तदनुसार ही उसकी वृत्ति भी होती है।" अत: वे ईश्वरीय स्मृति के अभ्यास के लिये मत देते हैं। यह स्मृति परमात्मा से मानसिक

१. तत्र स्थितौ यत्नोभ्यास: (समाधि० १३)

२. तदेवार्थभात्रिनिर्भासं स्वरूप शून्यमिव समाधि:

सम्बन्ध जोड़ने का साधन है और यह सम्बन्ध जोड़ना ही 'योग' है, सम्बन्ध से ही सदा प्राप्ति होती है। सम्बन्ध के आधार पर पुत्र को पिता से उत्तराधिकार अथवा जन्म-सिद्ध अधिकार मिलता है, नौकर को स्वामी से वेतन मिलता है, छात्र को अध्यापक से विद्या प्राप्त होती है; इसी प्रकार, सम्बन्ध ही प्राप्ति का साधन है। अत: परमपिता परमात्मा कहते हैं कि – ''परमात्मा की स्मृति में ठीक तरह स्थित होने से एक स्थिति मानसिक अवस्था अथवा चित्त-वृत्ति दिव्य बनेगी, उसका मल नष्ट होगा और संस्कार शुद्ध होंगे और, दूसरे, इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने से परमपिता परमात्मा से आत्मा को बपौती अधिकार (God-Fatherly Inheritance) भी मिलेगा, अर्थात् शक्ति (Might) शान्ति, स्वास्थ्य तथा सर्व सुखों की भी प्राप्ति होगी''।

परमात्मा शिव इस स्मृति के लिये कोई कृत्रिम अभ्यास करने के लिये नहीं कहते, यों ही कोई ध्येय, कोई बिन्दु, मन की एकाग्रता के लिये कोई शरीरांग चुन लेने को 'योगाभ्यास' नहीं कहते, न ही मन को उस में समाहित करने का नाम 'समाधि' मानते हैं, बल्कि जैसे पुत्र को पिता की स्मृति रहती है, वैसे ही प्रेम तथा ज्ञान से सम्पन्न ईश्वरीय स्मृति अथवा ईश्वरीय लग्न में मग्नावस्था को योग समाधि (वास्तव में योग-स्थिति, अव्यक्त स्थिति या बिन्दु स्थिति) कहते हैं। पतंजलि ने तो पुत्र-पिता का इस प्रकार का सम्बन्ध जोड़ने या ईश्वर के प्रेम में विभोर होकर, मन द्वारा उस पर वारि जाते हुए, उसके मनोमिलन[१] को योग नहीं कहा है, न ही इस प्रकार के टूटे हुए आत्मिक नाते को पुन: जोड़ने को 'समाधि' नाम दिया है। उसकी 'समाधि' तो दूसरे शब्दों में 'अवधान' (Concentration of mind) की पराकाष्ठा है, वह ईश्वरीय गुणानुवाद या परमात्मा के स्वरूप की अनन्य, एकतान, सर्वभावेन, ज्ञानयुक्त स्मृति (Transcendental Meditation) का नाम नहीं है।

समाधि के प्रकार

पतंजलि ने चार आधारों को लेकर समाधि के चार प्रकार बताये हैं। उनमें से प्रथम को उसने 'वितर्क समाधि' बताया है। इसका क्या अर्थ है? 'व्याख्याकार कहते हैं कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह या राम, कृष्ण आदि की मूर्त्ति-अर्थात् किसी भी स्थूल वस्तु या प्राकृतिक पंच-भूतों पर इन्द्रियों की भावना से की हुई अर्थात् उनमें नेत्र (दृष्टि) स्थिर करके या हाथों के द्वारा उसकी अर्चना करते करते, चित्त को उसमें तन्मय करना 'वितर्क समाधि' है।

परन्तु सोचने की बात है कि – ''क्या हम इसे 'योग' मान सकते हैं? पिछले

१. वियोग (बिछुड़ने) का प्रतिपक्षी शब्द योग (मिलना) है।

पृष्ठों में हम परमपिता परमात्मा शिव द्वारा बतायी हुई योग की जो व्याख्या कर आये हैं, उसके अनुसार तो इस समाधि को हम योग-अनुगत मान ही नहीं सकते। सूर्य, चन्द्र इत्यादि पर मन एकाग्र करना कोई ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करना थोड़े ही है? यदि कोई इन्हें मानो-कल्पना के आधार पर ईश्वर के चिन्ह मान भी ले तब भी तो इसमें वह वृत्ति समायी हुई है जिसे पतंजलि 'विपर्य्य' अथवा 'विकल्प' (मिथ्या ज्ञान से मुक्त वृत्ति) अथवा 'कल्पना' मानता है क्योंकि ये तो ईश्वर के चिन्ह हो ही नहीं सकते। पहले-पहले तो यह निश्चित होना चाहिये कि 'योग' का भावार्थ-'ईश्वर' की स्मृति में मन को एकाग्र करना' अथवा लवलीन करना है। ईश्वर को छोड़कर तो योग आध्यात्मिक प्रगति का साधन भी नहीं हो सकता, न उसका अध्यात्म (Spiritualism) में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान हो सकता है। योग की परिभाषा में 'ईश्वर' को अनिवार्य रूप से शामिल करने के बाद प्रश्न उठता है कि ईश्वर कौन है? ईश्वर 'पुरुष-विशेष' है, वह क्लेश तथा कर्म-विपाक से रहित, याने जन्म-मरण से भी न्यारा है। तब भला सूर्य, चन्द्र पर मन को तल्लीन करना 'योग या समाधि' कैसे कहा सकता है? क्या वे 'पुरुष-विशेष' हैं और वे ब्रह्मा आदि के भी गुरु हैं[१] क्या श्रीराम और श्रीकृष्ण कर्म-विपाक से न्यारे तथा काल से ऊपर थे या प्रकृति के परिवर्तनशील शरीर के लिए सुख-भोक्ता थे? अतः पदार्थों या प्रकृति-निर्मित शरीरों में मन एकाग्र करना तो गोया देह-अभिमान अथवा स्थूल-बुद्धि को धारण करना है। परमपिता परमात्मा शिव तो इसे 'समाधि' अथवा 'योग स्थिति' की संज्ञा न देकर, ईश्वर-विमुख अवस्था, प्रकृतित्व का भान अथवा मानसिक तौर पर एक प्रकार का 'तत्व योग' कहते हैं।

पतंजलि ने आधार-भेद से समाधि का दूसरा भेद 'विचारानुगत समाधि' माना है। यह कैसी समाधि होती है? व्याख्याकारों का कथन है कि स्थूल पदार्थों पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास कर लेने के बाद सूक्ष्म-पदार्थों, सूक्ष्म रूप, रस, गन्ध, शब्द इत्यादि के भावनात्मक विचार के माध्यम से जो समाधि होती है वह 'सविचार समाधि' होती है। मान लीजिये कि किसी ने अपने नेत्रों के सामने श्रीकृष्ण की स्थूल प्रतिमा रखकर उस पर त्राटक करने (दृष्टि टिकाने) की बजाय मन में श्री कृष्ण का रूप कल्पित करके, उस पर उसे स्थिर करने का अभ्यास किया और उसमें उसे स्थिरता प्राप्त हो गयी तो उसकी

समाधि को 'सविचार समाधि' कहेंगे क्योंकि वह विचारों का (न कि स्थूल

---

१. पतंजलि ने ईश्वर के बारे में कहा — 'सा पूर्वेषामपि गुरु'। पतंजलि ने कहा है कि परमात्मा कर्म—बन्धन से न्यारा तथा काल से परे है।

प्रकृतिकृत पदार्थों का) आधार लेकर मन को एकाग्र करता है। वह इस प्रकार सोचता है कि – "मेरे सामने मुरली बजाने की मुद्रा में श्रीकृष्ण हैं, वे वैकुण्ठ के एक बग़ीचे में खड़े हैं, पुष्पों की अतीव रमणीक सुगन्धि है, फल बड़े दिव्य रसों से भरपूर हैं.....आदि-आदि।"

परन्तु परमपिता परमात्मा कहते हैं कि – "मैं तो ज्योति-स्वरूप हूँ, अशरीरी अथवा अकाय हूँ, परमधाम का वासी हूँ जहाँ केवल ब्रह्मतत्व है, दूसरा कुछ नहीं। मेरी ही शुद्ध, एकीभाव से स्मृति का नाम योग है। सूक्ष्म शरीर वाले देवताओं का भी मैं रचयिता हूँ। रचना को याद न करके मुझ रचयिता (Creator) परमपिता (Supreme Father) ही की स्मृति में मन को समाहित करना तथा मेरी ही शरणागत होना योग है, अन्य सभी प्रकार की स्मृति 'भक्ति'है, चाहे वह अन्तरंग भक्ति (मानसिक भक्ति) हो चाहे बहिरंग भक्ति। वह ज्ञान पर आधारित नहीं हैं। पहले तो चित्त में आत्मा के स्वरूप का तथा परमपिता परमात्मा का ज्ञान होना चाहिये, उसी के आधार से ईश्वरीय स्मृति में तल्लीनता होनी चाहिए, वही 'योग-समाधि' अथवा 'योग-स्थिति' है। इसलिये भगवान ने ज्ञान पर बल देते हुए, अपने स्वरूप में टिकने को कहा है।

विषय का अधिक विस्तार न करते हुए, यहाँ यह कह देना ज़रूरी है कि पतंजलि ने वितर्क और विचार वाली समाधि के बाद, आनन्द वाली समाधि मानते हुए, उससे भी ऊपर अस्मितानुगत समाधि को माना है! व्याख्याकार 'अस्मिता' अहंकार को कहते हैं। अपनेपन का ही भान रहे और सब मान मिट जाएं, आनन्द का भी अनुभव न रहे – इसे अस्मिता समाधि कहा गया है। पतंजलि इसे उच्च समाधि मानता है। इसमें केवल शुद्ध अहंकार अथवा अहंभाव रहता है। पतंजलि ने यहाँ भी ईश्वर-भाव अथवा ईश्वर के स्वरूप के भान को स्थान नहीं दिया।

परन्तु परमपिता परमात्मा शिव 'ईश्वर-निष्ठा' को तो सब प्रकार से परम महत्व (Supreme importance) देते हैं, वे ईश्वर स्मृति को योग का सर्वप्रमुख अंग मानते हैं।

पतंजलि ने ऊपर चार प्रकार के आधारों के अनुसार चार प्रकार की जो समाधि बतायी है, उसे वह 'सम्प्रज्ञात समाधि' मानता है। उसका कथन है कि इससे मनुष्य को 'विवेक ख्याति' प्राप्त होती है, अर्थात् प्रकृति और आत्मा को पृथकत्व (अलगाव) का भान होता है। जब इससे भी वैराग्य हो जाता है, जिसे कि पर-वैराग्य कहा गया है, तब विवेक-ख्याति (आत्मा और शरीर की अलग-अलग अनुभूति) का भी निरोध होता है, तब उसे 'असम्प्रज्ञात समाधि' कहते हैं। इसमें चित्त का केवल आभास मात्र होता है। पतंजलि

ने इसे ही सर्वोत्तम समाधि अथवा समाधि की अन्तिम अवस्था माना है। 'असम्प्रज्ञात' शब्द का भावार्थ ही यह है कि उसमें और कुछ भी ज्ञान या भान नहीं रहता। मन जिसका ध्यान कर रहा होता है, उसी से उसका एकीभाव होता है। उससे भिन्न उसे कुछ सूझता ही नहीं।

ऊपर बताई 'सम्प्रज्ञात' और 'असम्प्रज्ञात' समाधि के बारे में भी स्पष्ट है कि मन का अपना ध्येय, स्मरणीय अथवा इष्ट के साथ एकीभाव हो जाना, उसे अन्य किसी भी प्रकार का संकल्प-विकल्प न आना — यह उच्च-कोटि की तन्मयता तो है परन्तु इसमें भी मन को ईश्वर पर तन्मय करना नहीं पाया जाता है। पुनश्च, देह से आत्मा का पृथकत्व तथा प्रभु के स्वरूप में टिकाव का रसास्वादन ही तो योग की उच्च देन है, यह अवस्था तो विश्व के राज्य से भी कोटि गुणा उच्च सुख का अनुभव देने वाली है, इसका भी निरोध करना 'योग समाधि' नहीं है — ऐसा ईश्वरीय मत है।

परमपिता परमात्मा शिव ने जो योग सिखाया है उसके अनुसार तो निर्विकार, निर्विकल्प, अनन्य, अत्यन्त प्रेम-सम्पन्न मनोभाव से बुद्धि की परमात्मा में स्वरूप की स्थिति, प्रभु से मिलन, उससे शक्ति, शान्ति तथा आनन्द प्राप्ति का रसास्वादन उसमें एकान्तता से प्रकाश (Light) और शक्ति (Might) के पुन्ज रूप में टिकाव ही योग की परमावस्था है। रचयिता परमात्मा की स्मृति के बिना योग का कोई प्रयोजन ही नहीं है।

आध्यात्मिक पुरुषार्थ में आने वाले विघ्नों को कैसे पार करें?

योगीश्वर परमपिता परमात्मा शिव ने प्रजापिता ब्रह्मा द्वारा समझाया है कि आध्यात्मिक पुरुषार्थी के मार्ग में अथवा योगाभ्यासी के सामने मुख्य रूप से आठ प्रकार के विघ्न आते हैं। वह विघ्न ये हैं – (१) अलबेलापन (२) संशय (३) व्यर्थ संकल्प अथवा बुरे संस्कारों का उदय (४) विकट परिस्थितियाँ अथवा समस्यायें (५) थक़ावट, उत्साह की कमी अथवा अरुचि (६) पूर्व कर्मों का हिसाब-किताब (७) मानसिक दण्ड और (८) व्याधि।

चाहे कोई भी व्यक्ति हो, वह कितना ही तीव्र वेग वाला पुरुषार्थी क्यों न हो, उसे इन विघ्नों से पार अवश्य होना पड़ता है। किसी के सामने एक विघ्न पहले आता है तो दूसरे के सामने दूसरा, परन्तु ये विघ्न आते अवश्य हैं। अत: जो कोई भी आध्यात्मिक उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहता है, उसे इन विघ्नों को पार करने की विधि जाननी चाहिये। परमपिता परमात्मा शिव ने सभी मनुष्यात्माओं के कल्याण के लिए इन्हें सहज रीति से पार करने की युक्तियाँ बताई हैं। अब हम एक-एक विघ्न का और साथ-साथ उसे पार करने की विधि का उल्लेख करेंगे।

मौलिक बातों की स्मृति

इन विघ्नों को लाँघने की विधि को जानने से पहले हमें मौलिक बातों को सदा अपनी स्मृति में रखना चहिये। परमपिता परमात्मा शिव ने समझाया है कि यदि किसी समस्या के बारे में हम पहले से ही जानते हों कि वह हमारे सामने आयेगी तो उसके लिए हम पहले से ही तैयार रहते हैं और उसके आ जाने पर हम ज्यादा घबराते नहीं हैं क्योंकि उसका हमें पहले से ही पता होता है। अत: एक बात तो हमें यह याद रखनी चाहिये **कि ये विघ्न आयेंगे।** हमारे मार्ग में तूफान, रोड़े-पत्थर, ऊंच-नीच, चढ़ाई इत्यादि अवश्य आयेंगे। दूसरा यह याद रखना चाहिये कि ये तो हमारी ईश्वरीय विद्या अथवा योग-विद्या के अभ्यास में प्रेक्टिकल परीक्षा-पत्र के समान हैं। विद्यार्थी परीक्षा को पार करके ही तो आगे बढ़ता है और, वह जितना आगे बढ़ता है, अगली कक्षा में उसके सामने

उतने ही अधिक कठिन परीक्षा-पत्र अथवा प्रश्न रक्खे जाते हैं। उन्हें पार करने से तो योग्यता बढ़ती है और हर्ष में भी वृद्धि होती है। अत: इन विघ्नों को परीक्षायें मान कर इन्हें तत्परता से पार करना चाहिये और इन्हें मार्ग की यथार्थता के चिन्ह समझना चाहिये, जैसे की सड़क पर जाता हुआ कोई व्यक्ति फासला इंगित करने वाले पत्थर (Mile Stone) को देखकर समझता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूँ। तीसरी बात यह है कि सदा इसी निश्चय में स्थित रहना चाहिये कि सर्व-समर्थ परमपिता परमात्मा की मार्ग-प्रदर्शना मुझे प्राप्त होने से मैं इन्हें अवश्य पार कर ही लूँगा।

१. अलबेलापन

पुरुषार्थ में सबसे अधिक हानिकारक बात मनुष्य का अपना ही अलबेलापन है। जब मनुष्य अपने मन, वचन व कर्म पर ध्यान (Attention) नहीं देता और अपनी स्थिति या अवस्था की जाँच (Checking) नहीं करता या करवाता, तब उसका पुरुषार्थ ढीला पड़ जाता है, अभ्यास टूट जाता है, प्रगति रुक जाती है और परिणाम यह होता है कि उसका मन सांसारिक भोगों की ओर झुक जाता या तो वह योग एवं नियमों के प्रति उदासीन हो जाता है। अत: अलबेलेपन को अपने मन में कभी भी नहीं घुसने देना चाहिये।

छोटी-छोटी भूलों को छोटी अथवा हल्की-सी बात मानकर छोड़ देना, अर्थात् उन्हें मामूली बात मानकर भूलें करते रहना भी अलबेलापन है। योग साधन में लापरवाही करना, व्रतों को अधूरा छोड़ देना, कार्य बिगड़ जाने पर भी अपने को सुधारने तथा कार्य को सँवारने के लिए लग्न और तत्परता से काम न करना – ये अलबेलापन है जोकि बहुत ही हानिकारक है।

हमें सात्विक बनाने वाले नियमों को किसी हालत में भी नहीं छोड़ना चाहिये और अपनी पवित्रता की रक्षा के लिए सदा दृढ़ संकल्प धारण करना चाहिये। किसी के संग में, किसी के कहने पर हँसी या विनोद में, किसी छोटी-सी परिस्थिति में अपने जीवन की उच्च धारणाओं को छोड़ देना, किन्हीं भूलों अथवा अनियमितता (Lapses) को छोटा मान कर चला देना – आगे जाकर बहुत ही घातक सिद्ध होता है। अत: छोटी बात को छोटा नहीं समझना चाहिये बल्कि दूसरों के संग में रहते हुए भी हमें अपने धर्म से नहीं गिरना चाहिए, अपनी मान्यताओं को नहीं छोड़ देना चाहिये और दूसरों के कथन अथवा आग्रह के सामने हिम्मत हारकर या लज्जा एवं संकोचवश अपने उसूलों को ढीला नहीं कर देना चाहिये।

इसी प्रकार, घर में, दफ्तर में, दुकान में या यात्रा में हमें योगाभ्यास को, स्वभाव

की दिव्यता को, ज्ञानाध्ययन तथा नित्य के पुरुषार्थ को भी नहीं छोड़ देना चाहिये।

ऐसा नहीं सोचना चाहिये कि – "**कल से** अमुक दैवी गुण धारण करना शुरू करूँगा...अमुक परिस्थिति पार हो जाय **तब से** योगाभ्यास के लिए समय निकालूँगा, फलाँ अवसर के आने पर मैं अमुक पुरुषार्थ प्रारम्भ करूँगा–।"

कल किसने देखा है? कौनसा श्वास अन्तिम श्वास होगा – यह क्या पता है? अत: मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि – "यदि अभी मेरे प्राण निकल जायँ, क्षण में, पल में, घड़ी में काल मुझे ले जाय तो मेरी क्या स्थिति होगी, क्या गति होगी और क्या वृत्ति तथा स्मृति होगी? इस प्रकार, मनुष्य को चाहिए कि हर घड़ी को अपनी अन्तिम घड़ी समझे। आज का संसार ही ऐसा है कि मनुष्य के हृदय की गति अचानक ही रुक जाती है, अचानक ही दुर्घटना हो जाती है, कोई रोग घेर लेता है और कोई आपदा सिर पर आ बनती है। अत: अपने जीवन को ऊंचा उठाने के लिए अपने भविष्य को उज्जवल बनाने के लिए सदा **वर्तमान में** अच्छे संकल्प, श्रेष्ठ कर्म तथा तीव्र पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये। यह तब हो सकेगा जब हम इसी जीवन को सृष्टि-चक्र में अपना अन्तिम जीवन मानेंगे और हर घड़ी के बारे में यह सोचेंगे कि हो सकता है कि यह इस जीवन की **अन्तिम घड़ी** हो। अब कलियुगी सृष्टि का **महाविनाश निकट** है और इस रहे हुए समय में ही, अर्थात् इस पुरुषोत्तम युग में हमें नर से श्री नारायण और नारी से श्री लक्ष्मी बनने का उद्यम करना है।

इसके अतिरिक्त, हमें यह भी याद करना चाहिये कि यदि इस थोड़े-से समय में हम अच्छा पुरुषार्थ करेंगे अर्थात् नियमों का पूर्णत: पालन करेंगे तथा अच्छी प्रकार से योगाभ्यास करेंगे तो सदा के लिए दु:ख-बन्धन से छूट जायेंगे और मुक्ति तथा स्वर्गिक सुख को प्राप्त करेंगे और यदि हमने अभी आलस्य किया, अलबेलेपन में पुरुषार्थ पर ध्यान न दिया तो न केवल धर्मराजपुरी में अपने पूर्वकाल में किये विकर्मों के कारण दण्ड भोगना पड़ेगा बल्कि हर कल्प हमारी इस हानि तथा निम्नावस्था की पुनरावृत्ति होगी क्योंकि इस सृष्टि-चक्र की कल्प-कल्प पुनरावृत्ति होती है। इस प्रकार, ज्ञान के इन रहस्यों की स्मृति से अलबेलापन हमारा पीछा छोड़ जायेगा।

योग दर्शन में पतंजलि ने भी विघ्नों का उल्लेख करते हुए इस विघ्न को 'प्रमाद' नाम दिया है परन्तु इसे पार करने के लिए उसने कोई विशेष साधन नहीं बताये, न ही उसने धर्मराज पुरी में मिलने वाले दण्ड की चर्चा की है, न प्राप्त होने वाले स्वर्गिक सुख की, न ही आने वाले महाविनाश की, न सृष्टि-चक्र के पुनरावृत्ति के रहस्य की। उस समय तो सृष्टि के महाविनाश या सतयुग के पुनरागमन की बात ही नहीं थी क्योंकि ऐसा समय

तो अब आया है।

२. संशय

ज्ञान के किसी सिद्धान्त में, योग मार्ग की उपादेयता में अथवा अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य में अथवा अपने मार्ग-प्रदर्शक में संशय हो जाना तो बहुत ही बड़ा विघ्न है। गीता के भगवान ने स्पष्ट कहा है कि – 'संशयात्मा विनश्यति।' पतंजलि ने भी संशय को विघ्न में गिनती किया है। ''श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'' – यह वचन भगवान ने श्रद्धा का महत्व दर्शाने के लिये कहा है। श्रद्धा से मनुष्य गुण ग्रहण करता है, कुछ सीखता है और आगे बढ़ता है। संशय वाला मनुष्य अवगुण अथवा दोष-दर्शन करता है और इससे उसकी मानसिक स्थिति बिगड़ जाती है। अत: निश्चय को योग के चार स्तम्भों में से एक स्तम्भ माना गया है। परन्तु निश्चय का अभिप्राय अन्ध-श्रद्धा नहीं है। मनुष्य को अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिये परन्तु किसी द्वारा अवगुण दर्शाये जाने पर या अपने मन की मलिनता के कारण किसी बात में संशय नहीं करना चाहिये। कई बातें ऐसी होती हैं कि हमारी वर्तमान समय की कलुषित अथवा भ्रान्त वृत्ति या दृष्टि के कारण अथवा हमारे अल्प ज्ञान तथा हमारे अनुभव की कमी के कारण हमें ग़लत मालूम पड़ती हैं परन्तु जब हमने अन्य सिद्धान्तों को सही पाया है, पहले गुण भी देखे हैं तो अब धीरज धर कर अनुशीलन करना चाहिये क्योंकि यों ही किसी संवेग-वश संशय हो जाने से हमारे ही पुरुषार्थ में बाधा पड़ेगी। यदि हमारी अवस्था ठीक रहेगी तो हम सब-कुछ ठीक कर ही लेंगे, परन्तु यदि संशय में पड़कर हम ही ज्ञान-ध्यान, नियम-कर्म छोड़ देंगे तो गोया अपने ही पतन के लिए खड्डा खोदने का काम करेंगे।

फिर भी यदि हम पर संशय का वार होता है तो हमें स्पष्ट शब्दों में अपनी स्थिति बतलाकर उसका समाधान ले लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त, अच्छा होगा यदि हम ईश्वरीय-सत्संग को न छोड़ें और ज्ञान की कक्षा में नित्य-प्रति सम्मिलित होते रहें क्योंकि संशय का निवारण भी तो ज्ञान के द्वारा ही होगा और ज्ञान के स्थान पर तथा ज्ञानियों के संग में यदि हम पहुँचेंगे ही नहीं तो हमारे संशय का निवारण कैसे होगा?

फिर भी यदि संशय हमारे मन से नहीं जाता तो हमें यह सोचना चाहिए कि – ''पवित्र बनना तो अच्छा ही है ना? परमात्मा की स्मृति में स्थित होने का अभ्यास करना तो लाभप्रद ही है न? अच्छे कर्म का तो अच्छा ही फल मिलेगा?...'' अत: यदि किसी सिद्धान्त से हम पूर्णत: सहमत नहीं भी हैं तो फिलहाल उसे छोड़ देना चाहिये और पहले हमें बाकी सिद्धान्तों के आधार पर अपने जीवन को श्रेष्ठ बनाने के पुरुषार्थ में लग ही

जाना चाहिए। इसमें तो कोई हानि नहीं है। यदि ऐसा करने के लिए भी हमारा मन नहीं मानता तो समझना चाहिये कि हम पर माया का ज़बर्दस्त वार हुआ-हुआ है और उससे बचाव के लिए तो ज्ञान-कक्षा में नित्य-प्रति जाना और भी अधिक ज़रूरी है।

अत: इस कारण से ज्ञान एवं योग को छोड़ना भूल है और इन्हें अपनाने में ही बुद्धिमत्ता है।

३. व्यर्थ संकल्प अथवा बुरे संस्कारों का उदय

वास्तव में मन की चंचलता का कारण मनुष्य के पुराने, अशुद्ध संस्कार ही हैं। जब वे वासना, विषय-भोग की इच्छा तथा उद्वेग की लहर का रूप धारण करते हैं तब पुरुषार्थी परेशान हो जाता है। इन्हीं के कारण से अर्जुन ने कहा—

''भगवन्! यह मन बड़ा प्रमादी है, उपद्रवी है, वेगवान् वायु के समान है।'' परन्तु भगवान ने क्या कहा है? यही कि तू अभ्यास और वैराग्य द्वारा इसे वशीभूत कर! भगवान के महावाक्य हैं कि – ''हे वत्स! तू इनसे युद्ध कर।''

अत: जब-कभी मनुष्य के मन में अशुद्ध संस्कारों का वेग आता है तो उसे चाहिए कि उनके कारण से परेशान या निराश न हो बल्कि उनसे ज्ञान-गदा द्वारा, योग रूप कवच पहन कर युद्ध करे। आखिर इन संस्कारों को शुद्ध तो करना है ही क्योंकि यदि ऐसा पुरुषार्थ नहीं किया जायगा तब तो दु:ख सदा बना ही रहेगा और ये अधिक पतन की ओर ले जायेंगे। अत: बारम्बार उस महा दु:ख को स्वीकार करने की बजाय तो अभी इनसे युद्ध करके इन्हें मिटा डालने ही की थोड़ी-सी असुविधा को स्वीकार कर लेना उत्तम है। इन संस्कारों के जागृत होने से तो हमें पता चलता है कि अभी तक हमारा मन मैला है, उसमें अमुक-अमुक विकारों के बीज हैं; अत: इन्हें देखकर तो हमें और भी अधिक पराक्रम से इनके साथ युद्ध ठान लेना चाहिये। बजाय इसके कि हम पुरुषार्थ रूप धनुष को धरा पर डालकर, घुटने पर कोहनी रखकर, ठोडी के नीचे हाथ धर के बैठ जायँ!

ऐसे समय में जबकि दूषित संस्कार अपना सिर उठाते हैं, हमें ज्ञान-रूप स्वदर्शन-चक्र का प्रयोग करके इनका अन्त करना चाहिए। हमें सदा यह सोचना चाहिए कि – ''हम सर्वशक्तिमान् परमपिता परमात्मा शिव की सन्तति हैं, ये संस्कार हमारे ज्ञान-बल तथा योग-बल के सामने भला टिक कैसे सकते हैं? हमने तो कल्प पूर्व भी इन्हें जीता था और विजय पताका फहराई थी; अब पुन: विजय का तिलक प्रभु ने हमारे मस्तक पर लगा ही दिया है क्योंकि हम सर्वभाव से उस ही के मत पर चल रहे हैं जिसे पराजय ने कभी छुआ नहीं और जिससे लोग विजय का सौभाग्य माँगते हैं। अत: हमारे संस्कार

चाहे कितने ही पक्के या कड़े, क्रूर या गन्दे हों, भगवान की स्मृति से इनका सारा कल्मष धुल जायगा। तभी तो भगवान ने कहा है कि – "मैं तुझे सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर"१।

मनुष्य ईश्वरीय ज्ञान एवं योग की शिक्षा प्राप्त करके बहुत खुश होता है। उस मार्ग पर थोड़ा चलने में उसे बहुत ही आनन्द अनुभव होता है। परन्तु आगे बढ़ते ही जब उसके अपने ही संस्कार आलस्य, काम-भोग, उत्तेजना इत्यादि के रूप में उसके मार्ग में बाधा बन जाते हैं तब वह सन्मार्ग को ही छोड़ने की सोच लेता है क्योंकि कुछ ही दिन पहले उसका मन प्रभु की स्मृति में स्थित हो जाता था अथवा ईश्वरीय स्मृति के समय उसके मन में दूषित संस्कार विघ्न नहीं डालते थे, परन्तु अब जब वह योगाभ्यास के लिए बैठता है तो ये संस्कार उसे परेशान कर देते हैं। अत: उसका उखड़ा हुआ मन, शामियाने, तम्बू उखेड़कर डेरा उठाने को कहता है। "क्या रक्खा है योग-ध्यान में...मैं तो परेशान हो गया हूँ...मन योग में टिकता नहीं... यह मेरे बस का काम नहीं..." —इस प्रकार उसका मन तूफान खड़े कर देता है और उसे विषयों की ओर आकर्षित करता है, भोग-सुख के दृश्य उसे दिखाता है या उसे किसी चिन्ता, उत्तेजना इत्यादि की आँधी में उड़ा देता है। इस प्रकार दीये और तूफान की लड़ाई होती है। उसके मन का पाँव लक्ष्य को छूता ही नहीं, स्वरूप को स्पर्श ही नहीं कर सकता, उसमें टिकने की बात तो एक ओर रही। पतंजलि ने इस विघ्न को 'उपलब्ध भूमिकत्व', 'अविरति' तथा 'अनवस्थितत्व' – ये नाम दिये हैं। योगाभ्यास करने पर भी मन का ना टिक पाना, संस्कारों के वेग के कारण बीच में ही रुक जाना,'उपलब्ध भूमिकत्व' कहलाता है और ऐसा होने से फिर-से विषयों के साथ संयोग की इच्छा करना तथा उनके भोग में पड़ जाना, ईश्वरीय लग्न तथा अनासक्ति को गँवा बैठना – यह 'अविरति' कहलाता है और मन का भटक जाना, पथ से हट जाना, स्थिति का डाँवाडोल होना – यह 'अनवस्थितत्व' कहलाता है।

परमपिता परमात्मा शिव ने हर प्रकार के संस्कार को मिटाने के लिए बहुत ही स्पष्ट रूप से साधन बताये हैं। परन्तु अभ्यासी को इतना तो समझना ही चाहिए कि पुराने संस्कारों को मिटाने का साधन भी तो योग ही है। अत: यदि इन संस्कारों के वेग को देखते हुए हम योगाभ्यास को ही छोड़ देंगे, तब तो यह संस्कार कभी मिटेंगे ही नहीं। जैसे सोना तपाने से शुद्ध होता है, ऐसे ही संस्कार भी योग द्वारा शुद्ध होते हैं। अत: संस्कारों का वेग तो कुछ समय बाद ढीला पड़ेगा ही, हमें योग रूप साधन को नहीं

---

१. अहम् त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।

छोड़ना चाहिए बल्कि ज्ञान की चर्चा, परोपकार, जन-सेवा इत्यादि में उसे लगाकर मन को ज्ञान के किसी दूसरे पहलू पर लगाकर उसकी भूमिका को ठीक करना चाहिए।

४. विकट परिस्थितियाँ अथवा समस्यायें

आध्यात्मिक पुरुषार्थ करते-करते, मनुष्य के जीवन में अनायास ही कोई ऐसी परिस्थितियाँ आ जाती हैं जो उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं और उसके मन में दुःख की लहर अथवा असुविधा की भासना पैदा करती हैं तथा मनुष्य का मन ऐसा खिंचा-खिंचा-सा, उलझा हुआ सा, मुर्झाया हुआ-सा रहता है कि इस भूमिका में उससे ज्ञान और योग स्वतः ही छूटने लगते हैं। ऐसी परिस्थितियों में यदि मनुष्य से कहा जाय कि – "भाई! योगाभ्यास को तथा नित्य ज्ञानाध्ययन को मत छोड़ो" तो वह कहता है – "क्या करूँ, मेरी तो परिस्थिति ही ऐसी है...."

परमपिता परमात्मा शिव कहते हैं कि – "ऐसी परिस्थिति को आत्मिक स्थिति से पार करो। **परिस्थितियों से प्रभावित हो जाना कमज़ोरी है, आप अपनी स्थिति को बनाये रक्खोगे तो आपके आत्मिक बल से परिस्थितियां भी ठीक हो जायेंगी। यह सोचना ग़लत है कि पहले हमारा कार्य-व्यवहार ठीक हो जाय तब हम परमार्थ करेंगे, सही तो यह है कि परमार्थ में लगने से ही व्यवहार तथा गृहस्थ भी सुधरेगा।**" अतः कर्म करते हुए भी अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो परिस्थितियाँ हमारे लिए क्लेश तथा दुःख का कारण बन जाएँगी। उन परिस्थितियों का सामना करने के लिए हमें मनोबल (Will Power), सहन-शक्ति, पवित्रता-बल तथा आत्मिक शक्ति और ईश्वरीय शक्ति नहीं मिल सकेगी। ऐसी स्थिति में यदि हम क्रोध, लोभ आदि के द्वारा अपनी परिस्थिति को ठीक करने का यत्न करेंगे तो हमें आध्यात्मिक दुःख झेलना पड़ेगा और तब ज्ञानी होते हुए विकर्मों का सौ गुणा दण्ड हमें भोगना पड़ेगा। अतः इसका मात्र उपाय यही है कि हम अपनी आत्मिक स्थिति को, योगाभ्यास को अथवा आध्यात्मिक पुरुषार्थ को न छोड़ें। तूफानों को तोफ़ा मानें और उनमें अपनी सहनशक्ति के विकास के अवसर को समझें तो कल्याणप्रद होगा।

फिर, जो परिस्थितियाँ हमारे सामने आती हैं, वे हमारे अपने ही पूर्व कर्मों का फल हैं। उनके लिए तो हम अन्य किसी को तो दोषी ठहरा नहीं सकते। कर्म के नियम के अनुसार वे हमारे सामने आनी तो थीं ही। पहले भी स्व-स्थिति में हम नहीं टिके रहे, उसके कारण ही तो इनका आना हुआ है, तब क्यों न स्व-स्थिति द्वारा उनका सामना किया जाय? यदि हम उनके कारण से अपना आध्यात्मिक पुरुषार्थ छोड़ देंगे तब फिर

स्थिति और परिस्थिति सुधरेगी कैसे? तब तो गोया हम अपनी बिगड़ी हुई परिस्थिति द्वारा पुनः बिकट परिस्थितियों को निमन्त्रण देने का यत्न कर रहे हैं।

मनुष्य के सामने हानि, निन्दा, प्राकृतिक प्रकोप द्वारा तोड़-फोड, सम्बन्धियों की मृत्यु इत्यादि के रूप में जो क्लेशकारक परिस्थितियाँ आती हैं — उनमें यदि मनुष्य कष्ट अनुभव करता है अथवा यदि किन्हीं इहलौकिक इच्छाओं की अपूर्ति के कारण उसे मानसिक क्षोभ होता है तो उसे अपने मन पर नियंत्रण न होने के कारण ही ऐसा होता है। ईश्वरीय ज्ञान हमें ऐसी परिस्थितियों में ही तो एकरस रहने का मार्ग दर्शाता है। यदि इन परिस्थितियों से ही हमारी अवस्था डोल जाती है और हम चिंतित, दुःखी, अशान्त अथवा क्षुब्ध महसूस करते हैं तो गोया यह हमारे ज्ञान की कमी के सूचक हैं। अतः इन परिस्थितियों में ज्ञान के बलप्रद रहस्यों को धारण करना चाहिये और इसके लिए अधिक ज्ञानवानों का संग करना चाहिये। इन तूफानों के सामने अध्यात्म पथ पर से पाँव उखड़ जाना तो दुर्बलता है।

पतंजलि ने विभिन्न परिस्थितियों में, आध्यात्मिक कष्ट, आधिदैविक या आधिभौतिक क्लेश रूप विघ्न को 'दुःख' नाम दिया है तथा इच्छाओं की अपूर्त्ति से जो मानसिक क्षोभ अनुभव होता है, उसे 'दौर्मनस्य' कहा है। इन दोनों विघ्नों को 'सने 'उपविक्षेप' माना है। परन्तु इसके **निराकरण** के लिए उसने ज्ञान के नुक्ते नहीं बताये, आध्यात्मिक साधन नहीं समझाये, बल्कि उसने केवल यही कहा है कि मनुष्य को एक तत्त्व में मन टिकाना चाहिए और मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा उपेक्षा को धारण करना चाहिए। परन्तु प्रश्न तो यह है कि मन लगता ही नहीं, परिस्थितियों ने उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है अतः जब तक ज्ञान के द्वारा बुद्धि में बल, निश्चय और परिस्थिति के निराकरण की विधि स्पष्ट नहीं होगी तब तक वह मन को एक स्थान पर बाँधने में समर्थ कैसे हो सकेगी? पुनश्च मित्रता, दया, प्रसन्नता तथा उपेक्षा मन में किस आधार पर टिक सकेंगे? किसी मनुष्य को व्यापार में एक लाख रुपयों की हानि हो गई तो प्रसन्नता तो उसकी उसी समय गुम हो गई जब उसे यह पता चला; अतः अब वह गँवाई हुई प्रसन्नता को कैसे धारण करे? परमपिता परमात्मा शिव ने ऐसी हरेक परिस्थिति के लिए स्पष्ट विधि बताई है जिससे कि मनुष्य इन तथा अन्य सद्‌गुणों को धारण किये रह सकता है।

५. थकावट, उत्साह की कमी अथवा अरुचि

पुरुषार्थ पर चलते-चलते, कई बार मनुष्य का मन ऊब-सा जाता है। उसे ज्ञान के रहस्यों में से अब रस नहीं मिलता, योगाभ्यास में अरुचि उत्पन्न हो जाती है और वह

नित्य-प्रति ब्रह्म मुहूर्त में उठना, स्नान करना, नियमों का पालन करना आदि-आदि के प्रति उदासीनता महसूस करता है। उसे कुछ थकावट अनुभव होती है और मन में यह प्रश्न उठता है — "आखिर कब तक ऐसा ही करता रहूँगा...?" या तो वह देखता है कि — "मैं इतने समय से काम, क्रोध इत्यादि को जीतने का पुरुषार्थ करता आया हूँ परन्तु फिर भी मैं इसमें सफल नहीं हुआ हूँ", तब वह ऐसा सोचकर स्वयं को असमर्थ मानकर अकर्मण्यता की ओर झुक जाता है। योग-दर्शन में इस विघ्न अथवा विक्षेप को 'स्त्यान' नाम दिया गया है।

हमें चाहिये कि हम याद रक्खें कि हमारे ही कल्याण के लिये शिव बाबा प्रतिदिन सूर्य, चाँद और तारांगण से भी परे के लोक — परमधाम — से आकर हमें ज्ञान तथा योग सिखाते हैं; तब क्या हम इन अनमोल वरदानों को प्राप्त करने के लिए भी थक गये हैं? क्या जन्म-जन्मान्तर के लिये इस अपरिमित कमाई से भी ऊब गये हैं? जबकि हमें यह बात भली-भाँति समझाई गयी है कि इस पुरुषार्थ से २१ जन्मों के लिये, २५०० वर्षों के लिये अथवा आधे कल्प के लिए सात्विक सुखों की प्राप्ति होती है और जीवन से दुःख तथा अशान्ति का पूर्णतः अन्त हो जाता है, तब भला हमें थकावट या नीरसता का अनुभव कैसे हो सकता है? पुनश्च, अब हम यह भी जान चुके हैं तथा देख भी रहे हैं कि अब इस तमोप्रधान सृष्टि का महाविनाश एटम और हाइड्रोजन बमों द्वारा निकट भविष्य में होने वाला है, तब तो थकावट का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि हम अपने संस्कारों को उस गति से बदल नहीं पा रहे हैं जिस गति से इन्हें बदलना चाहिये तब भी पुरुषार्थ न करने वालों के जीवन की अपेक्षा हममें कुछ तो परिवर्तन आया ही है, हम कुछ तो योगी बने ही हैं। अतः अभ्यास करते रहने से तो हम एक दिन सफल हो ही जायेंगे : परन्तु यदि हम पुरुषार्थ छोड़कर बैठ जाएंगे, तब तो आगे बढ़ नहीं पायंगे। पुरुषार्थ करते-करते तो यह संस्कार ढीले पड़ ही जायेंगे। हमें चाहिये कि हम इन्हें कर्मों द्वारा व्यक्त न होने दें वर्ना ये पक्के हो जायेंगे और इनको मिटाना और ज्यादा कठिन हो जायेगा। इनके प्रगट होने से तो हमें सोचना चाहिये कि हमें और भी अधिक तीव्र पुरुषार्थ की आवश्यकता है क्योंकि हमारे संस्कार बहुत कड़े हैं। इन्हें पवित्र करने का पुरुषार्थ छोड़ देना, स्वयं में असमर्थता अनुभव करना या योगी जीवन को नीरस महसूस करना तो गोया इन अपने ही संस्कारों से धोखा खाना, इनसे बाज़ी हार जाना — सदा के लिये इन्हीं का गुलाम बने रहने को तैयार होना है। यह तो अज्ञान के लक्षण हैं, आध्यात्मिक शक्ति की कमी के चिन्ह हैं। अतः हमें चाहिये कि हिम्मत न हार कर हम सतत, निरन्तर पुरुषार्थ पथ पर चलते चलें, आखिर मंजिल पर

पहुँच ही ज़ायेंगे क्योंकि हमारा मार्ग-दर्शक समर्थ, सहायक और सम्पूर्ण ज्ञानवान् है।

६. पूर्व कर्मों का हिसाब-किताब तथा दूसरों के स्वभाव से टकराव

पिछले जन्मों के कर्म-खाते के कारण मनुष्य के सामने कई प्रकार के विघ्न आते हैं। किसी कार्य में सफलता नहीं मिलती, अधिक परिश्रम करने पर भी परिणाम सन्तोषजनक नहीं होता, खामख्वाह के झंझट आ पड़ते हैं, अवसर हाथ से निकल जाते हैं, अपने से बड़ों की दृष्टि में हम जँचते नहीं, हमारी योजनाओं की कार्यान्विति के लिये सहयोग और साधन नहीं मिलते और दूसरा कोई उन्हें पूर्ण करके यश पाता है। किसी से विचार नहीं मिलते तो मन में तनाव आता है और आरोप, उलाहने तथा वेदना का सामना करना पड़ता है। जिस कार्य में हाथ डालते हैं; उसमें रुकावटें आती तथा वह सूना-सूना-सा हो जाता है, निराशा का सामना करना पड़ता है। जिनके प्रति स्नेह रखते हैं उनसे शुष्क व्यवहार मिलता है अथवा झाड़-झपट सुनने को मिलती है, जिन्हें मित्र और अवलम्बन मानकर बैठे हैं, वे पीठ फेर कर चल देते हैं। ऐसा मालूम होता है कि मित्रजनों में, लौकिक या दैवी परिवार में हम पिछड़े हुए से, अभागे-से, अवहेलित अथवा परित्यक्त से हैं, जिनकी सुध-बुध लेने और जिन्हें सहयोग तथा उत्साह देने से सब दूर भागते हैं अथवा जिनको दुलार देने का भी किसी को विचार नहीं आता। यह सब देखकर मनुष्य का मन भरा-भरा-सा रहने लगता है और वह या तो सोचने लगता है कि — ''प्रभु! एक आप ही का सहारा है'' और या इसके विपरीत ही ऐसे संकल्प उठते हैं कि — ''प्रभु! आप भी मेरे लिये कुछ नहीं करते...''

परन्तु प्रभु क्या करें? हमारे अपने ही कर्मों का तो खाता है? हमने जो-कुछ अच्छा किया है, जब उसका श्रेय हमें प्राप्त होता है, उसका सुख रूप फल हम पाते हैं तो अपने बुरे कर्मों का परिणाम भी तो हमारे ही सामने आयेगा? फिर धर्म-स्थापना के कार्य में विघ्न तो आते ही हैं, कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है! राज्य-भाग्य स्थापित करने के कार्य में आलोचना तो सुननी पड़ती है, यहाँ तक कि थप्पड़ भी खाने पड़ते हैं। तो हम जो दैवी सृष्टि के चक्रवर्ती राज्य के लिये अथवा वैकुण्ठ के सम्पूर्ण सुखमय देवपद के लिये पुरुषार्थ कर रहे हैं, उसमें भी ये सबकुछ तो हमें देखना ही पड़ेगा। अब परिश्रम, उद्यम तथा उत्साह से काम लेने से ही तो पिछले कर्मों के कष्टकारक परिणामों का हम सामना कर सकेंगे। अत: 'जो करेगा सो पायेगा' — इस नियम को याद रखकर हमें करते चले जाना चाहिये और कोई हमें नहीं भी दुलारेगा, कोई हमारे पुरुषार्थ के लिये उत्साहप्रद दो वचन नहीं भी बोलेगा, कोई हमारी स्थिति को नहीं भी देखेगा तो क्या हुआ, प्रभु का

हाथ तो हमारे सिर पर है। कर्म अविनाशी हैं: हमारा पुरुषार्थ हमारा साथ देगा, हम कठिनाइयों को पार करके जब सफलता के नगाड़े बजायेंगे तो लोग उसका गायन करेंगे। समय पर सब कुछ ठीक हो जाता है, पुरुषार्थ की अवश्य विजय होती है, हिम्मत करने वाले को खुदा मदद देता है, साहस और सहनशीलता हमारा श्रृंगार है — इन हित वचनों को ध्यान में रखते हुए यदि हम तीव्रवेगी पुरुषार्थी बने रहेंगे तो एक दिन अवश्य ही हम सफलता की सीढ़ी पर चढ़कर सम्पूर्णता को प्राप्त होंगे — इसमें रंच मात्र भी सन्देह नहीं है।

७. मानसिक दण्ड

मनुष्य जब ईश्वराज्ञाओं का उल्लंघन करता है, दैवी मर्यादाओं को तोड़ता है, ज्ञान का अभिमान करता है, लोकसंग्रह का ध्यान नहीं रखता है अथवा पवित्र जनों की निन्दा करता है, ईश्वरीय यज्ञ की किसी प्रकार से हानि या ग्लानि का निमित्त बनता है तो उसकी बुद्धि ज्ञान-ध्यान की कुशलता को खोकर उलझन में पड़ी हुई सी लगती है। उसकी प्रगति रुक जाती है, खुशी गुम हो जाती है और किये हुए विकर्म के चिन्तन के कारण शिथिलता महसूस होती है।

यह एक बहुत बड़ा विघ्न है। इससे आध्यात्मिक पुरुषार्थ अथवा योग रूप कमाई में घाटा पड़ जाता है। इसके निराकरण के लिये हमें चाहिये कि एक तो हम शिव बाबा के अथवा उन द्वारा निमित्त नियुक्त किये गये जो ज्ञानवान् बहन-भाई हैं, उनके समक्ष अपनी भूल को प्रायश्चित वृत्ति से रखकर मन को हल्का कर लें और अब विशेष रूप से योगाभ्यास करके उस भूल के शूल को निकालें। अन्तर्मुखता को धारण करने, ज्ञान-युक्त विनोद एवं सार्वजनिक कार्यों में भाग लेने तथा आगे के लिये 'श्री-मत' अर्थात् प्रभु-आज्ञा तथा ईश्वरीय शिक्षा के अनुसार चलने एवं योगाभ्यास से इन विघ्न का निवारण हो जाता है।

८. व्याधि या शारीरिक शिथिलता

रोग, वृद्धावस्था, शारीरिक दुर्बलता अथवा प्रकम्पन इत्यादि भी मनुष्य के मन में शिथिलता, आलस्य अथवा बाधा उत्पन्न करते हैं। इनके लिये औषधि और उपचार तो करना ही चाहिये परन्तु मन को अशान्त या क्षुब्ध नहीं होने देना चाहिये। इनके लिये यह सोचना चाहिये कि — "ये बीमारियाँ अब अन्तिम विदाई लेने आयी हैं। अब तो मैं भोगी से योगी बना हूँ, अत: इसके बाद तो मैं सदा के लिये स्वस्थ तथा देवताओं के समान निरोग काया प्राप्त कर लूँगा। इन द्वारा तो मेरे पूर्व कर्मों का खाता चुकता हो रहा है, अत:

चिन्ता या दु:ख की तो कोई बात नहीं क्योंकि इससे तो मेरा ऋण चुकता हो रहा है। इस प्रकार, मनुष्य को सदा प्रसन्न-चित्त रहना चाहिये।

उपर्युक्त में से कुछेक का वर्णन पतंजलि तथा अन्यान्य ने भी किया है। किसी ने इन्हें 'चित्त-विक्षेप', किसी ने 'अन्य ने', 'अन्तराय', 'विघ्न' 'और दूसरे लोगों ने 'योग-प्रतिपक्षी' कहा है। परन्तु उन्होंने सभी विघ्नों का उल्लेख नहीं किया और उनके निवारण के लिये वह उपाय नहीं सुझाये जो परमपिता परमात्मा शिव ने सविस्तार समझाये हैं, जिनमें से कुछेक का संक्षिप्त उल्लेख ऊपर किया गया है।

हमने जो-कुछ अच्छा किया है, जब उसका श्रेय हमें प्राप्त होता है, उसका सुख रूप फल हम पाते हैं तो अपने बुरे कर्मों का परिणाम भी तो हमारे ही सामने आयेगा? फिर धर्म-स्थापना के कार्य में विघ्न तो आते ही हैं, कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ता है! राज्य-भाग्य स्थापित करने के कार्य में आलोचना तो सुननी पड़ती है, यहाँ तक कि थप्पड़ भी खाने पड़ते हैं। तो हम जो दैवी सृष्टि के चक्रवर्ती राज्य के लिये अथवा वैकुण्ठ के सम्पूर्ण सुखमय देवपद के लिये पुरुषार्थ कर रहे हैं, उसमें भी ये सबकुछ तो हमें देखना ही पड़ेगा। अब परिश्रम, उद्यम तथा उत्साह से काम लेने से ही तो पिछले कर्मों के कष्टकारक परिणामों का हम सामना कर सकेंगे। अत: 'जो करेगा सो पायेगा' – इस नियम को याद रखकर हमें करते चले जाना चाहिये और कोई हमें नहीं भी दुलारेगा, कोई हमारे पुरुषार्थ के लिये उत्साहप्रद दो वचन नहीं भी बोलेगा, कोई हमारी स्थिति को नहीं भी देखेगा तो क्या हुआ, प्रभु का हाथ तो हमारे सिर पर है।

योगी के लिए दिनचर्या और आत्म-निरीक्षण की विधि

कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा प्राप्त करने के बाद पहले-पहल तो हमें अपने जीवन में काफी परिवर्तन महसूस हुआ परन्तु अब ऐसा लगता है कि उन्नति की गति मन्द पड़ गई है। जिस अव्यक्त स्थिति को हमें प्राप्त करना है, उसका चित्र तो हमारे सामने स्पष्ट है परन्तु, उस तक पहुँचने में हमारी गति में सन्तोषजनक तीव्रता नहीं आयी। अत: वे जानना चाहते हैं कि अब गति में तीव्रता लाने के लिये क्या साधन अपनाया जाय?

ध्यान से देखा जाय तो गति-मन्द अथवा अतिभंग होने के पाँच ही मुख्य कारण होते हैं। यदि उन कारणों का निवारण करने का पुरुषार्थ हम करें तो हम आत्मोन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच सकते हैं। परन्तु, प्राय: या तो मनुष्य उन पाँच बातों को सुधारने की और पूरा ध्यान नहीं देता या ध्यान देने के बावजूद भी उन्हें सुधारने का ढंग उसे नहीं आता। इस लेख में हम उन पाँच बातों का वर्णन करेंगे ताकि उस और हमारा यथोचित ध्यान जाय।

१. चर्या

मनुष्य की अवस्था का सारा आधार उसकी 'चर्या' है। चर्या में दिनचर्या भी शामिल है, सांध्यचर्या भी और रात्री-चर्या भी। मनुष्य सोकर जब उठता है और आँख खोलता है अथवा पहला संकल्प करता है तब से उसकी दिनचर्या प्रारम्भ हो जाती है और रात्रि को सुषुप्त अवस्था तक जो भी संकल्प-विकल्प या कर्म वह करता है, वे सभी उसकी चर्या में ही गण्य हैं। यहाँ तक कि जो स्वप्न वह देखता है, वह भी एक प्रकार से उसकी चर्या का ही अर्द्धचेत अवस्था में विस्तार (Extension) है। चर्या नियमित, सन्तुलित एवं ज्ञानानुकूल न होने से भी मनुष्य का आध्यात्मिक पुरुषार्थ ढीला हो जाता है। अत: सबसे पहले मनुष्य को अपनी चर्या पर ही ध्यान देना चाहिये। यहाँ हम चर्या के कुछ आवश्यक पहलुओं पर प्रकाश डाल रहे हैं।

ठीक समय पर और ठीक मनसा से सोना

(i) प्रात: ठीक समय पर उठने के लिए और मानसिक तथा शारीरिक तौर पर चुस्त महसूस करने के लिय आवश्यक है कि हम ठीक समय पर सोयें। यद्यपि निद्रा पर जितनी विजय प्राप्त हो सके उतना अच्छा ही है तथापि देखा गयाहै कि रात्रि को सोने के लिये १० बजे का समय एक आदर्श समय होता है क्योंकि इस समय सोने से मनुष्य प्रात: ३ या ४ बजे उठ सकता है और उस समय के एकान्त, शान्त और सतोगुणी वातावरण में योगाभ्यास एवं प्रभु-मिलन का आनन्द ले सकता है। यदि कोई मनुष्य १० बजे की बजाय देरी से सोता है तो वह या तो प्रात: देर से उठता है या उसे दिन-भर थकावट, आलस्य, भारीपन या निद्रा का प्रवाह महसूस होता है। इसका प्रभाव उसकी सारी दिनचर्या पर पड़ता है। अत: अपनी दिनचर्या को ठीक करना ज़रूरी है।

रात्रि को निद्रा के लिये मानसिक तैयारी भी हमें ज्ञानानुकूल ही करनी चाहिये। शयन-शैय्या पर बैठकर पहले हमें कुछ समय शिव बाबा (परमपिता परमात्मा) की मधुर स्मृति का अभ्यास करना चाहिये। यदि हमारे पास अधिक समय न भी हो या हम थकावट महसूस कर रहे हों तो भी पाँच मिनट ही सही, परन्तु हमें ईश्वरीय स्मृति में बैठना अवश्य ही चाहिये। सोने की चारपाई पर जाकर पड़ जाना — यह योगी की-सी चर्या नहीं है। योगी तो पहले अपने बिस्तर को ठीक करके, हाथ-मुँह स्वच्छ करके तब चारपाई पर बैठता है। सहज रूप से उस पिता, माता अथवा साजन रूप परमात्मा से वह मनोमिलन मनाता है, वह इस स्थूल लोक में सोने से पहले स्वयं को सूक्ष्म प्रकाशमय लोक में ले जाता है और अपने स्वरूप का तथा प्रभु का चिन्तन करते हुए उस परमपिता से निद्रा के लिये आज्ञा लेकर आत्मिक- स्थिति में लेट जाता है, मानो वह अपनी कर्मेन्द्रियों रूपी नौकरों-चाकरों को आराम के लिये छुट्टी दे देता है और स्वयं नि:संकल्प अवस्था में टिक जाता है। ऐसे सोने वाले योगी की निद्रा भी सतोगुणी या योगनिद्रा होती है और उसे तमोगुणी स्वप्न नहीं आते, बल्कि वह सतयुगी पावन सृष्टि में, सूक्ष्म देवलोक के अथवा पुरुषोत्तम संगमयुगी ज्ञान-जगत् के ही स्वप्न देखता है और वह जिस समय उठने का संकल्प करके सोता है, उस समय ही वह जाग जाता है।

प्रात: उठने के समय के लिये विधि-विधान

(ii) फिर प्रात: उठते ही सब से पहला संकल्प, मन रूपी आँख के सामने सबसे पहला दृश्य और बुद्धि में सबसे पहली स्मृति उस परमपिता परमात्मा ही की आनी चाहिये और चारपाई पर उठकर योग से ही अपनी दिनचर्या की शुरुआत करनी चाहिए

तथा अपने मन में यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि आज दिनचर्या और अवस्था कल की अपेक्षा ज्यादा अच्छी रहेगी। प्रातः मनुष्य का मन सतोगुणी अवस्था में होता है, चुस्त भी होता है और मुदित तथा सन्तुष्ट भी। उस समय प्रतिज्ञा करना अथवा शुभ संकल्प करना गोया कार्यक्षेत्र में उतरने से पहले अपने मनोबल को एक दिशा देने की तरह है जो की बहुत ही लाभप्रद है। कहावत है कि 'मनुष्य जैसा सोचता है वैसा ही वह हो जाता है।' प्रातः के समय में सोचने से तो मनुष्य सचमुच वैसा ही हो जाता है। अतः अपने पुरुषार्थ में तीव्रता लाने के लिए कृत-संकल्प होकर ही अपना पाँव चारपाई से नीचे धरना चाहिये।

दिन-भर में कम-से-कम सात बार विशेष योगाभ्यास

(iii) अब दिनचर्या में इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि यदि अधिक न भी हो सके तो सायंकाल तक कम-से-कम सात बार विशेष रूप से ईश्वरीय स्मृति में बैठने का समय मिले ताकि प्रतिदिन ईश्वरीय स्मृति में आठ घण्टे स्थित होने का ईश्वरीय निर्देश यदि हम पूरा न भी कर सकें तो कम-से-कम ३-४ घण्टे हम हर हालत में इसका अभ्यास करें। देखा गया है कि जो मनुष्य लौकिक अथवा स्थूल कार्यों में दिन-भर लगातार लगा रहता है और इस कार्यकाल में अपनी बुद्धि को तथा कर्मेन्द्रियों को इस प्रकृति के जगत् से हटाकर प्रभु की ओर लगाने का अभ्यास नहीं करता, उसका पुरुषार्थ तीव्र नहीं हो पाता। अतः चाहे कैसा भी व्यस्त जीवन क्यों न हो, दिन-भर में कम-से-कम सात बार हमें पंद्रह-२ मिनट ईश्वरीय स्मृति के लिये अवश्य ही समय निकालना चाहिये। प्रातः ईश्वरीय ज्ञान-केन्द्र पर तो हम नित्य-प्रति इसका अभ्यास करते ही हैं; परन्तु इसके अतिरिक्त भी दोनों बार भोजन करने से कुछ पहले एवं भोजन के समय, प्रातः उठते ही और रात्रि को भी सोने से पहले, संध्या समय अर्थात् जब दिन और रात मिलते हैं और रात्रि को क्लास में अथवा घर पर और एक बार दोपहर — इस प्रकार कम-से-कम सात बार और कम-से-कम पंद्रह-२ मिनट तो ईश्वरीय स्मृति का अभ्यास करना ही चाहिये। जब भोजन हमारे सामने परोसा जाय तो उससे पहले ही स्व-स्थिति में एवं प्रभु-स्मृति में बैठने से अवस्था अव्यक्त बनी रहती है।

देखा गया है कि मनुष्य व्यस्तता के अनेक बहाने बनाकर योगाभ्यास के इन स्वर्णिम अवसरों को खो देता है। इससे न केवल यह हानि होती है कि उसके योग की सूक्ष्मता आगे-आगे नहीं बढ़ती बल्कि योग का अभ्यास टूट जाने से और छूट जाने से उसकी अवस्था व्यक्त होने लगती है तथा वह व्यवहारी और संसारी बनने लगता है। अतः अन्य कार्यों से भी इसे आवश्यक समझकर जन्म-जन्मान्तर की कमाई का इसे

साधन मानकर, ईश्वर द्वारा दिया निर्देश जानकर, चाहे कैसे भी बन पाये, इसके लिये तो समय निकालना ही चाहिये। मनुष्य को ऐसे ही समझ लेना चाहिये कि प्रभु का तार आ गया है, ट्रंक कॉल आ गया है अथवा मेरे लिये कोई आवश्यक सन्देश, अर्जेन्ट मैसेज आ गया है अथवा आना है। "मैं चलते-फिरते, उठते-बैठते योग लगा लूँगा" ऐसा सोचकर विशेष तौर पर प्रभु-मिलन के लिये बैठने तथा योग का अभ्यास करने की टेव को छोड़ देना हानिकारक है। कार्य करते हुए भी ईश्वरीय स्मृति में रहने का पुरुषार्थ तो करना ही चाहिये परन्तु, इसके अतिरिक्त विशेष तौर पर दिन-भर में कई बार सहज समाधि का अभ्यास अथवा अनुभव करने से स्थिति अच्छी बनी रहती है।

२. अपने ऊपर कोई अंकुश

अवस्था में कुछ कमज़ोरियाँ आ जाने का एक कारण यह भी होता है कि मनुष्य को सावधानी देने वाले, उसकी त्रुटियाँ उसे बताने वाले और उसकी स्थिति को फिर से ठीक रखने के लिये उसे निर्देश देने तथा अंकुश में रखने वाले से उसका सम्पर्क टूट जाता है। जब तक मनुष्य की अवस्था सम्पूर्ण और निर्दोष न हो जाय तब तक उसे अवश्य ही किसी ऐसे निर्देशक की आवश्यकता रहती ही है जो उसकी उन्नति के लिये, हित की बात उसे बताये। परन्तु, देखा गया है कि कुछ लोग थोड़ा-सा भी ईश्वरीय ज्ञान सुनने के पश्चात तथा ईश्वरीय सेवा में जुटने के बाद ऐसा कोई संग नही बनाये रखते। वे किसी को भी अपनी अवस्था का सारा हिसाब खोलकर नहीं बताते जिससे कि आगे के लिये उन्हें दिशा-निर्देश मिले। इसका परिणाम यह होता है कि वे स्वयं या तो अपनी कमियों को देख नहीं पाते या उन्हें दूर नहीं कर पाते और उसके परिणाम-स्वरूप उन्हें यह देखकर निराशा होती है कि उनकी कोई प्रगति नहीं हो रही। या तो वे स्वयं में ही मिथ्या-तुष्टि का अनुभव करते हुए जहाँ खड़े थे वहीं खड़े रहते हैं। अत: उत्तरोत्तर उन्नति चाहने वाले मनुष्य को अपने पुरुषार्थ में तीव्रता लाने के लिये अपनी अवस्था का ब्योरा देना ज़रूरी है।

३. नाम, मान, शान अथवा प्राप्ति की आकांक्षा

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो ईश्वरीय ज्ञान और योग की शिक्षा प्राप्त करने के बाद ईश्वरीय सेवा तो क़रते हैं परन्तु साथ-साथ अपने कार्य के फलस्वरूप नाम अथवा यश पाने की आकांक्षा करते हैं। जो सेवा वे करते हैं उसमें वे नम्र-भाव से, स्वयं को एक सेवाधारी अथवा निमित्त साधन मानने की बजाय, वे स्वयं को एक कुशल और योग्य कार्य-कर्त्ता मानने लगते हैं और प्रतिष्ठा, सुविधा तथा सत्कार पाने की आकाँक्षा मन में

रख लेते हैं। यदि उनकी यह इच्छा पूरी होती जाय तो वे इसमें और भी अधिकाधिक फँसते जाते हैं, अर्थात् और अधिक यश प्राप्त करने की लालसा से और अधिक कार्यों में जुट जाते हैं और इसके परिणामस्वरूप उनके पास योगाभ्यास के लिये अथवा व्यक्तिगत पुरुषार्थ के लिये न तो एकान्त और शान्त में बैठने का समय बच पाता है और न ही आत्म-चिन्तन और आत्म-निरीक्षण की टेव उन्हें रहती है। यदि उन्हें मान और मर्त्तबा न मिले तो वे रुष्ट और खिन्न-चित्त हो जाते हैं और दिन-प्रतिदिन इस भाव से ईश्वरीय सेवा को छोड़ते जाते हैं कि हमारे किये हुए कार्य का कोई मूल्य ही नहीं अथवा उसकी ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। इस प्रकार उत्तरोत्तर अपनी बुद्धि को सेवा के कार्य से खाली करके, वे उल्टे संकल्पों और विकल्पों में लगाकर अपनी अवस्था को गिराने लगते हैं। इसके अतिरिक्त, वे अपने किये पुरुषार्थ अथवा सेवा-कार्य का तुरन्त ही फल देखना चाहते हैं। यदि उन्हें वह फल दिखाई नहीं देता अर्थात् फल की प्रत्यक्षता में कुछ समय लग जाता है तब भी वे अधीर तथा असन्तुष्ट होकर कार्य, अथवा कर्त्तव्य छोड़ देते हैं और यह कहना शुरू कर देते हैं कि – "कुछ परिणाम तो निकलता ही नहीं, फिर करने से क्या लाभ?" इस प्रकार उत्साहहीन, निराश और पुरुषार्थहीन होकर वे उत्तरोत्तर अपनी धारणाओं में कमज़ोर होते जाते हैं और अपने जीवन में अवनति का अनुभव करते हैं। अतएव इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि हम अपने ऊपर किसी का अंकुश मानें। थोड़े-थोड़े समय के बाद अपनी अवस्था की पड़ताल (Checking) करायें और आध्यात्मिक औषधि एवं उपचार द्वारा स्वयं को ठीक करते रहें और नाम, मान और शान की भावना, जो कि पुरुषार्थ में एक बहुत बड़ी रुकावट बन जाती है, का त्याग करें।

४. थकावट और आराम-पसन्दी

जैसे कि लौकिक यात्रा में भी होता है, मनुष्य जितना अधिक चल चुकता है उतना-उतना उसे थकावट होने लगती है और जितना-जितना वह ऊँचा चढ़ता जाता है उतना-उतना ऊँचा चढ़ने के बाद अब उसे मंजिल ऊँची और कठिन मालूम होने लगती है, वैसे ही इस आध्यात्मिक यात्रा में भी होता है। मनुष्य इस आध्यात्मिक पथ पर चलते-चलते अथवा ऊँचा चढ़ते-चढ़ते कुछ समय के बाद थकावट अथवा कठिनाइयाँ अनुभव करने लगता है, उन्हें अपने मन में लेकर विघ्नों का सामना करने की हिम्मत छोड़ देता है। वह जीवन में नीरसता महसूस करने लगता है और नवीनता, प्रगति, निरालापन न देखकर निरुत्साहित हो जाता है।

परन्तु, ऐसा होना नहीं चाहिये! अधिकाधिक विघ्न और कठिनाइयाँ तो मंजिल नज़दीक आ जाने की निशानियाँ अर्थात् चोटी पर पहुँचने के चिन्ह होते हैं। वे तो हममें और हिम्मत, आत्म्-विश्वास तथा उत्साह भरने की चेतावनी अथवा न्योता देते हैं। उनको पार करके ही हम उस प्रभु के पास पहुँच सकते हैं जिसे कायर साधकों ने 'अपरम्पार' कहा है। अत: मनोबल का प्रयोग करते हुए, ईश्वरीय संगठन का सम्बल लेते हुए, विजय पताका हाथ में लेकर, सर्वशक्तिवान् परमात्मा की शक्तिशाली सेना का एक वफादार सेनानी स्वयं को समझते हुए हमें तो उन स्थानों पर भी पहुँचने का साहस करना चाहिये जहाँ इसके पहले किसी के पग न पड़े हों। विघ्नों का नाश करने की बजाय स्वयं ही उन द्वारा विनष्ट हो जाना गोया ऐसे ही है जैसे कोई कागज़ के शेर को सच्चा शेर मानकर हतप्रभ हो जाय।

विघ्नों से उद्विग्न होना – यह हमारी अपनी मानसिक अवस्था की त्रुटि है। राई को पहाड़ समझकर उसे लाँघने का साहस न करना – यह हमारी अपनी ही दृष्टि का दोष है। विघ्नों का बड़ा या छोटा दिखाई देना वैसे ही है जैसे कि किसी कन्केव आईने के सामने कोई व्यक्ति बड़ा और कन्वेक्स आइने के सामने वही व्यक्ति अपने आपको छोटा दिखाई देता है। अत: विघ्न को विघ्न न मानकर उन्हें पुरुषार्थ रूपी लूडो (Ludo) का खेल मानकर अथवा नदी को पार करने वाली पुल मानकर, उस पर चढ़ जाना चाहिये।

अपनी वर्तमान अवस्था से असन्तुष्ट होना तो यह सिद्ध करता है कि इससे उंचा उठने के संस्कार हममें हैं और पहले कभी इससे ऊँच हम पहुँचे हैं। अतः यह असन्तुष्टता तो हमारे लिये सन्तोष-जनक होनी चाहिये क्योंकि यह इस बात की सूचक है कि हम वर्तमान अवस्था से ऊँचे जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि हमारे रास्ते में कोई दीवार है जिसको हम पार नहीं कर पा रहे और जिसके कारण हम समझते हैं कि हमारी गति रुक गयी है, तब भी हमें उस दीवार को हटाने का यत्न करना चाहिये क्योंकि यत्न के सिवाय तो दूसरा कोई चारा ही नहीं है। नेपोलियन की सेनाओं के रास्ते में पर्वत एक बहुत बड़ी रुकावट बन गये थे जिसके परिणामस्वरूप उनकी गति रुक गयी थी। परन्तु आज नेपोलियन की महानता का गायन लोग इसलिये करते हैं कि उसने पहाड़ों पर भी तोपें चढ़वा दीं और विजय दुन्दुभि बजा दी। जिसे उसकी सेना के सेनापति 'पहाड़' मान रहे थे, नेपोलियन को वे केवल एक ऊबड़-खाबड़ ज़मीन ही मालूम होते थे। अत: जब उसकी सेना के नायकों ने यह कह दिया कि अब इसके बाद प्रगति असम्भव है, तब नेपोलियन ने कहा कि – "असम्भव शब्द तो मूर्खों के शब्दकोष में पाया जाता है।" यह बात है भी ठीक क्योंकि बुद्धि का

प्रयोग करने से पहले जो चीज असम्भव मालूम होती है, वही बुद्धिबल, युक्ति, नीति-निपुणता तथा साहस के द्वारा एक दिन सम्भव हो जाती है। मनुष्य का चाँद पर उतरना, दूर-देश स्थित किसी व्यक्ति को किसी यन्त्र द्वारा देखना अथवा सुन सकना – पहले एक दिन असम्भव ही तो मालूम होता था परन्तु इन वैज्ञानिकों के धीरज, साहस और निरन्तर बुद्धि लड़ाने ही का फल है कि इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये वे पेचीदा प्रश्नों, साधारण मनुष्यों की आलोचनाओं, आर्थिक कठिनाइयों तथा प्राकृतिक विघ्नों को पार कर सके।

अतः हमें भी पुरुषार्थ और अभ्यास को कभी नहीं छोड़ना चाहिये। आज यदि दीवार को हम एक, दो, तीन या दस हथोड़े लगाते हैं और वह गिरती नहीं तथा हमारे रास्ते से हटती नहीं तो हमें अपने पुरुषार्थ को छोड़ना नहीं चाहिये क्योंकि आखिर सौवाँ हथौड़ा लगने पर वह दीवार हमारा रास्ता छोड़ देगी। इसलिए किसी ने कहा है – "परिश्रमेण हि सिद्ध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः, न तु सुप्तस्य सिंहस्य प्रविश्यन्तिः मुखे मृगाः", अर्थात् परिश्रम से ही सब कार्य सिद्ध होते हैं। हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यदि किसी दिन हमारी कोई मानसिक वृत्ति हमारे कन्ट्रोल में नहीं आती, ईश्वरीय स्मृति में हमारा मन स्थिर नहीं हो पाता, ज्ञान-श्रवण में हमें रस नहीं भी आता, हमारा कोई बुरा संस्कार हमारा पीछा नहीं भी छोड़ता तो भी निराश होने का कोई कारण नहीं है। अभ्यास के हथौड़े एक दिन उस संस्कार रूपी दीवार को धूलि-धूसरित कर ही डालेंगे – यह निश्चित है। जब पत्थर भी कच्चे घड़े से घिसते-घिसते घिस जाता है, तब क्या हमारे पुरुषार्थ की फौलादी चोट के आगे हमारे संस्कार अभंग और अटूट रह जायेंगे?

५. आहार, विहार और व्यवहार पर पूरा ध्यान

यह बात भी आज़मायी गयी है कि यदि मनुष्य भारी भोजन कर लेता है अथवा दिन में कई बार खाने की आदत स्वयं में डाल देता है, तब भी उनमें आलस्य बना रहता है और शरीर में भारीपन तथा बुद्धि में स्थूलता मालूम होती है। पुनश्च, जीभ पर कन्ट्रोल न होने से धीर-धीरे अन्य कर्मेन्द्रियां भी बगावत करने लगती हैं। अन्य कर्मेन्द्रियों पर कन्ट्रोल करके मुखेन्द्रिय पर कन्ट्रोल न करना तो गोया ऐसे है जैसे सोरे देश पर कब्जा करके दुश्मन को उसमें थोड़ा-सा इलाका दे देना। खाद्य पदार्थों की ओर आकर्षण भी तो प्रकृति ही की ओर एक आकर्षण है। इस आकर्षण से इसका रूपान्तर हो जाना भी सम्भव है। अतः यद्यपि ज्ञान और योग मार्ग में भक्ति मार्ग की तरह व्रत, उपवास या अनशन

करने की आवश्यकता नहीं है तथापि इस इन्द्रिय को भी नियन्त्रण में रखना बहुत जरूरी है क्योंकि भोजन लोलुपता पेय पदार्थों के लिए तृष्णा और स्वाद की पराधीनता भी एक प्रकार की बाह्यमुखता ही है, और यह भी देह-अभिमान का एक रूपान्तर है जो कि मनुष्य को बार-बार स्थूलता की ओर ले जाता है। अत: योगी को न केवल सात्विक भोजन का नियम अपनाना चाहिये बल्कि बार-बार खाने-पीने की आदत को भी मिटा देना चाहिये।

इसी प्रकार मनुष्य को अपना विहार भी ठीक रखना चाहिये। विहार ठीक रखने के उद्देश्य से बौद्ध भिक्षुओं ने तो घर-बार को छोड़कर 'विहार'ही बना डाले और संन्यासियों ने 'पीठ' अथवा 'आश्रम'स्थापित कर लिए। यद्यपि राजयोगी को ऐसा नहीं करना है तथापि उसे अपने घर को ही 'विहार' अथवा 'आश्रम' बनाना है। इससे हमारा भाव यह है कि एक तो अपने घर में पवित्रता का वातावरण बनाना चाहिये। दूसरे, मनुष्य को अल्पग्राही होना चाहिये। ज्यादा वस्तुओं का परिग्रह करना, घर को एक जनरल मर्चेन्ट अथवा परचूनी की दूकान बना लेना, दीर्घ सूत्री बन जाना योगी के लिये अनुकूल नहीं। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि आवश्यक वस्तुओं अथवा साधनों को न जुटाया जाय बल्कि हमारा अभिप्राय यह है कि ज्यादा ठाठ-बाट, सज-धज, ऐश-आराम, बहलावे-दिखावे के साधनों से अपने विकहार को भर लेना, खामख्वाह अपनी बुद्धि को भारी करना है। हमारा विहार जितना ही सादा, सात्विक, स्वच्छ और स्वधर्म की स्मृति दिलाने वाला होगा उतना ही श्रेयस्कर होगा।

देखा गया है कि पारस्परिक व्यवहार में जहाँ कहीं भी शंका आ जाती है, विच्छेद या विभेद पैदा हो जाता है, वैमनस्य या उल्टा वैराग्य उत्पन्न होता है, वहाँ भी मनुष्य का मन मुदित अवस्था में न रहकर कई किस्म की उधेड़-बुन में लग जाता है और मनुष्य का योग टूट जाता है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि दूसरों के साथ अपने व्यवहार में हम सरलता, मधुरता, नम्रता, स्नेह, सहानुभूति, सहनशीलता, सम्मान, सहयोग और सहकारिता को न छोड़ें और घृणा, द्वेष, बदले की भावना, निन्दा, चुगली, वैर, विरोध को न अपनायें वर्ना हमारी आध्यात्मिक उन्नति में दूसरों के प्रति हमारा या दूसरों का व्यवहार बहुत बड़ी बाधा बन सकता है।

इस प्रकार, यदि हम इन पाँच बातों को ठीक करने की कोशिश करें तो हमारी अवस्था की कलायें चढ़ेंगी ही — ऐसा निश्चित है।

योग ही प्रभु-मिलन का एक-मात्र साधन

आज बहुत लोग कहते हैं कि कलियुग में तो 'नाम-सिमरण' ही हो सकता है, योग नहीं हो सकता। अल्पज्ञ लोग कहते हैं कि प्रभु से मिलन मनाने के तो कई मार्ग हैं। इस लेख में एक संवाद के रूप में इन प्रश्नों का समाधान करते हुए स्पष्ट किया गया है कि आज योग सम्भव भी है और सहज भी और यही ईश्वरीय स्मृति का सर्वोत्कृष्ट रस लेने तथा लवलीन होने का एक-मात्र तरीका है।

जिज्ञासु–बहन जी, आज आत्मोन्नति और ईश्वरानुभूति के लिये लोग स्व-स्व रुचि के अनुसार कोई मार्ग चुन लिया करते हैं। उनमें से **'ज्ञानमार्ग'** को लोग सर्वोच्च मानते हैं। परन्तु, मैं समझता हूँ कि आजकल के वातावरण में **'भक्तिमार्ग'** ही श्रेष्ठ है। इसके बारे में आपका क्या विचार है?

ज्ञान के बिना साधना अन्धकार में कूदने के समान

ब्रह्माकुमारी – ईश्वरानुभूति के उद्देश्य को लेकर जब हम किसी मार्ग पर चलते हैं तो यह तो हमें ज्ञान होना ही चाहिये कि ईश्वर अथवा परमात्मा कौन है, इस पन्च-भौतिक शरीर से न्यारे हम स्वयं कौन हैं, ईश्वरानुभूति के मार्ग में क्या कठिनाइयाँ आती हैं और 'ईश्वरानुभूति' अथवा 'मुक्ति' और 'जीवनमुक्ति' कहते किसे हैं? इन बातों को जाने बिना यों ही साधना के किसी मार्ग पर चल पड़ना तो गोया अन्धकार में कूदने के समान है। प्रकाश के बिना तो मनुष्य लक्ष्य की ओर बढ़ ही नहीं सकता। इसलिये ही कहा गया है कि — 'ज्ञान बिना गति नहीं है' अथवा 'ज्ञान ही प्रकाश है।'

'भक्ति' का अर्थ तो प्रेम, श्रद्धा अथवा भावना है। प्रेम किससे, श्रद्धा किसमें और भावना किसके प्रति?—इन बातों को जानना ही 'ज्ञान-मार्ग' है और इन्हें न जानना अन्धश्रद्धा का मार्ग है। अत: जो यथार्थ रूप में 'ज्ञान-मार्ग' है; उसमें परमात्मा जो है और जैसा है, उसे वैसा ही जानकर उससे अनन्य प्रेम, अटूट श्रद्धा और स्थिर निष्ठा के रूप में भक्ति (प्रेम) तो समायी ही हुई है और यदि भक्ति का अर्थ ज्ञान-रहित पूजा, सन्ध्या, प्रार्थना, कीर्तन, भजन, आरती, अर्चना इत्यादि लिया जाय, तब तो उसे केवल अल्प-काल के लिये लौकिक ही प्राप्ति होती है, मुक्ति और जीवन-मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

जिज्ञासु – ऐसा क्यों?

भक्ति द्वारा प्राप्ति क्या और अप्राप्ति क्या?

ब्रह्माकुमारी – प्राय: देखा गया है कि भक्ति करते समय मनुष्य कोई-न-कोई साकार रूप अथवा विग्रह, अर्थात् दैहिक आकृति, अपने मानसी चक्षु के सामने रखता है। अत: मुक्ति अथवा ईश्वरानुभूति, जिसके लिए विदेह अवस्था, अर्थात् देहभान से न्यारी स्थिति की आवश्यकता है, प्राप्त नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, सन्ध्या, प्रार्थना इत्यादि द्वारा मनुष्य परमात्मा से कोई-न-कोई लौकिक ही प्राप्ति तो माँगता है और नित्य-प्रति यही तो कहता है कि – "हे प्रभो! मुझमें विषय-विकार हैं, मुझे उनसे छुड़ाओ।" या तो वह कहता है कि – "प्रभो! मुझे दर्शन दो!" इससे स्पष्ट है कि यदि उसका ध्येय लौकिक प्राप्ति न भी हो तो प्रभु के दर्शनों की लालसा तथा काम, क्रोधादि विकारों से निवृत्ति के लिए वह प्रार्थना करता है जिसका यह अर्थ होता है कि नित्य-निरन्तर प्रभु उसके सामने नहीं रहते अथवा उसके अनुभव में नहीं आते और विकारों से निवृत्ति पाने का ज्ञान भी उसमें नहीं है। अत: इन विकारों को जीतने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान को 'दर्शन' भी कहा गया है क्योंकि उस द्वारा मनुष्य का अन्तष्चक्षु, जिससे कि प्रभु को पहचाना जाता है, खुल जाता है। ज्ञान को इसलिए ही 'नेत्र' भी कहा गया है और इसे **'बल'** भी कहा गया है क्योंकि इस द्वारा विकारों पर विजय प्राप्त होती है।

क्या भक्ति से नम्रता और ज्ञान से अभिमान होता है?

जिज्ञासु – यदि ऐसा है तब तो ठीक है, परन्तु बहन जी! प्राय: लोग कहते हैं कि – ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य को अभिमान आ जाता है और ज्ञान प्राप्त करना है भी एक कठिन बात। इसलिए मैं समझता हूँ कि भक्ति ही अधिक अच्छी है क्योंकि भक्त सदा विनम्र होता है और भक्ति है भी सहज।

ब्रह्माकुमारी – यदि ज्ञान से अभिमान आ जाय तो फिर उसे ज्ञान ही क्यों कहें? ज्ञान का तो भावार्थ है – ऐसी समझ अथवा ऐसी बुद्धि जिससे मनुष्य के मन में विकारों की उत्पत्ति न हो अथवा यदि हो तो ज्ञान द्वारा उनकी निवृत्ति हो। यदि ज्ञान द्वारा मनुष्य को अभिमान है तो समझना चाहिए कि उस मनुष्य में अभी थोड़ा-बहुत मिथ्या ज्ञान अथवा अज्ञान है। ज्ञान तो मनुष्य को दिव्य गुणों की धारणा – नम्रता, सहनशीलता, मधुरता, स्नेह इत्यादि की ओर ले जाता है। इसलिए ही ज्ञानवान् को लोग 'महात्मा' भी कहते हैं और अंग्रेज़ी भाषा में भी कहा गया है कि – ज्ञान ही गुण है (Knowledge is virtue)।

इसके अतिरक्त, अपने आपको जानना, पिता परमात्मा को जानना अथवा इसी

मनुष्य-सृष्टि में आवागमन के चक्र को समझना — इसी का नाम ही तो ज्ञान है। इसको समझने में भला कठिनाई क्या है? जब मनुष्य अपनी देह के अनेक नातेदारों तथा देश-विदेश के अनेकानेक लोगों का परिचय पा सकता है, उनके इतिहास और जीवन-कहानियों को सुन और समझ सकता है — तो आत्म-कहानी और पिता परमात्मा को क्यों नहीं जान सकता? सत्य ज्ञान तो सदा सरल और सहज ही होता है। मिथ्या ज्ञान को सिद्ध करने के लिए बहुत आडम्बर और मग़ज़पच्ची की ज़रूरत है। अत: यह जानकर मनुष्य को ज्ञान एवं योगमार्ग ही अपनाना चाहिए।

क्या अन्त:करण की शुद्धि के लिये कर्मकाण्ड और भक्ति ज़रूरी है?

जिज्ञासु — बहन जी ! बहुत-से लोगों का कहना है कि ज्ञान की प्राप्ति से पहले अन्त:करण की शुद्धि ज़रूरी है और उसके लिए मनुष्य को पहले कर्मकाण्ड और भक्ति करनी चाहिये। इनसे मनुष्य का अन्त:करण तैयार होता है। कर्मकाण्ड और भक्ति के बिना ही ज्ञान धारण करना तो ऐसा ही है जैसे कि धरणी को तैयार किये बिना उसमें बीज बो देना अथवा छोटी कक्षाओं की पढ़ाई पढ़ाने की बजाय किसी को शुरू से ही उच्च कक्षा में बैठा देना। जैसे आजकल बच्चे को पहले मान्टेसरी अथवा किंडर गार्टन (K.G.) में खिलौने अथवा स्थूल साधनों के प्रयोग से शिक्षा दी जाती है और फिर बच्चे का विकास हो जाने पर धीरे-धीरे उसे गणित और विज्ञान के मूल और सूक्ष्म (Abstract) तथ्यों की ओर ले जाया जाता है वैसे ही आध्यात्मिक पुरुषार्थ के लिए भी पहले पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन इत्यादि द्वारा कुछ आत्मिक विकास करने के बाद ही आध्यात्मिक ज्ञान में प्रवेश मिलना चाहिये। वर्ना शुरू से ही सब मनुष्यों की मानसिक भूमिका ज्ञान की धारणा और योग के अभ्यास के लिए अनुकूल नहीं होती। जैसे ऊंची मंज़िल पर पहुँचने के लिए मनुष्य को एक-एक सीढ़ी करके चढ़ना होता है और पहली सीढ़ी के बाद एकदम दसवीं सीढ़ी पर चढ़ना सम्भव नहीं होता वैसे ही एकदम पहले ही पहले ज्ञान देना उचित नहीं मालूम होता।

ब्रह्माकुमारी — आप कहते हैं कि कर्मकाण्ड और भक्ति से ही मनुष्य का अन्त:करण शुद्ध होता है परन्तु आप सोचिये कि एक-आध घण्टा यज्ञ अथवा भक्ति करने के बाद तो मनुष्य सारा दिन अज्ञानता-वश कोई-न-कोई विकर्म ही करता है। इस प्रकार, भला उसका अन्त:करण कैसे शुद्ध होगा? उसका अन्त:करण तो तभी शुद्ध होगा जब उसे यह ज्ञान होगा कि कौन-से कर्म करने हैं और कौन-से कर्म नहीं करने हैं और

अपनी बुरी प्रवृत्तियों को कैसे रोकना है तथा अपने संस्कारों को कैसे शुद्ध करना है। कर्म, अकर्म तथा विकर्म के ज्ञान के बिना तथा योग की शक्ति के बिना, एक-आध घण्टे के कर्मकाण्ड से शुद्धि होना तो असम्भव है। जैसे शरीर की शुद्धि जल द्वारा स्नान करने से होती है वैसे ही मन की शुद्धि अथवा बुद्धि की निर्मलता ज्ञान-स्नान से ही प्राप्त होती है — यह बात एक सार्वभौम सत्य है।

निःसन्देह भूमि में बीज बोने से पहले उसे तैयार करना ज़रूरी है। इसी प्रकार, ज्ञान का बीज भी तभी अंकुरित होता है जब मनुष्य की मानसिक भूमि तैयार हो। उसके लिए ब्रह्मचर्य, आहार-व्यवहार की सात्विकता, अन्नदोष और संगदोष से बचाव — इन नियमों का पालन ज़रूरी है। भक्ति-मार्ग पर चलने वाले भी कुछ व्रत और नियमों का पालन करते हैं न? यज्ञ तथा हवनादि कर्मकाण्डों के लिये भी तो विधि-विधान का पालन आवश्यक है न? इसी प्रकार, ज्ञान की धारणा के लिये भी कुछ नियमों का पालन आवश्यक है और ये नियम तो प्रायः लौकिक विद्योपार्जन के लिये भी पालन किये जाते हैं। अतः ज्ञान रूप बीज बोने लिए इन नियमों द्वारा मनुष्य की मानसिक भूमिका को तैयार किया जाता है।

मनुष्य को इस बात का भी ज्ञान दिया जाता है कि राग अथवा आसक्ति से क्या हानि होती है और मनुष्य को कैसे एक परमात्मा ही से लगन लगानी चाहिए। जब इस प्रकार के ज्ञान से मनुष्य का विवेक जागृत हो जाता है तो स्वतः ही उसमें वैराग्य आ जाता है और उपरोक्त नियमों का पालन होने लगता है। अतः ज्ञान स्वयं ही मनुष्य में उपरामवृत्ति एवं अनासक्ति उत्पन्न करता है, उसके लिये कर्मकाण्ड इत्यादि की आवश्यकता नहीं है।

एक-एक सीढ़ी पर चढ़ने की बात तो पुराने ज़माने की बात है। ज्ञान और योग तो ऐसी लिफ्ट है जिसके द्वारा मनुष्य सहज और शीघ्र ही ऊँची मंज़िल पर पहुँच जाता है। परन्तु हाँ, जिसकी जैसी बुद्धि हो उसके अनुसार ही ज्ञान देने की रफ्तार को अपनाया जाता है। यों एक सप्ताह में भी मनुष्य ज्ञान का सार ग्रहण कर सकता है और उसे विस्तार से धारण करने के लिए उसे ७ साल भी लग सकते हैं। परन्तु यद्यपि उसकी ये प्रगति होती तो ज्ञान से ही है। ज्ञान के बिना मनुष्य एक कक्षा से दूसरी कक्षा में कैसे जा सकता है? मान्टेसरी और किंडर गार्टन में भी तो शिक्षा ही दी जाती है, चाहे वह खेल-कूद के माध्यम से क्यों न दी जाती है! तो स्पष्ट है कि ज्ञान से ही मनुष्य की प्रगति होती है, आत्म-शुद्धि भी होती है और ईश्वरानुभूति भी।

क्या मुक्ति की प्राप्ति के लिए कर्म-संन्यास ज़रूरी है?

जिज्ञासु – बहन जी! यदि मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर ले और कर्मों का तथा घर-गृहस्थ का संन्यास न करे तब भी तो उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि लौकिक कर्म करते रहने से उसका कर्म-खाता तो जुटता ही चला जायेगा और इसके परिणाम-स्वरूप उसे फिर जन्म लेकर उसका फल भोगना पड़ेगा और फिर कर्म करने से यह सिलसिला तो चलता ही रहेगा। अत: मैं तो समझता हूँ कि संन्यास कर लेना ही ठीक है।

ब्रह्माकुमारी – पूर्व जन्मों के विकर्मों को दग्ध करने के लिए तो योग की आवश्यकता है न कि घरबार के संन्यास की और आगे के लिए दु:ख-जनक कर्मों के बन्धन से बचने के प्रयोज़न से अनासक्ति भाव से कर्म करना ज़रूरी है न कि कर्मों को छोड़ने की। जिस समाज से मनुष्य ने शिशु काल से सेवा ली है, अब उस समाज की सेवा करना तो मनुष्य का कर्त्तव्य है। जिस देश की जल-वायु, फल-फूल और कन्द-मूल द्वारा मनुष्य जीवन निर्वाह करता है, उस देश का ऋण चुकाना तो ऋण-मुक्ति के लिये आवश्यक ही है। पुनश्च, यह संसार तो एक कर्म-क्षेत्र है, प्रशिक्षण क्षेत्र भी और परीक्षा स्थल भी। यहाँ की परिस्थितियों में रहते हुए ही तो मनुष्य के लिए ज्ञान की सार्थकता है। ज्ञान का उद्देश्य ही अविकार स्थिति से इन परिस्थितियों का सामना करना है। घर-बार को छोड़कर कर्म-संन्यास कर देने से मनुष्य उत्तेजना, प्रलोभन, फुसलाहट, निराशाजनक और हानिकारक परिस्थितियों के बीच रहेगा ही नहीं तो वह ज्ञान के तारतम्य को ग्रहण कैसे करेगा और उनमें इन परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता कैसे आयेगी तथा उसमें दिव्य गुणों का उत्कर्ष, जिसे ही 'महानता' कहा जाता है कैसे होगा? अत: संन्यास घर-बार या कर्मों का नहीं बल्कि बुराइयों का एवं वासनाओं का करना है और बुराई क्या है तथा उसे छोड़ने के लिए विधि क्या है, इसके लिए तो फिर भी ज्ञान और योग की आवश्यकता है।

क्या कलियुग में केवल प्रभु का नाम ले लेना ही काफी है?

जिज्ञासु – बहन जी! ज्ञान की तो एक बहुत ऊँचे खजूर से उपमा दी गई है और उसके लिये तो कहा गया है – "चढ़ जाय तो चाखे प्रेम रस, गिर जाय तो चकनाचूर।" अत: हमारे शास्त्र यह कहते हैं कि – "कलियुग केवल नाम, आधार है" अर्थात् कलियुग में केवल हरि का नाम लेने से ही मनुष्य का बेड़ा पार हो जाता है। कलियुग में वातावरण ही ऐसा तमोगुणी और दूषित होता है कि न तो ज्ञान के लिऐ वांछित एकान्त, शान्त, शुद्ध स्थान मिलता है, न अवकाश, न आवश्यक सुविधाएँ। देखिए न,

आज कल के शहर के वातावरण में जहाँ कि आजीविका उपार्जनार्थ ही मनुष्य का सारा दिन निकल जाता है और कोलाहल मचा रहता है, वहाँ ज्ञान-ध्यान की बात भला कहाँ हो सकती है? आज के समाज में तो फैशन, सिनेमा, निन्दा और घृणा ही की हवा चल रही है, इसमें ज्ञान और योग का नाम-लेवा तो कोई विरला ही है। इसलिए मैं तो समझता हूँ कि प्रभु-नाम सिमरण ही पर्याप्त है।

ब्रह्माकुमारी – परन्तु, मनुष्य जिसका नाम लेता है उसका रूप भी उसके सामने आता ही है और जिसका रूप उसे याद हो आता है, उसके कर्त्तव्यों की स्मृति भी निश्चित रूप से उसके सामने आती है और उसके साथ उसका अपना क्या सम्बन्ध है? — इसकी स्मृति भी उसके मन में अंकित होती है। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो 'कृष्ण' का नाम तो लेता हो परन्तु उसके सामने 'कृष्ण' का रूप न आता हो, 'कृष्ण' के कर्तृत्व की स्मृति उसे न होती हो अथवा कृष्ण के साथ वह अपना कोई सम्बन्ध न मानता हो। ऐसा तो कोई हो ही नहीं सकता। तो बस हमारा कहना यह है कि देवों के भी देव परमात्मा का नाम क्या है, उस ज्योति-स्वरूप का भी रूप क्या है, उसका कर्त्तव्य क्या हैं तथा हम आत्माओं का उसके साथ सम्बन्ध क्या है? — इन बातों का सत्य परिचय मनुष्य को होना चाहिये। इस परिचय ही का नाम ज्ञान है और इस 'ज्ञान' पर आधारित परमात्मा की स्मृति का नाम योग है।

फिर, दूसरी बात यह कि वर्तमान समय कलियुग नहीं है, बल्कि कलियुग के अन्त और सतयुग के आदि का संधिकाल है जिसे 'पुरुषोत्तम संगमयुग' कहा जाता है जबकि परमपिता परमात्मा स्वयं अवतरित होकर वास्तविक गीता-ज्ञान और सहज राजयोग की शिक्षा देते हैं। अत: अब 'कलियुग केवल नाम आधार'— इस रट को छोड़कर इस पुरुषोत्तम संगमयुग में सहज ज्ञान-योग एवं राजयोग का अभ्यास करना चाहिये। कलियुग तो अब बीत चला है और अब सृष्टि को बदलने तथा उसे पवित्र बनाने के लिए स्वयं परमपिता परमात्मा का कर्त्तव्य चल रहा है। अब इन द्वारा दिये गये ज्ञान और योग से आप अपने वातावरण को भी बदल सकते हैं अथवा यदि आप ठीक पुरुषार्थ करें तो अप्रभावित रह सकते है।

क्या ज्ञान मनुष्य के अन्दर ही उपजता है?

जिज्ञासु – बहन जी! मेरी तो ऐसी धारणा है कि ज्ञान तो मनुष्य के अन्दर से ही प्रकट होता है। मैं तो इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मनुष्य के अन्दर से जो आत्मा की आवाज उठे उसके अनुसार उसको चलते रहना चाहिये। एक तो मनुष्य को बुरे कर्मों से

बचना चाहिए और दूसरे नित्य-प्रति सच्चे दिल से परमात्मा का धन्यवाद कर देना चाहिये। बस, घर बैठे यदि मनुष्य दो बातें कर लिया करे तो उसे न कुछ और करने की ज़रूरत है, न कहीं जाने की आवश्यकता बल्कि इसी से उसका बेड़ा पार हो जायेगा।

ब्रह्माकुमारी – यदि मनुष्य के अन्दर से स्वत: ही ज्ञान प्रकट हो सकता होता तो गीता में भगवान के ये महावाक्य क्यों लिखे होते कि – "धर्म-ग्लानि के समय आकर मैं ही वास्तविक ज्ञान और योग सिखाता हूँ।" यदि मनुष्य के अन्दर तीनों लोकों और तीनों कालों का सत्य ज्ञान होता यो वह इस मृत्यु-लोक में जन्म-मरण और सुख-दु:ख के चक्कर में क्यों फँसता और काम, क्रोधादि विकारों के जाल में क्यों जकड़ा जाता? मनुष्य तो अल्पज्ञ है। वह तो अपने भी आवागमन के चक्कर को नहीं जानता। तब उसमें ईश्वर का ज्ञान कैसे माना जाय? ईश्वर का परिचय तो स्वयं ईश्वर ही देता है जैसे कि इस संसार में पिता पुत्र को अपना परिचय देता है।

पुनश्च,बुरे कर्मों को छोड़ने की और ईश्वर का धन्यवाद करने की जो बात आप कहते हैं, उसके लिए तो बुराई-भलाई का ज्ञान और ईश्वर की पहचान ज़रूरी है तभी तो वह बुराई को छोड़ सकेगा और सही माने में ईश्वर का धन्यवाद कर सकेगा। अत: तब भी तो ज्ञान आवश्यक हुआ। इसके अतिरिक्त, पहले जो जन्म-जन्मान्तर मनुष्य से बुरे कर्म हो चुके हैं, उनके परिणामों को दग्ध करने के लिए और उनसे बने संस्कारों को शुद्ध करने के लिए तो योग की आवश्यकता है। अत: ईश्वरीय ज्ञान और योग के बिना बेड़ा पार नहीं हो सकता।

क्या किसी गुरु की शरण में जाने से मुक्ति मिल जायेगी?

जिज्ञासु – तो बहन जी! मैंने तो यही सोचा है कि मनुष्य अपने आपको किसी गुरु के हवाले कर दे। जो पहुँचा हुआ गुरु होगा वह जैसे हमें चलायेगा वैसे हम चल पड़ेंगे। अपने आप तो मनुष्य उलझन में पड़ जांता है कि क्या करूँ और क्या न करूँ? अत: मनमत को छोड़कर, गुरु हमें जिस रास्ते पर चलाये, हमें उस पर ही चल पड़ना चाहिये।

ब्रह्माकुमारी – गुरु कौन हैं? इसके बारे में भी तो ज्ञान चाहिए। वास्तविक ज्ञान और योग की शिक्षा देने वाला गुरु तो एक परमात्मा ही हैं। उनके ये महावाक्य हैं कि – "हे वत्स! मेरी ही शरण में आ। मैं ही तुझे सब पापों से मुक्त करूँगा।"

जिज्ञासु – बहन जी! जब हम किसी गुरु की शरण में जायेंगे तो वह हमें यह बतायेगा कि परमात्मा कौन है? तभी तो हम परमात्मा की शरण में जायेंगे और उनसे योग लगायेंगे।

ब्रह्माकुमारी – परन्तु मनुष्य, जो कि जन्म-मरण में आने वाले हैं, जिनमें से आप किसी को गुरु भी कहते हैं, वे तो अल्पज्ञ हैं, वे आत्मा के तीनों लोकों और तीनों कालों का रहस्य और परमात्मा का सत्य परिचय कैसे दे सकते हैं?

जिज्ञासु – परन्तु वे हम से तो आगे हैं। जहाँ तक उन्होंने समझा होगा अथवा जहाँ तक वे पहुँचे होंगे वहाँ तक का तो लाभ वे हमें दे सकेंगे।

ब्रह्माकुमारी – परन्तु ईश्वर का परिचय तो ईश्वर को स्वयं ही आकर देना पड़ता है! गुरु तो आपको भक्ति अथवा हठयोग आदि ही सिखा सकते हैं या वे तत्त्वयोग, जप-तप, पूजा-पाठ इत्यादि का ही विधि-विधान बता सकते हैं। परन्तु आत्मा के जन्म-जन्मान्तर की कहानी, सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का इतिहास, परमात्मा का यथा-सत्य परिचय, योग की यथार्थ विधि और सिद्धि, आगम-निगम का यथार्थ सार तो परमात्मा के सिवाय कोई भी नहीं बता सकता। तो अब जबकि साधुओं का भी परित्राण करने वाले, योगियों के भी उपास्य, मुनियों के लिए माननीय, ऋषियों के लिए अगम-अगोचर, साधुओं के लिए साध्य, देवों के भी देव, गुरुओं के लिए भी गन्तव्य परमात्मा स्वयं आकर मनुष्यों को ज्ञान और योग की राह दिखा रहे हैं और कि स्वयं गीता में दिये अपने वचनों को निभा रहे हैं, तब भी क्या आप क्लेश और कर्म-विपाक के बन्धन में तथा नस-नाड़ी और जन्म-मरण के बन्धन में जकड़े हुए तथा-कथित गुरुओं के चरणों में गिरेंगे? सूर्य के उदय होने पर भी स्वयं को अन्धेरी कोठरी में बन्द करके एक टिमटिमाता हुआ चिराग जलाकर स्वयं को सन्तुष्ट मानेंगे?

जिज्ञासु – नहीं, नहीं! मैं अब इस बात को समझने की चेष्टा करूँगा कि आप कैसे कहती हैं कि अब स्वयं परमात्मा ही ज्ञान और योग की शिक्षा दे रहे हैं। यदि मैं इस बात को समझ सका तब तो फिर निश्चय ही मैं परमात्मा द्वारा बताये गये मार्ग का अनुगामी बनूँगा।

पतंजलि द्वारा सिखाया गया संन्यास बनाम परमात्मा शिव द्वारा सिखाया गया संन्यास

पतंजलि ऋषि ने योग अथवा चित्त की वृत्तियों के निरोध के लिये अभ्यास और वैराग्य ही को मुख्य साधन बताया है। अब यह तो सर्व-विदित है कि वैराग्य ही त्याग अथवा संन्यास का मूल है। अत: पतंजलि ने जिस प्रकार के संन्यास के लिए आदेश-उपदेश दिया है, उसे जानने के लिए पहले यह देख लेना ज़रूरी है कि उसने वैराग्य की क्या परिभाषा की है अथवा वह वैराग्य किसे मानता है?

वैराग्य अथवा संन्यास क्या है?

पतंजलि ने कहा है कि — देखे और सुने हुए विषयों को भोगने के लिये मनुष्य के मन में जो तृष्णा होती है, उसे वश करने का नाम वैराग्य है।[१] व्याख्याकार कहते हैं कि शास्त्रों में स्वर्गादि के जिन सुखों का वर्णन किया है, पतंजलि उन सुखों से भी वैराग्य करने को कहता है क्योंकि वह सुख भी तो दिव्य दृष्टि के द्वारा देखे गये हैं या आप्त लोगों (ऋषियों) द्वारा सुने अथवा कहे गये हैं। गोया प्रकृति के पदार्थों द्वारा होने वाले सभी सुखों को पतंजलि काक-विष्ठा के समान मानता है। अत: पतंजलि ने इस मर्त्यलोक के सुखों के अतिरिक्त, स्वर्ग के सुखों को भी जो हेय माना है उससे संकेत मिलता है कि वह घर-बार को भी त्यागने के लिए कहता है क्योंकि घर में भी मनुष्य इसीलिए ही तो रहता है कि सुख-सुविधा के जुटाने में मित्र-सम्बन्धी सहयोगी होंगे। यदि मनुष्य को इन सुखों की ज़रा भी इच्छा न हो तब तो गृहस्थ जीवन व्यतीत करने का उसके लिये अन्य प्रयोजन ही नहीं प्रतीत होता।

यहाँ कोई कह सकता है कि — ''पतंजलि उन सुखों को भोगने के लिए निषेध नहीं करता जोकि स्वत: ही हमारे पास आ जाते हैं, वह तो सुखों के लिये **तृष्णा** का त्याग करने को कहता है।'' यदि ऐसा मान लिया जाय तो हम देखते हैं कि यह मान्यता पतंजलि के एक मुख्य कथन के अनुसार ठीक नहीं बैठती। कौनसा कथन? पतंजलि कहता है कि आत्मा (दृष्टा) का संसार (दृश्य) से जो संयोग है, यही दु:ख का कारण

---

१. दृष्टिनुश्राविक विषय वितृष्णस्ये वशीकार संज्ञा वैराग्यम्

है।१ साथ ही वह बताता है कि कृतार्थ अथवा योगी मनुष्य के लिए तो मानो संसार नष्ट हो गया हुआ होता है, अर्थात् उसका संसार से कोई प्रयोजन नहीं होता।२ इसके अतिरिक्त, वह यह भी कहता है कि मनुष्य के जो सांसारिक कर्म हैं, वे ही उसे जाति और आयु अर्थात् जन्म इत्यादि भोगने का कारण बनते हैं।३ अत: वह आत्मा का संसार से संयोग ही समाप्त करके कैवल्य (मुक्ति) प्राप्त करने की अनुमति देता है।४ इन सभी कथनों से मालूम होता है कि पतंजलि **निवृत्ति मार्ग** ही के अन्तर्गत अपना योग बताता है क्योंकि जो **प्रवृत्ति मार्ग** वाला अथवा घर-गृहस्थ के कर्त्तव्यों को निभाने की मनोवृत्ति वाला व्यक्ति होगा वह तो सांसारिक कर्म करेगा ही और उससे उसका अर्थात् कर्मों का खाता और कर्म-फल ५ दोनों ही होंगे परन्तु पतंजलि ऐसा नहीं चाहता।

भगवान् ने कौन-सा वैराग्य अथवा संन्यास सिखाया

यों तो भगवान् भी वैराग्य धारण करने के लिये कहते हैं, परन्तु उन द्वारा बताया गया वैराग्य भिन्न प्रकार का है। वे **'अनासक्ति योग'** के लिए निर्देश देते हैं। वे कहते हैं कि 'नष्टोमोहा:' बनो अथवा **'अनासक्त वृत्ति'** धारण करो। इसका भावार्थ यह हुआ कि घर-गृहस्थ के कर्त्तव्यों का पालन करो परन्तु प्रकृति के पदार्थों में तथा दैहिक सम्बन्धियों में मोह का नाश करो। लोक-संग्रहार्थ कर्म करने के लिए तो भगवान् विशेष तौर पर बल देते हैं। वह कहते हैं कि कर्म के बिना तो कोई रह ही नहीं सकता। अत: वे अज्ञान-जनित कर्म अथवा **मनो-विकार-युक्त कर्म का त्याग करने को कहते हैं।** इसीलिये 'अर्जुन' ने कर्मों का या घर-बार का संन्यास नहीं किया। उसने सामाजिक कर्मों को भी करना नहीं छोड़ा। परन्तु स्वयं पतंजलि का जीवन ऋषि-परम्परा के अनुसार था अर्थात् नगर एवं समाज से दूर का जीवन था। अर्जुन सारे गीता-ज्ञान को सुनने के बाद अपना जो अनुभव सुनाता है, उसमें भी वह यही कहता है कि – "अब मैं नष्टोमोहा: हो गया हूँ अब मुझे अपने स्वरूप की, कर्त्तव्य की तथा आप (भगवान्) के स्वरूप की **स्मृति का लाभ** हुआ है, अब मेरे सभी **सन्देह नष्ट** हो गये हैं, आपकी **कृपा से हर्ष** प्राप्त हुआ है; अब आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा।" अत: वह तो अब कर्त्तव्य करने के लिये उद्यत हो गया है, न कि कर्त्तव्य छोडने के लिये। हाँ, पहले वह मन-मत, शास्त्र-मत या चित्त की अज्ञान-जनित,

---

१. दृष्टादृश्यो : संयोगो हेय हेतु – साधनपाद १७,
२. कृतार्थं प्रति नष्टमपि – साधन० २२
३. सति मूले तत्विपाको जात्यायुर्भोग: (साधन० १३)
४. संयोगाभि हानं तद्धशे: कैवल्यं – साधन० २५
५. कर्माशय और कर्म-विपाक

वृत्तियों के वशीभूत होकर कर्म करता था परन्तु अब वह कहता है कि – "आप (भगवान) जैसे कहेंगे, मैं वही कर्म करूँगा।" परन्तु वह कर्म त्यागने का विचार नहीं बताता क्योंकि उसमें तो पहले मिथ्या ज्ञान के कारण अकर्मण्यता आ गयी थी; उसी को दूर करने के लिये तो भगवान् ने उसे ज्ञान दिया।

दूसरी बात यह है कि भगवान् तो कहते हैं – कि-तू अमुक कर्म कर, उससे तुझे 'यश-लाभ होगा', चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करेगा 'देवताओं का भी राजा बनेगा' अथवा 'श्रीमानों के यहाँ जन्म लेगा' इत्यादि। स्पष्ट है कि भगवान् जो योग सिखाते हैं **प्रवृत्ति मार्ग** के अन्तर्गत है। यह सृष्टि अनादि काल से प्रवृत्ति मार्गानुसार है, यह कर्म-प्रधान है, कर्म तो यहाँ होता ही आया है। परन्तु आवश्यकता है – प्रवृत्ति अथवा कर्म को निर्विकार या शुद्ध बनाने की। उसके लिये ही भगवान् योग सिखाते हैं। उस ही का फल मुक्ति है, दूसरा स्वर्गिक सुख अथवा 'अपवर्ग'। वह भी एक उच्च प्राप्ति है, प्रभु की देन है, योग ही का एक श्रेष्ठ फल है, उसे हेय मानना भूल है। अत: सब प्रकार के कर्मों को छोड़ने के लिए कहना मनुष्य के स्वभाव के, सृष्टि-नियम के तथा भगवान् की आज्ञा के विपरीत है। इसलिए, इस अंश में पतंजलिकृत योग कृत्रिमता पर आधारित है; यह मनुष्य को समाज-सेवा से हटाता है और समाजवाद के वर्तमान युग में लोगों को व्यक्तिवाद (Individualism) और अपने ही कैवल्य (मुक्ति) के स्वार्थ वाला मालूम होता है। भारतवासियों की इस प्रकार की मनोवृत्ति को देखकर ही तो विदेशी लोग भारत के जीवन-दर्शन पर यह आक्षेप लगाते हैं कि यह अकर्मण्यता सिखाता है और समाज की भौतिक उन्नति में तथा संगठन में बाधक है। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि गीता के भगवान् द्वारा सिखाया गया योग मनुष्य को कर्त्तव्य परायण, सक्रिय (Active), स्फूर्तिशील (Active) और आशावादी (Optimist) बनाता है। हाँ, योग वासिष्ट तथा पतंजलिकृत योग द्वारा व्यक्ति-वाद, भाग्यवाद, कर्म से उदासीनता अथवा भौतिक उन्नति के प्रति निश्चेष्ट भाव का सूत्रपात हुआ कहा जा सकता है।

क्या यह सही है कि पतंजलि ने कर्म-सन्यास की शिक्षा दी?

पतंजलि ने पाँच यम बताये हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इनको देख कर कोई कह सकता है कि पतंजलि ने सामाजिक जीवन को तिलान्जली देने के लिए नहीं कहा, क्योंकि अहिंसा, सत्य इत्यादि व्रतों का तो सामाजिक जीवन में ही पालन करने के लिये कहा जा सकता है, वनों अथवा गुफाओं में वास करने वालों के लिये तो इनका उपदेश देना निरर्थक-सा जान पड़ता है। यदि कोई नागरिक अथवा ग्रामीण

जीवन व्यतीत न करता होगा बल्कि वन-उपवन में रहता होगा जो कि निर्जन हों तो वहाँ वह बोलेगा ही नहीं तो 'सत्य' का प्रश्न कैसे पैदा होगा; यह दूसरों के साथ व्यवहार करने का वहाँ कोई अवसर ही नहीं है, तब अस्तेय अर्थात् दूसरों की वस्तुओं की चोरी का अथवा उनके अधिकार हड़पने का सवाल कैसे उठेगा? अतः पतंजलि द्वारा इन यमों के बारे में किये उल्लेख को पढ़ कर कोई कह सकता है कि पतंजलि ने जो योग सिखाया है वह भी सांसारिक कर्त्तव्यों को करने वाले मनुष्यों के लिये है।

कुछ हद तक यह बात ठीक लगती है परन्तु पतंजलि ने 'अपरिग्रह', अर्थात् वस्तुएँ, धन-सम्पत्ति अथवा भोग्य सामग्री इक्ट्ठी न करने का जो उपदेश दिया है, उससे मालूम होता है कि पतंजलि घर-बार के संन्यास को आवश्यक समझता है। आजकल व्याख्याकार पतंजलि द्वारा बताये गये पाँच यमों में से अपरिग्रह (संग्रह न करना) रूप जो यम है, उस की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि पतंजलि का यह भाव नहीं है कि हम धन-सम्पत्ति या भोग्य पदार्थों का संग्रह न करें बल्कि उसका यह भाव है कि आवश्यकता से अधिक संग्रह न करें। वास्तव में यह व्याख्या तो खींच-तानकर के की गयी लगती है क्योंकि शब्द अपरिग्रह, जो कि परिग्रह के विपरीतार्थक है, का अर्थ तो सीधा-सादा है, उसमें अपनी ओर से कुछ बातें जोड़ने की क्या जरूरत है? यदि 'अपरिग्रह' शब्द का हम यह अर्थ लेते हैं कि 'आवश्यकता के अनुसार धन-सम्पत्ति को एकत्रित किया जाय' तब तो ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा इत्यादि का भी सीधा-सादा अर्थ न करके, **'आवश्यकता के अनुसार'**, परिस्थिति के अनुसार, रुचि के अनुसार – ऐसे वाक्यांश उनके अर्थ के साथ भी जोड़ने पड़ेंगे, केवल परिग्रह शब्द के साथ ही उन्हें क्यों जोड़ा जाय? यदि आवश्यकता, रुचि अथवा परिस्थिति के अनुसार ही इन यमों का पालन करना है तब तो ये 'यम' अथवा 'महाव्रत' ही न रहे। पतंजलि ने तो इन्हें शाश्वत और सार्वभौम व्रत बताया है; उसने परिस्थिति,आवश्यकता इत्यादि शब्द इन यमों के साथ नहीं जोड़े। यदि किसी को सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करनी है, अथवा चित्त की वृत्तियों का निरोध करना है तो उसे इन यमों का अवश्य ही पालन करना होगा। अतः 'अपरिग्रह'नामक जो यम उसने बताया है, उससे तो ऐसा ही मानना पड़ेगा कि पतंजलि निवृत्ति-परक योग बताता है।

एकाग्रता के साधन

हरेक मनुष्य चाहता तो है कि योग द्वारा वह भी अपने जीवन में परम शान्ति एवं आनन्द की अनुभूति करे तथा आत्मा और परमात्मा के मिलन का जो अवर्णनीय सुख है, उसमें रमण करे परन्तु जब योगाभ्यास में उसका मन एकाग्र नहीं हो पाता तो वह निराश होकर योगाभ्यास को छोड़ देता है। निस्संदेह एकाग्रता योगाभ्यास का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है परन्तु हमें मालूम होना चाहिए कि मन को एकाग्रता की अवस्था में स्थित करने वाले कई सहायक तत्व होते हैं;यदि हमारी मानसिक भूमि में उनका समावेश हो तो मन का एकाग्र होना कठिन नहीं होता। प्रस्तुत लेख में हम उन तत्वों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे जो सहज ही मन को किसी विचार या विषय पर स्थिर कर देते हैं।

महानता, विचित्रता अथवा चमत्कार

सभी जानते हैं कि संसार में कोई भी अद्‌भुत व्यक्ति, विचित्र वस्तु या अनोखा वृत्तान्त हो तो उसकी ओर मनुष्य का मन स्वतः आकर्षित होता है और उसे देखने में उसका मन ऐसा लग जाता है कि उसे दूसरी बात की सुध-बुध ही नहीं रहती। कोई ठिगना मनुष्य हो, कोई बहुत ही लम्बे कद का व्यक्ति हो, कोई बहुत ऊँचा भवन हो,कोई मदारी विचित्र नाटक दिखा रहा हो, आकाश में कोई अजीब रोशनी दिखाई दे, कोई अनोखी ध्वनि सुनाई दे, कोई अत्यन्त सुन्दर सज्जन हो, किसी के वस्त्र आम रिवाज से बिल्कुल ही भिन्न हों, इन सभी की ओर मन स्वतः ही आकर्षित हो जाता है। ऐसे व्यक्तियों, वस्तुओं तथा वृत्तान्तों के प्रति मनुष्य के मन में स्वतः ही रुचि जागृत हो जाती है और वह ध्यानस्थ-सा (Attentive; absorbed) हो जाता है तथा उसके मत-पट पर उसका चित्र भी चिर-स्मरणीय छाप छोड़ जाता है।

अतः यदि हम इस बात को समझें कि परमात्मा भी अद्‌भुत है, विचित्र है, महान् से भी महान् है और उसके कर्त्तव्य एक अर्थ में सर्वाधिक चमत्कारी भी हैं तो हमें उसकी स्मृति भी बारम्बार अपनी ओर आकर्षित करेगी और हम ध्यानस्थ अर्थात् एकाग्र एवं तल्लीन हो सकेंगे। परमाणु से भी सूक्ष्म ज्योति-बिन्दु रूप परमात्मा में सारी सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त का ज्ञान होना—क्या यह सर्वोत्कृष्ट आद्‌भुत्य नहीं है? यदि कोई

कलाकार एक चावल पर गीता का एक श्लोक लिख देता है तो उस चावल को भी लोग बहुत कौतुक से देखते हैं। तो क्या यह कम कौतुक की बात है कि इतने छोटे-से ज्योति-बिन्दु में तीनों लोकों और तीनों कालों का ज्ञान है? इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान मन्त्री, चर्चिल (Churchil) ने द्वितीय विश्व-युद्ध के संकट से अपने देश को पार करने में अद्भुत प्रतिभा प्रदर्शित की तो सारे संसार का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। परन्तु परमात्मा सारे संसार को महति संकट से उबार कर ढाई सहस्त्र वर्ष के लिए पूर्ण पवित्रता, सुख एवं शान्ति से सरसा देता है, यह क्या कम चमत्कार है?

लोग जब लखनऊ में जाते हैं तो वहाँ का इमाम बाड़ा देखने जाते हैं क्योंकि उसकी बनावट एक ऐसे विचित्र भूल-भुल्लियाँ के रूप में है कि उसके भीतर जाकर मनुष्य के लिए बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। परन्तु परमात्मा तो संगम युग में अवतरित होकर संसार की सभी मनुष्यात्माओं को माया की भूल-भुल्लिया से निकालने का सर्व-महान् कर्त्तव्य करते हैं। जो लोग आगरा जाते हैं, वे ताजमहल अवश्य देखते हैं क्योंकि वह बहुत सुन्दर है,परन्तु जब कोई मरता है तो उसके मित्र-सम्बन्धी तो उसके लिये यही प्रार्थना करते हैं कि वह स्वर्ग सिधारे जिसका यह भाव है कि वे स्वर्ग को ताजमहल से भी सुन्दर तथा सुखद मानते हैं, वरना वे यह प्रार्थना क्यों न करते कि— ''हे प्रभु, यह व्यक्ति आगरा में ताजमहल के निकट कहीं जन्म ले।'' तो जो स्वर्ग का रचयिता है, जो मनुष्यात्माओं को स्वर्गिक राज्य-भाग्य देता है, क्या वह कम चमत्कारी हुआ?

मनुष्य गाड़ी में जा रहा हो तो खिड़की से यदि पहाड़ या सागर दिखाई दे जाय तो वह विशेष ध्यान से उसकी ओर देखने लगता है। परन्तु परमात्मा तो कलियुगी पतित एवं दु:खी सृष्टि को पूर्णत: पावन एवं सुखी बना देते हैं जो कि पहाड़ को अंगुली पर उठाने से भी ज्यादा महत्वशाली कार्य है और ''वह जो ज्ञान का, शान्ति का, प्रेम का सागर भी है।'' तो क्या उसकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाना चाहिए?

'कोई जादूगर' आम की गुठली से दस मिनट में आम पैदा कर दे तो भी सभी उसके चमत्कार की ओर ही दत्त-चित्त रहते हैं परन्तु परमात्मा तो ईश्वरीय ज्ञान एवं योग से आसुरी स्वभाव वाले मनुष्यों को देवता बना देते हैं!

संक्षेप में कहने का भाव यह है कि यदि इस प्रकार हम परमात्मा के अद्भुत वैचित्र्य तथा 'चमत्कारों' पर ध्यान दें अथवा उनका मनन-चिन्तन करें तो कोई कारण नहीं है कि हमारा मन उनकी स्मृति में लवलीन न हो जाय।

२. चिन्तन

सभी जानते हैं कि मनुष्य के सामने जब कोई समस्या हो तो उसका मन स्वत: ही उस ओर खिंच जाता है। समस्या जितनी विकट हो अथवा परिस्थिति जितनी दु:साध्य हो उतना ही उसका चित्त उधर लग जाता है। साधारण भाषा में इसे ही 'चिन्ता' कहा जाता है। चिन्ता लगाई नहीं जाती वह तो लग जाती है। स्थिति को गम्भीर समझने से स्वत: ही मन उधर ही का चिन्तन करता है। इस प्रकार का दु:खद चिन्तन 'चिन्ता' कहलाता है। मान लीजिये कि किसी व्यक्ति को काफी बड़ा ऋण चुकाना है। उसके लिये अवधि भी निश्चित है। अत: उसे चिन्ता लग जाती है और उसके लिये वह पुरुषार्थ करता है।

ठीक इसी प्रकार, यदि मनुष्य को यह समझ आ जाय कि उसके सिर पर जन्म-जन्मान्तर के विकर्मों का बोझ है और इसी जन्म में ही उसे इसको समाप्त करना है और इसके लिये केवल परमपिता परमात्मा की स्मृति ही एकमात्र उपाय है तो वह प्रभु का चिन्तन करने लगता है। भोगी तो चिन्ता करता है परन्तु योगी 'चिन्तन' करता है। चिन्ता में दु:ख और चिन्तन में सुख है। चिन्ता वाला स्वयं को निराश्रय मानता है, चिन्तन वाला प्रभु-आश्रित होने से निश्चिन्त रहता है अत: यह 'शुभ-चिन्ता' कि — "मुझे इसी जीवन में मानव से देवता बनना है और जन्म-जन्मान्तर के संस्कार बदलकर पावन बनना है" — यह मनुष्य को प्रभु-चिन्तन में स्थिर कर देती है और उसके हृदय को ऐसा प्रफुल्लित बना देती है कि वह सांसारिक समस्याओं को सहज ही हल कर लेता है। अलबेलापन मनुष्य के मन की वृत्तियों को बिखेरता है और शुभ-चिन्तन (यह सतोगुणी चिन्ता (anspicious anxiety) मनुष्य के मन को एक स्थान पर बान्धती है।

३. प्रेम अथवा राग

मनुष्य को जिससे प्रेम लग जाता है, उसका ही वह हो जाता है। उसे स्वप्न भी उसी के आते हैं। प्रेम की लगी बुझती नहीं। जिससे मनुष्य को घृणा हो जाय उसका ध्यान भी उसका मन स्वत: ही करता रहता है। जिससे मनुष्य का ऐसा प्यार हो जाय कि उसके बिना वह रह ही न सके, उसे ही 'राग' कहते हैं। अत: यदि मनुष्य को अपने तमोगुणी संस्कारों से घृणा हो जाय तो उससे छुड़ाने वाले प्रभु की प्रीति उसके चित्त को प्रभु-स्मृति में अवश्य ही समाहित कर देगी। इस कलयुगी, आसुरी सम्पदा वाली मायावी सृष्टि से वैराग्य होगा तो प्रभु से अनुराग हो ही जायगा और ऐसा होने पर मनुष्य अवश्य ही प्रभु के राग अलापेगा। प्रभु से प्रीति तथा इस मृत-प्राय: संसार से वैराग्य, उपरामता अथवा 'घृणा-परक' वृत्ति तभी बनेगी जब मनुष्य के मन में यह ज्ञान बैठेगा कि इस संसार की

क्या दुर्गति हुई है और अब सद्‌गति करने वाला प्रभु कितना करुणामय, कल्याणप्रद वरद तथा सलोना है। तब वह प्रभु पर न्योछावर हुए बिना नहीं रह सकेगा। उसका यह समर्पण-भाव, उसकी यह अनन्य प्रीति, यह मानसिक लगाव उसे ऐसा एकाग्र कर देगा कि वह उस रस में ही डूब जायगा।

४. प्रभु-मिलन की प्यास

भूख और प्यास मनुष्य के मन की ऐसी अवस्था कर देते हैं कि वे और सभी कुछ भुलाकर उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। कहावत है कि भूख वाले को और कुछ सूझता ही नहीं यहाँ तक कि जब किसी भूखे व्यक्ति से जब पूछा गया कि दो और दो मिलाकर कुल कितने होते हैं तो वह बोला – "चार रोटियाँ!" उसने 'चार' ही नहीं कहा, परन्तु 'रोटियाँ' शब्द भी साथ जोड़ दिया। ठीक इसी प्रकार, यदि मनुष्य को ज्ञान की भी सख्त भूख हो, प्रभु-मिलन की भी तीव्र प्यास हो तो उसका मन भी ईश्वरीय स्मृति में एकाग्र हो जायगा। जैसे मछली जल के बिना नहीं रह सकती, पतंगा ज्योति में जले बिना नहीं रह सकता, वैसे ही प्रभु-मिलन की प्यास वाले, ज्ञान की क्षुधा वाले मनुष्य को भी ईश्वरीय स्मृति में स्थिति के बिना कुछ नहीं सूझेगा।

५. सफ़लता अथवा प्राप्ति

हम देखते हैं कि यदि किसी मनुष्य को लॉटरी (Lottery) मिल जाय तो उसका मन उधर ही लग जाता है। बच्चों का जब परीक्षा-फल घोषित होने का दिन होता है तो उनका ध्यान सफलता या असफलता की ओर लग जाता है। क्रिकेट का खेल हो रहा होता है तो सभी खिलाड़ियों का ध्यान इस ओर होता है कि हम जीत जायें। दर्शकों में भी यह दिलचस्पी बनी रहती है कि उनकी टीम (Team) विजयी हो। ठीक इसी प्रकार, यदि मनुष्य को यह याद रहे कि मुझे पाँच विकारों पर विजय प्राप्त करनी है और कि यदि मैं योग लगाऊँगा तो मुझे इतनी अतुल प्राप्ति होगी कि जिसमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं होगी तो कोई कारण नहीं कि उसका मन न लगे। रेलवे स्टेशन पर रात्रि के बारह बजे भी चाय बेचने वाले – "चाय गरम, चाय गरम" – ऐसी आवाज़ लगाते हैं। क्या उन्हें नींद नहीं आती? नींद तो हरेक को प्यारी है परन्तु प्राप्ति के कारण तथा रोटी न मिलने से जो भूख होती है उससे भी बचने के लिये वे रात्रि को नींद हराम करके भी चाय की केतली उठाकर चाय बेचने आते हैं। अत: यदि मनुष्य को यह याद रहे कि मुझे ईश्वरीय स्मृति द्वारा जन्म-जन्मान्तर के लिये स्वर्ग का अटल, अखण्ड, निर्विघ्न, अति

सुखकारी राज्य-भाग्य मिलेगा तो उसकी याद का तो ताँता लग ही जायगा।

६. यम का भय और महाविनाश का खतरा

जब किसी देश पर आक्रमण हो रहा होता है तो लोगों का ध्यान खतरे की ओर होता है। जब किसी मनुष्य के सामने से शेर आ जाय तो भय के मारे वह सब कुछ भूल जाता है, उसके सामने तो केवल शेर ही होता है; तत्क्षण उसे और कुछ दिखाई नहीं देता। ठीक इसी प्रकार, यदि मनुष्य को यह खयाल रहे कि यदि मैं अपने पूर्व जन्मों में किये विकर्मों को योगाग्नि से दग्ध नहीं करूँगा तो धर्मराज पुरी में दण्ड भोगना पड़ेगा और कि निकट भविष्य में कलियुगी सृष्टि का महा विनाश आने ही वाला है जिसके लिये ही ये ऐटम और हाइड्रोजन बम बन चुके हैं तो उसके मन की चन्चलता भी रुक जायेगी और उसका मन प्रभु प्रीति में एकाग्र हो जायेगा। इस से हमारा यह भाव नहीं है कि हमें डर होना चाहिये परन्तु हमारा यंह तात्पर्य है कि हमें अपने बचाव के लिये वो पुरुषार्थ करना ही चाहिये।

७. विकारों के रोग से निवृत्ति

रोग भी मनुष्य का ध्यान अपनी ओर खिंचवाता है। दाँत में दर्द हो तो वह मन को अपनी ओर खींचता है, सिर में पीड़ा हो तो वह भी ध्यान को अपनी ओर खींचती है। उस अवस्था में मुनष्य को खाना-पीना भी अच्छा नहीं लगता, बस, वह चाहता है कि किसी प्रकार उसका दर्द दूर हो। उसका ध्यान तो डाक्टर की ओर ही लग जाता है या वह दवाई लेने का पुरुषार्थ करने में तत्पर हो जाता है। इसी तरह, यदि मनुष्य को यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाये कि जन्म-जन्मान्तर से पाँच विकारों का महारोग मुझे लगा हुआ है; उसी के परिणामस्वरूप संसार की सभी पीड़ा, सभी दु:ख है, तो वह उस से छूटने के लिये जो ज्ञान रूप परमौषधि है, उसे लेने में तत्पर हो जायगा और परमपिता परमात्मा रूप डाक्टर की ओर उसका मन लग जायगा। वह ईश्वरीय स्मृतिरूप इन्जैक्शन लेने की तीव्र अभिलाषा वाला होगा। ऐसी अवस्था में उसे मन की एकाग्रता का लाभ तो होगा ही होगा।

८. निश्चय

जब मनुष्य का किसी सिद्धान्त अथवा विचारधारा में दृढ़ निश्चय (Conviction) हो जाता है, तभी वह उसके लिये जी-जान लड़ा देता है। वीयतनाम में यही तो हुआ। निश्चय मनुष्य के मन को समेटता है, संशय उसे चहुँ ओर खदेड़ता है। इसलिये ही

उक्ति भी है कि निश्चयात्मा की विजय होती है। अतः यदि मनुष्य को यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि परमपिता परमात्मा की स्मृति ही संसार सागर तैर कर पार होने के लिये एक मात्र नाव है और कि अब आने वाले महाविनाश में प्रायः सब-कुछ भस्मीभूत तो होना ही है, और यह कि मैं तो एक आत्मा हूँ, देह तो पंच महाभूत का है, तो उसका मन प्रभु पर अवश्य ही केन्द्रित हो जायगा। संसार में पुत्र पिता से अठखेलियाँ करता है, पिता अपने पुत्र से हुज्जत करता है, पत्नि पति को अपना जीवन दे देती है — ये सभी कुछ निश्चय ही के आधार पर तो हो रहा है। जबकि निश्चय के आधार पर एक मनुष्य अपना सब-कुछ दूसरे के हवाले कर देता है तो क्या जो हमारा सर्व-सम्बन्धी, परमात्मा है, उसपर निश्चय कर के हम इस एक जन्म के शेष रहे हुए समय के लिये भी स्वयं को उसके हवाले नहीं कर सकते?

९. महिमा और दुःख दारिद्रय

जब किसी मनुष्य की महिमा हो रही होती है तब उसका मन बड़ा प्रसन्न होता है, गोया महिमा सुनने में मस्त हो जाता है। कोई व्यक्ति दुःखी या दरिद्र होता है तो उसका ध्यान अपनी दयनीय अवस्था पर बारम्बार जाता है।। अब यदि मनुष्य को यह याद रहे कि — ''मैं तो पहले सतयुगी, पावन, स्वर्गिक सृष्टि में देवता था'' और दूसरी ओर यह भी समझ में आ जाय कि उसकी तुलना में तो आज मेरी दयनीय अवस्था है, गोया मैं श्री नारायण की अवस्था से गिर कर दरिद्र नारायण की अवस्था में हूँ तो भी उसका चित्त अब पुनः नर से नारायण बनाने वाले परमपिता में एकाग्र हो जायगा।

१०. आशा तथा भूल

मनुष्य की जिस परिणाम की ओर आशा लगी हो उधर भी उसका मन लग जाता है और उससे जो भूल हो जाय उसकी ओर भी बारबार उसका ध्यान जाता है। क्योंकि जितनी बड़ी भूल हुई हो उतना ही उधर ध्यान जाता है। पुनश्च, जितनी बड़ी आशा हो उतना ही मन उधर टिका रहता है। ठीक इसी तरह, यदि हम परमपिता परमात्मा द्वारा ही उच्च पद की आशा रखते हुए यह भी खयाल रक्खें कि स्वयं को देही (आत्मा) की बजाय 'देह' मानने की महान-भूल हम जन्म-जन्मान्तर करते आये हैं जिस के परिणाम हमें भुगतने पड़ रहे हैं, तब भी हमारी स्थिति अब देही में स्थित होने की तथा ईश्वरीय स्मृति की हो जायगी।

११. स्वाद

आँख को सौन्दर्य में, कान को अच्छे स्वर में, स्पर्शेन्द्रिय को नरम चीज में 'स्वाद' आता है। मन को गप-शप में 'स्वाद' आता है। इन्द्रियों के जो आकर्षण मन को अपनी ओर खींच कर वहीं कुछ देर के लिये टिका देते हैं तथा बारंबार फिर आकर्षित करते हैं – उनकी चर्चा हम पहले भी कर आये हैं। अत: इसकी चर्चा यहाँ पुन: नहीं करते। अब यदि बुद्धि को ईश्वरीय स्मृति के आनन्द का एक बार स्वाद बैठ जाय तो जैसे पान वाले को पान की याद, चाय वाले को चाय का चस्का अपनी ओर बुलाता है, प्रभु की स्मृति का सबसे अनोखा आनन्द भी मनुष्य के चित्त को अपने में लगा देगा।

१२. निद्रा

निद्रा में तो चित्त की वृत्तियों का निरोध होता ही है। जब मनुष्य का मन इधर-उधर दौड़ता है, तब तो उसे नींद आती ही नहीं। नींद तभी आती है जब मन सभी ओर से हट जाता है। निद्रा में देह से आत्मा किन्चित न्यारी भी हुई होती है। वास्तव में निद्रा करने का तरीका ही यह है कि देह तथा देह के सारे व्यापार तथा व्यवहार को भुला दिया जाय। ठीक इसी प्रकार योगाभ्यास में भी देह को भुलाना ही ईश्वरीय स्मृति में स्थित होने की सब से बड़ी युक्ति है। जो लोग योग में मन एकाग्र नही कर पाते उनकी वृत्ति के विस्तार का मुख्य कारण ही यह है कि वे 'देह' के भान में टिके होते हैं। हरेक प्रकार की एकाग्रता में देह को भूलना ज़रूरी है। एकाग्र हुए मनुष्य को देह की सुध-बुध भूल जाती है और देह को भूलने वाले का मन एकाग्र हो जाता है। अत: परमपिता परमात्मा की स्मृति के लिये 'आत्मा निश्चय' (देह-विस्मृति) ही सबसे बड़ा उपाय है और आत्मा-स्थिति (Soul-Consciousness) के लिये ईश्वरीय याद ही एक मात्र उपाय है।

इनके अतिरिक्त भी एकाग्रता में सहायक कई तत्त्व हैं परन्तु यदि हम इतनों को भी जीवन में धारण करेंगे तो हमें एकाग्रता का अवश्य ही लाभ होगा।

योग, विज्ञान और मनोविज्ञान

आज लोग विज्ञान के चमत्कारों से बहुत प्रभावित हैं। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं ने पिछले लगभग डेढ़ सौ वर्षों में वह अभूतपूर्व प्रगति की है जो पिछले लगभग दो हज़ार वर्षों में भी नहीं हुई। विज्ञान के इस तीव्र वेगी विकास ने मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधा के अनगिनत साधन दिये हैं। यदि इन सब सुखों की एक लम्बी सूची तैयार की जाय और उन सुखों को कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत लिखा जाय तो मुख्य रूप से वे शीर्षक ये होंगे — (१) स्वास्थ्य और स्वच्छता में वृद्धि करने अथवा रोगों की चिकित्सा और आयुष्य में वृद्धि करने सम्बन्धी (२) यातायात और कार्य को शीघ्र तथा सुविधा पूर्वक सम्पन्न करने सम्बन्धी (३) उत्पादन में वृद्धि करने, वस्तुओं की जिन्स अथवा क्वालिटी (Quality) को ऊंचा बनाने तथा उनमें परिवर्तन लाने सम्बन्धी (४) मनुष्य को मनोरंजन, सज-धज, बनाव-श्रृंगार, रूप-सौन्दर्य तथा क्षण-भंगुर खुशी देने सम्बन्धी। (५) सूचंना-प्रसार, प्रचार, समाचार के लेन-देन तथा विचारों के आदान-प्रदान और प्रकाशन सम्बन्धी (६) आविष्कार, खोज, अनुसन्धान तथा जानकारी के कार्य को आगे बढ़ाने सम्बन्धी।

इन सभी आविष्कारों के फलस्वरूप का संसार

विज्ञान ने उपरोक्त छः मुख्य शीर्षकों के लिए जो सामग्री जुटाई है, उसके पीछे करोड़ों मनुष्यों का कई जीवनों का पुरुषार्थ है और उस पर इतना धन तथा समय (Man hours) लगा है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है । परन्तु उसके बावजूद भी हम देखते हैं कि संसार की हालत कोई ज्यादा सुधरी नहीं है, मनुष्य के व्यवहार में तो बिल्कुल परिवर्तन नहीं हुआ है बल्कि पतन ही हुआ है और नये-नये प्रकार के रोग, कष्ट, दुःख अथवा अशान्ति के कारण हमारे सामने आये हैं। लोगों के जीवन में कृत्रिमता आई है, अनाचार और अत्याचार में भी वृद्धि ही हुई है, मनुष्य का स्वभाव अधिक कुटिल तथा दानवी बना है और संसार में वैमनस्य, दरिद्रता, बेरोज़गारी, दुःख आदि में कमी नहीं हुई।

एक अन्य अद्भुत विज्ञान और उसके फल

परन्तु एक विज्ञान ऐसा भी है जिसके द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए एक फूटी कौड़ी भी खर्च नहीं करनी पड़ती। उनके लिए सैंकड़ों वर्ष पुरुषार्थ करने की भी ज़रूरत नहीं। वह विज्ञान अकेला ही उपरोक्त छहों प्रकार के सुख प्राप्त करने के योग्य हमें बना देता है। उस विज्ञान द्वारा सृष्टि की रूप-रेखा, आचार परम्परा, व्यवहार-विचार, सब-कुछ बदल जाता है। तब यहाँ कोई भी दु:खदायक व्यक्ति नहीं रहता, न कोई कष्टकारक रीति-नीति ही रहती है। उस विज्ञान का नाम 'योग' है। उस विज्ञान द्वारा मनुष्य को निरोगी काया मिलती है और वह अमर देव पद को प्राप्त कर लेता है। उसे यातायात के लिए पुष्पक आदि विमान मिलते हैं और उस विज्ञान के द्वारा स्थापित हुए लोक में अथवा उस द्वारा लाये गए नये युग में सब वस्तुओं की उत्पत्ति इतनी मात्रा में होती है और उनकी जिन्स (जाति) इतनी उत्तम होती है कि मनुष्य को किसी पदार्थ की कमी नहीं रहती और उस लोक को 'सुखधाम' अथवा 'स्वर्ग' कहा जाता है। उस द्वारा मनुष्य को कुदरती तौर पर पूर्ण सौन्दर्य प्राप्त होता है और मनोरंजन के अनगिनत एवं दिव्य साधन उपलब्ध होते हैं। कहने का भाव यह है कि विज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाले उपरोक्त छहों प्रकार का विकास योग रूप विज्ञान द्वारा अति सहज, दिव्य, सम्पूर्ण रूप में प्राप्त होता है।

योग द्वारा उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति

पुनश्च, विज्ञान मनुष्य को सृष्टि के जिन रहस्यों का बोध कराता है और समाचार प्राप्त करने तथा प्रसारित करने के जो यन्त्र अथवा साधन प्रदान करता है, उससे कहीं अधिक ज्ञान (मनुष्य-सम्बन्धी तथा सृष्टि-सम्बन्धी लाभप्रद जानकारी) योग रूपी विज्ञान द्वारा मनुष्य को प्राप्त होती है। योग मनुष्य को सूर्य और तारागण के पार के लोकों का भी सहज ही ज्ञान कराता है तथा संसार या समाज के आगे आने वाली परिस्थितियों का भी अग्रिम साक्षात्कार कराता है। वैज्ञानिक आकाश में उपग्रह अथवा सेटेलाईट (Satelites) स्थापित करके उन द्वारा सूचना-प्रसार करते तथा आने वाली परिस्थितियों को पहले से जानने के योग्य होते हैं, परन्तु योगी त्रिकालदर्शी एवं त्रैलोकज्ञ परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करके सब-कुछ जान लेते हैं। वैज्ञानिक तीव्र-वेगी राकेटों द्वारा जहाँ पहुँच पाते हैं, योगी दिव्य प्रज्ञा,१ अथवा ऋतम्भरा बुद्धि२ द्वारा वहाँ सहज ही पहुँच जाते हैं। वैज्ञानिकों के पास टेलिविज़न, टेलिस्कोप, वायरलेस इत्यादि साधन हैं, योगी के पास दिव्य दृष्टि इससे बहुत उत्तम और सूक्ष्म रूप से कार्य करती है।

पुनश्च, हम देखते हैं कि विज्ञान के जो बहुत ही महत्वपूर्ण, अद्भुत एवं

लाभकारी अविष्कार हैं, उनमें (१) भट्ठी (Furnace), (२) इलैक्ट्रो मैग्नेटिक सिस्टम (विद्युत-चुम्बकीय साधन, Electro magnetic system) और उस द्वारा (३) रिमोट कन्ट्रोल (Remote Control) तथा (४) परमाणु और उससे भी सूक्ष्म विद्युत-कणों का तथा शक्ति के अन्यान्य रूपों (ध्वनि, चुम्बकीय शक्ति इत्यादि) का ज्ञान या तत्सम्बन्धी आविष्कार शामिल हैं। ठीक इसी प्रकार का अध्ययन-क्षेत्र अथवा अनुभव-क्षेत्र योग रूपी विज्ञान का भी है। योग रूपी विज्ञान परमाणु से भी अधिक सूक्ष्म जो 'आत्मा' है उसका अनुभव एवं बोध कराता है। वह एक ऐसी तेज़ भट्ठी तैयार करता है जिसमें कि आत्मा के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार पिघल कर अथवा गलकर सात्विक हो जाते हैं, आत्मा शुद्ध हो जाती है। यह विज्ञान परमात्मिक शक्ति उपलब्ध कराता है, परमात्मा, जो कि प्रकाश (Light) और शक्ति (Might) का पुंज है, उसकी अनुभूति कराता है। जैसे शरीर-विज्ञान शरीर-रचना (Anatomy of the body) का परिचय देता है वैसे ही योग-विज्ञान मन-बुद्धि-संस्कार रूप आत्मिक योग्यताओं का ज्ञान कराता है।

योग एक उत्तम मनोविज्ञान भी है

हम ऊपर बता आए हैं कि विज्ञान द्वारा इतने अविष्कार होने पर भी मनुष्य के मन में शान्ति नहीं है बल्कि आज मानसिक रोगों तथा दु:खों में वृद्धि ही हुई है। मनुष्य क्षण में ही अपने मानसिक संतुलन को खो बैठता है, उत्तेजित हो जाता है, घबरा जाता है, परेशान हो उठता है, सटपटा जाता है या उलझा हुआ-सा मालूम पड़ता है। अत: इन उलझनों, मानसिक ग्रंथियों (Mental complexes) उत्तेजित अवस्थाओं (Tensions), मानसिक असन्तुलन (Mental imbalance), आवेग-सम्बन्धी अशान्ति (Emotional disturbance) या व्यवहार-सम्बन्धी त्रुटियों (Behaviour defects) इत्यादि को ठीक करने के लिए मनोविज्ञान और उसकी एक विशिष्ट शाखा – मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) तथा मानसिक रोगों के इलाज सम्बन्धी विद्या (Psychiatry) इत्यादि ने विकास पाया है। परन्तु क्या इससे मनुष्य का जीवन सुखी हुआ है तथा उसका स्वभाव एवं व्यवहार सामान्य (Normal) हुए अथवा सुधरे हैं? मानव के चरित्र या मानसिक सन्तुलन में तो हम कोई प्रगति नहीं देखते हैं।

इसके विपरीत योग रूपी विज्ञान न केवल हमें मन, बुद्धि, संस्कार स्वभाव, व्यवहार, चरित्र इत्यादि से सम्बन्धित अद्भुत ज्ञान देता है बल्कि मनुष्य की प्रवृत्तियों (Instincts) का मार्गान्तरीकरण (Redirection) तथा शुद्धिकरण (Sublimation) करके उसके व्यवहार एवं आचार को सुधारता है और उसके संस्कारों को सतोप्रधान

बनाकर उसे देव-तुल्य बनाता है। योग रूप विज्ञान मनुष्य के आवेगों (Emotions) को नियन्त्रित करता है तथा मनुष्य के विचारों को व्यवस्थित एवं सुलझा हुआ बनाता है: इस विज्ञान द्वारा मनुष्य की मानसिक एकाग्रता (Power of Concentration) भी बढ़ती है और उसे एक स्थाई शान्ति का अनुभव रहता है तथा एक दिव्य खुशी, जिसे 'नारायणी नशा' कहा जाता है, सदा महसूस होता हैं। उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाने के फलस्वरूप, लोगों के साथ उसका मन-मुटाव, उनके प्रति द्वेष या ईर्ष्या, क्रोध या नाराज़गी उसके मन में नहीं उत्पन्न होते, उसके मन में आवेगों के ज्वार-भाटे नहीं उठते, मानसिक ज्वर पैदा नहीं होते, बल्कि उसे स्थित-प्रज्ञ अवस्था, एकरस अवस्था अथवा आनन्द-विभोर अवस्था प्राप्त होती है:

सर्व प्राप्तियों का मूल

इस प्रकार, हम देखते हैं कि रसायन विज्ञान (Chemistry) भौतिक विज्ञान (Physics), वनस्पति विज्ञान (Botany), शरीर विज्ञान (Physiology), चिकित्सा विज्ञान, इत्यादि सभी विज्ञानों द्वारा मनुष्य के जीवन को उन्नत, विकसित, तथा सुख एवं सुविधापूर्वक बनाने के जो प्रयास हैं, उन सबके प्रयोजन एवं प्रयास इस योग रूप विज्ञान द्वारा पूरे होते हैं। कहा जाता है कि रसायन विज्ञान का प्रारम्भ इस विषय को लेकर हुआ कि अमृत का आविष्कार किया जाय जिससे कि मनुष्य अमर हो जाय और एक ऐसे साधन (पारस) की खोज की जाय जिससे लोहा सोने में परिवर्तित किया जा सके। इतने परिश्रम के बाद भी आज तक तो ऐसा हो नहीं सका। परन्तु योग रूप विज्ञान द्वारा यह एक दृष्टिकोण से होना सम्भव है। योग द्वारा मनुष्य अमरत्व को अर्थात् देव पद को प्राप्त होता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि वह शरीर नहीं छोड़ता बल्कि वह देव-तुल्य पवित्र बनने के बाद दु:खपर्वूक शरीर नहीं छोड़ता बल्कि पूरी आयु भोग कर अन्त में शरीर को वैसे ही छोड़ देता है जैसे सर्प अपनी पुरानी खाल को उतार फैंकता है। इसी प्रकार, योग द्वारा कलियुग, जिसे कि 'आयरन एज' (लोह युग) भी कहा जाता है, बदल कर सत-युग, जिसे कि 'गोल्डन एज' (स्वर्ण युग) भी कहा जाता है, बन जाता है। इस मुहावरे में योग विज्ञान लोहे को सोने में बदलने अर्थात् तमोगुणी मनुष्यों को सतोप्रधान बनाने के कार्य में पारसमणि का कार्य करता है।

योग के जितने लाभ गिनाएँ उतने थोड़े हैं। कोई भी तो ऐसा सुख नहीं है जो योग रूप विज्ञान के फलस्वरूप प्राप्त न होता हो। एक इस गुह्य विद्या को अथवा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान को हाथ कर लेने से मनुष्य को सर्व प्राप्तियाँ हो जाती हैं; उसकी और कोई भी

इच्छा नहीं रहती। परन्तु कितने अफसोस की बात है कि स्वयं भारत जहाँ पर ही अवतरित होकर परमपिता परमात्मा इस गुह्यतम् विद्या की शिक्षा देते हैं, के लोग भी आज इससे विमुख हैं। यदि आज भी भारत के लोग इसे अपनायें तो भारत सभी देशों का मुकुटमणि बन सकता है और यहाँ से दुःख, दरिद्रता, आसुरी प्रवृत्तियाँ तथा प्राकृतिक प्रकोप सभी दूर हो सकते हैं क्योंकि इससे मनुष्य में बहुत ही सामाजिक गुणों, शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक योग्यताओं तथा आत्मिक महानताओं का पूर्ण विकास होता है।

योग

एक विज्ञान ऐसा भी है जिसके द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए एक फूटी कौड़ी भी खर्च नहीं करनी पड़ती। उनके लिए सैंकड़ों वर्ष पुरुषार्थ करने की भी ज़रूरत नहीं। वह विज्ञान अकेला ही उपरोक्त छहों प्रकार के सुख प्राप्त करने के योग्य हमें बना देता है। उस विज्ञान द्वारा सृष्टि की रूप-रेखा, आचार परम्परा, व्यवहार-विचार, सब-कुछ बदल जाता है। तब यहाँ कोई भी दुःखदायक व्यक्ति नहीं रहता, न कोई कष्टकारक रीति-नीति ही रहती है। उस विज्ञान का नाम 'योग' है। उस विज्ञान द्वारा मनुष्य को निरोगी काया मिलती है और वह अमर देव पद को प्राप्त कर लेता है। ❑

आज की सर्व समस्याओं का एकमात्र हल – सहज समाधि

आज संसार में यत्र-तत्र-सर्वत्र हलचल और उलथ-पुथल मची हुई है। सारे वातावरण में कोलाहल और अशान्ति फैली हुई है। मनुष्य के सामने वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, देशीय और अन्तर्राष्ट्रीय – इतनी समस्यायें हैं और आजकल का व्यवहार तथा व्यापार, रीति तथा नीति, इतने पेचीदे तथा कुटिलतापूर्ण हो गये हैं कि मनुष्य सारा दिन तिलमिलाता रहता, बौखलाता रहता, खिंचा-खिंचा-सा रहता है अथवा असन्तोष, अतृप्ति एवं अशान्ति का अनुभव करता है। यदि दो घड़ी के लिए वह किन्हीं बाह्य साधनों को जुटा कर हर्षोल्लास का वातावरण बना भी पाता है तो वह एक बड़े रेगिस्तान में नख्लिस्तान के खजूर के पेड़ की तरह नगण्य ही होता है। सच्ची खुशी तो मनुष्य की चालीस वर्ष की औसत आयु में शायद चालीस दिन भी नहीं होती क्योंकि मनुष्य का अधिक जीवन तो किसी-न-किसी खटके, लटके अथवा सटके में ही गुज़र जाता है। मनुष्य के अड़ोस-पड़ोस में या कुटुम्ब-परिवार में भी कोई-न-कोई ऐसी वार्ता होती ही रहती है और पारस्परिक सम्बन्धों में भी जटिलता, शिथिलता और विषमता पैदा हुई रहती है कि मनुष्य के मन में तनाव बना ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के पास ऐसा कौन-सा साधन है जिसके द्वारा वह जब चाहे सच्चे सुख का साँस ले सके और सच्ची शान्ति पा कर आत्मा-तृप्ति कर सके।

उस साधन की विशेषताएँ

आज के मनुष्य के पास इतना समय नहीं है कि वह घण्टों अपने काम-काज को छोड़कर, घर के एक कोने में बैठे हुए, शान्ति की खोज का कोई साधन अपना सके। इस मशीन-युग में उसकी ऐसी भी प्रवृत्ति नहीं है कि वह किन्हीं कष्ट-साध्य तरीकों को अपनाये। पुनश्च, आज मानव का मस्तिष्क इतना उन्नत हो चुका है कि वह अन्धश्रद्धा, कर्मकाण्ड तथा 'गुरुडम' को भी पसन्द नहीं करता। अत: आज के वातावरण एवं परिस्थितियों के अनुसार तथा मानव के स्वभाव के अनुकूल कौन-सा ऐसा सहज, सुलभ और विवेक-संगत तरीका हो सकता है जिसके द्वारा कि मनुष्य की शान्ति की पिपासा तृप्त हो सके?

योग ही एकमात्र ऐसा साधन है

अमेरिका तथा अन्यान्य समृद्धिशाली देशों के लोग, जोकि भौतिक उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं और भौतिकवाद द्वारा पैदा हुई समस्याओं से बहुत ही पीड़ित हैं, भारत के योग की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। मानसिक तनाव को कम करने तथा आराम की नींद सोने के लिये एल.एस.डी. (L.S.D.) तथा नींद लाने वाली गोलियाँ (Sleeping Pills) तथा अन्यान्य वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक विधि-विधानों का आश्रय लेने के बाद भी जब उन्हें सुख का सार नहीं मिलता और शान्ति की शमा उनके हाथ नहीं लगती तब वे भारत के सुविख्यात योग की ओर बढ़ते हैं।

नि:सन्देह, योग ही ऐसा एकमात्र साधन है जिस द्वारा मनुष्य शाश्वत सुख, सम्पूर्ण शान्ति तथा ईश्वरीय आनन्द रूप परम सौभाग्य को प्राप्त कर सकता है। परन्तु आज जिस योग-प्रणाली का प्रचार भारत के लोग विदेश में जाकर करते हैं, क्या वह योग प्रणाली आज की परिस्थितियों में प्रयुक्त हो सकती है और इस लेख में बतायी गई आज के मानव की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है? आज के लोग योग से प्राय: 'पातन्जल योग' ही समझते हैं? अत: हम विशेष रूप से उसी प्रणाली पर विचार करते हुए देखेंगे कि यह उन आवश्यकताओं को पूर्ण करता है; इससे सहज समाधि का लाभ हो सकता है? हम यह भी देखेंगे कि गीता के भगवान् ने जो योग सिखाया था और अब पुन: सिखा रहे हैं उस योग से यह योग किन बातों में समता रखता है और किन बातों में इसका उससे विरोध है।

योग पातंजल के आठ अंग

पतन्जलि ने योग-दर्शन में योग के आठ अंग बताये हैं — (१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान (८) समाधि।

यह एक निरपवाद बात है कि ईश्वरानुभूति के लिये यम और नियम परम आवश्यक हैं। पतंजलि ने पाँच यम और पाँच नियम गिनाये हैं? (i) अहिंसा (ii) सत्य (iii) अस्तेय (चोरी न करना, दूसरे का अधिकार न हड़पना) (iv) ब्रह्मचर्य और (v) अपरिग्रह (अधिक संग्रह न करना) — ये पाँच यम हैं। गीता के भगवान् ने जो योग सिखाया है उसके अनुसार भी ये पाँच यम योगाभ्यासी के लिये परम आवश्यक हैं। 'काम' विकार का त्याग ही ब्रह्मचर्य, लोभ और मोह का त्याग अपरिग्रह, क्रोध का त्याग अहिंसा, भय और लोकलाज का त्याग एवं वचन की पवित्रता ही सत्य है और ये पाँच विकार न होने से अस्तेय का गुण स्वत: ही आ जाता है। परन्तु इस विषय में विशेष

ज्ञातव्य बात यह है कि गीता के भगवान् परमपिता परमात्मा शिव ने 'काम' को ही सबसे बड़ी हिंसा माना है क्योंकि 'काम' विकार आत्मा का घात करने वाला शत्रु है, इससे ही क्रोध की उत्पत्ति होती है और सर्वनाश होता है। इसके अतिरिक्त अपने शिक्षक अथवा सद्‌गुरु परमात्मा से अपनी बुराइयों को छिपाने का यत्न सबसे बड़ी चोरी का यत्न है और आत्मा तथा परमात्मा के स्वरूप के विषय में मिथ्या मत प्रकट करना सबसे बड़ा असत्य है तथा संन्यासी होकर धन इकट्ठा करने को सबसे बड़ा 'परिग्रह' घोषित किया है।

यह सार्वभौम व्रत है, इनके पालन न करने से ही परिवार तथा समाज में अशान्ति और कलह-क्लेश है। अतः इन व्रतों का पालन तो ज़रूरी है और इनके लिये शारीरिक कष्ट भी नहीं झेलना पड़ता, न इन पर खर्च होता है और न अलग से समय देना पड़ता है। शौच (शुचि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान — पतंजलि ने ये पाँच नियम बताये हैं। गीता के भगवान परमपिता शिव ने भी इन पाँचों पर पतंज़लि से भी अधिक बल दिया है। उन्होंने शरीर, वस्त्र, स्थान और आहार की पवित्रता के अतिरिक्त, मन-वचन-कर्म की शुद्धि के लिये भी बहुत बल दिया है तथा निन्दा, अपमान, आलोचना, आक्षेप इत्यादि को सहन करना प्रलोभनों तथा फुसलाहट के सामने होने पर भी स्थिर, अडोल और कमल फूल के समान अलिप्त रहना, निद्राजीत बनना, अपकारी का भी उपकार करने में लगे रहना — यह महान् तप उन्होंने हमें बताया है। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन ईश्वरीय महावाक्य अथवा ज्ञान-मुरली सुनना, ज्ञान-विचार को मंथन करना, एकान्त में बैठ कर आत्म-चिन्तन करना, अपने चौरासी जन्मों के चक्र पर विचार और पुनर्विचार करना, ऐसा उत्तम स्वाध्याय अथवा नित्य ईश्वरीय ज्ञान-कक्षा में अध्ययन करना — यह सर्वोत्तम नियम उन्होंने हमें बताया है। सादा जीवन, सेवा, 'माँगने से मरना भला', 'इच्छा मात्रं अविद्या' और 'यह संसार एक बना-बनाया अनादि ड्रामा है और हरेक का इसमें अपना-अपना पार्ट है' — यह अनमोल सूत्र समझाकर उन्होंने सन्तोष का प्रैक्टिकल पाठ हमें पढ़ाया है। परमपिता परमात्मा में अटूट निश्चय रखना, उनकी निरन्तर स्मृति में रहना, उन-ही से पिता-पुत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ना, उन्हीं की आज्ञाओं का पालन करना, उन्हीं के शरणागत होना — इस रूप में उन्होंने ईश्वर-प्रणिधान की सर्वोच्च शिक्षा हमें दी है। ये नियम भी शाश्वत और सार्वभौम हैं। इनमें कोई हठ-क्रिया या शारीरिक कष्ट की भी बात नहीं है। परन्तु परमपिता परमात्मा शिव ने जो नियम बताये हैं, वे अधिक सूक्ष्म, अलौकिक एवं दिव्य हैं।

आसन और प्राणायाम

पतंजलि ने योग के लिये प्राणायाम और आसन का भी उल्लेख किया है। आज

लोग इन्हीं पर ज्यादा ज़ोर देते मालूम होते हैं। क्योंकि उन्हें ईश्वर का पूर्ण परिचय नहीं है और वे उसमें अपने मन को एकाग्र करना नहीं जानते, इसलिये वे प्राणायाम द्वारा मन को स्थिर करने का साधन अपनाते हैं। अब वास्तव में यह दोनों 'अंग' योग के लिये अनावश्यक हैं क्योंकि 'योग' का अर्थ है -- आत्मा का परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ना। जैसे लौकिक नाते में पिता के साथ सम्बन्ध अथवा स्नेह-पूर्ण नाता जोड़ने के लिये पुत्र को आसन अथवा प्राणायाम की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही आत्मा का नाता परमात्मा से जोड़ने के लिये इनकी आवश्यकता नहीं है।

पतंजलि मुनि ने भी इस बात पर बल नहीं दिया है। उसने योग दर्शन में आसन के सम्बन्ध में लिखा है — 'स्थिरं सुखमासनम्', अर्थात् सुखपूर्वक रीति से स्थिर बैठने का नाम 'आसन' है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो मनुष्य जिस रीति से भी सुविधा-पूर्वक बैठ सके, उसे वैसे ही बैठना चाहिये। परन्तु आज सुविधा अथवा सुखपूर्वक बैठने की बात तो एक ओर रही, योग के नाम से हल आसन, मयूर आसन, धनुष आसन इत्यादि जिनमें कि मनुष्य के शरीर की आकृति हल, मोर, धनुष इत्यादि के जैसी हो जाती है और बैठने की मुद्रा रहती ही नहीं, लोग उन्हें योगासन समझ कर उनका भी अभ्यास करते हैं। पतंजलि ने तो यह भी लिखा है कि शारीरिक चेष्टाओं को छोड़ कर परमात्मा की स्मृति में स्थित होने से स्वतः ही मनुष्य का आसन स्थिर हो जाता है। परन्तु आज लोग परमात्मा की स्मृति की बजाय आसन का अभ्यास करने में ही लगे रहते हैं!

आज लोग ऐसा मानते हैं कि जब मनुष्य तीन घण्टे छत्तीस मिनट तक एक मुद्रा में हिले-जुले बिना बैठा रह सके तभी उसका आसन सिद्ध समझना चाहिये। अब किंचित् सोचने की बात है कि आजकल के ज़माने में, जबकि हरेक व्यक्ति बहुत व्यस्त है, उसे आजीविका-उपार्जन से ही अवकाश नहीं मिलता तब इस प्रकार की हठ-क्रियाएं करने की उससे क्या आशा की जा सकती है? इसके अतिरिक्त, योग तो ईश्वर से लगन लगाने और उसमें मग्न होने का नाम है, उसमें आसन की क्या आवश्यकता है? जैसे पत्नी अपने पति के प्यार में तल्लीन हो जाती है, अथवा प्रेमिका अपने प्रेमी के प्यार में घुल जाती है, उन्हें किसी आसन की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वर-प्रेम में भी आसन लगाना तो एक कृत्रिम क्रिया, अस्वाभाविक अभ्यास अथवा हठ-साधना है। फिर, स्त्रियाँ, वृद्ध या भारी मनुष्य तथा रोगी व्यक्ति इत्यादि आसनों का सुखपूर्वक अभ्यास नहीं कर सकते।

इसकी अपेक्षा परमपिता परमात्मा शिव जो योग सिखाते हैं, उसमें सहज ही समाधि प्राप्त होती है, उसमें आसन इत्यादि की आवश्यकता नहीं रहती। उस योग का

अभ्यास तो मनुष्य चलते-फिरते, उठते-बैठते, कार्य-व्यापार करते हुए भी कर सकता है, क्योंकि वह बुद्धि योग है, अर्थात् बुद्धि को ही ईश्वरीय स्मृति में तन्मय करना होता है। पतंजलि ने आसन का लाभ बताते हुए लिखा है कि 'इसके अभ्यास से मनुष्य को गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास इत्यादि द्वन्द्व नहीं सताते।' अब देखा जाय तो आज भूखा-प्यासा रहने तथा गर्मी-सर्दी को हठ-पूर्वक सहने का ज़माना भी नहीं है। पहले तो लोग निर्जन स्थानों पर तथा वनों या गुफ़ाओं में जाकर योग का अभ्यास करते थे, वहाँ भूख-प्यास या सर्दी इत्यादि से आघात पहुँचने की आशंका बनी रहती होगी, परन्तु आज न तो बड़े शहरों के आसपास वन ही रहे हैं न अब योग-अभ्यास के लिये मानव वन में जाना पसन्द करता है न किसी के पास इतना समय है, न मानव की ऐसी प्रवृत्ति ही रही है कि वह निर्जन स्थान पर जाकर चिरकाल तक रहे। अत: अब ऐसे विधि-विधान न केवल अनावश्यक हैं, बल्कि ये मनुष्य को योग से दूर हटाते हैं।

इसी प्रकार पतंजलि ने प्राणायाम को भी योग का एक अंग माना है। उसने लिखा है कि 'प्राणायाम से मनुष्यात्मा पर अज्ञान का जो पर्दा है, उसका नाश हो जाता है और मन की चंचलता मिट जाती है।' सोचने की बात है कि श्वास-प्रश्वास की गति पर नियत्रंण करने से भला अज्ञान कैसे मिट सकता है? अज्ञानान्धकार को मिटाने के लिए तो ज्ञान-प्रकाश चाहिये और मन की चंचलता को मिटाने के लिए दिव्य गुणों की धारणा तथा निर्विकार जीवन की आवश्यकता है, क्योंकि इन मनोविकारों ही के कारण मन चंचल है। अत: यदि इन वृत्तियों का निरोध किया जाय तो मन स्वत: ही एकाग्र हो जायगा। इन विकारों का बहिष्कार तो उन द्वारा होने वाली हानि को समझने से तथा इनसे छूटने की युक्तियाँ जानने से, अर्थात् ज्ञान द्वारा ही हो सकेगा।

इन्द्रिय-निग्रह अथवा प्रत्याहार

पतंजलि ने प्रत्याहार अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह को भी योग का आवश्यक अंग माना है। यह भी एक निर्विवाद बात है, परन्तु पतंजलि ने इन्द्रिय-जय के लिए कोई सहज साधन नहीं बताया। किन्तु गीता के भगवान् परमपिता परमात्मा शिव ने आत्माभिमान (Soul-consciousness) रूप युक्ति को प्रशस्त किया है। स्वयं को 'आत्मा' निश्चय करने तथा आत्मा की स्मृति में स्थित होने से मनुष्य का देह-भान (Body-consciousness) मिट जाता है और उससे वह इन्द्रिय-विजय के प्रयोजन में सफ़ल होता है तथा उसके मन की चंचलता भी मिट जाती है।

धारणा और ध्यान

पतंजलि मुनि ने योग के आठ अंगों में धारणा और ध्यान को भी मुख्य अंग माना है। मन को किसी देश विशेष में बांधने के अभ्यास को उसने 'धारणा' माना है तथा इष्ट पर मन की एकाग्रता को 'ध्यान' बताया है। परन्तु उसने किसी भी स्थान पर दृष्टि को एकाग्र करने तथा किसी भी वस्तु पर मन को स्थिर करने की छुट्टी दी है, अर्थात् परमपिता परमात्मा ही के स्वरूप की स्मृति में मन को समाहित करने पर बल नहीं दिया है। अत: आज लोग हृदय-कमल पर, नाभि-चक्र पर या नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि को स्थिर करते या मन को एकाग्र करते हैं। स्पष्ट है कि यह तो प्रकृति पर मन को एकाग्र करना हुआ। पतंजलि ने 'ईश्वर' के स्वरूप का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है; इसलिए लोग अपने मन को यथार्थ लक्ष्य पर एकाग्र नहीं करते। अब परमपिता परमात्मा शिव ने हमें परमपिता परमात्मा का रूप (ज्योतिर्बिन्दु) तथा देश (परमधाम अथवा ब्रह्मलोक) भी बताया है। इसलिए मन को एकाग्र करना सहज है। यह सहज समाधि सब समस्याओं का हल है!

परमपिता परमात्मा शिव ने 'काम' को ही
सबसे बड़ी हिंसा माना है क्योंकि
'काम' विकार आत्मा का घात
करने वाला शत्रु है, इससे
ही क्रोध की उत्पत्ति
होती है और
सर्वनाश
होता
है।

प्रजापिता ब्रह्माकुमारी ईश्वरीय विश्वविद्यालय, द्वारा प्रकाशित अन्य आध्यात्मिक हिन्दी साहित्य की सूची

क्र.सं.	हिन्दी साहित्य
१.	महाभारत और गीता सार
२.	एक अद्भुत जीवन कहानी भाग १
३.	एक अद्भुत जीवन कहानी भाग २
४.	योग की विधि और सिद्धि
५.	ब्रह्मचर्य का पालन और काम विकार पर विजय
६.	साप्ताहिक पाठ्यक्रम
७.	दिव्य गुणों का गुलदस्ता
८.	नैतिक शिक्षा और चरित्र निर्माण
९.	कमल पुष्प सम पवित्र जीवन
१०.	ज्ञान योग पथ प्रदर्शनी
११	शिक्षा में नई दिशा
१२.	बच्चों के बाबा
१३.	श्रीमद् भगवद्गीता का सत्य सार
१४.	शिव और शिवरात्री
१५.	बाल नैतिक शिक्षा
१६.	अच्छे बच्चे
१७.	सात्विक योगयुक्त जीवन
१८.	धर्म, कर्म और विज्ञान
१९.	परमात्मा का अवतरण क्यों?
२०.	मौत के बाद और पहले क्या?

क्र.सं.	हिन्दी साहित्य
२१.	आत्मा के तीनों कालों की कहानी
२२.	परमात्मा कहाँ हैं?
२३.	आत्मा परमात्मा की पहचान
२४.	सहज राजयोग, कर्मयोग निर्विकल्प समाधि
२५.	ज्ञान के अनमोल रत्न
२६.	कर्मों की गुह्य गति
२७.	संस्कार परिवर्तन और व्यवहार शुद्धि
२८.	राजयोग प्रवचन माला
२९.	जीवन में सुख-शान्ति की प्राप्ति
३०.	घर गृहस्थ जीवन में सहजयोग
३१.	जीवन हीरेतुल्य जीवन कैसे बने?
३२.	सच्चा योगी जीवन
३३.	सत्य नारायण की सच्ची कथा
३४.	सच्ची मन की शान्ति
३५.	विकारों पर विजय
३६.	परमात्मा का परिचय
३७.	व्यसन मुक्ति
३८.	सर्व के सहयोग से सुखमय संसार
३९.	विज्ञान, आध्यात्मिकता एवं पर्यावरण
४०.	शान्ति प्रदर्शनी
४१.	ज्ञान के अनमोल मोती-२
४२.	धन कमाओं परन्तु कैसे?